भारत के प्रमुख बौद्ध तीर्थ-स्थल

डॉ॰ प्रिय सेन सिंह

भारत के प्रमुख बौद्ध तीर्थ-स्थल

डॉ० प्रिय सेन सिंह

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007
दूरभाष : 2520287

प्रथम संस्करण : 1993

ISBN : 81-85133-76-X

मुल्य : रू० 450.00

Printed by:-
GARG OFFSET WORKS
B-76, Phase-II,
Industrial Area, Naraina
NEW DELHI-110 028.

मेरे पूज्य अग्रज स्वर्गीय

श्री मित्रसेन सिंह

की

पुण्य स्मृति में

सादर समर्पित

प्राक्कथन

मैने पत्र-पत्रिकाओं में लेख, रेडियो-दूरदर्शन वार्ताओं के संबंध में बौद्ध धर्म से संबंधित विविध विषयों पर अनेक लेख व वार्तायें लिखी हैं । इस सिलसिले में अनेक पुस्तकों के अवलोकन का अवसर मिला । उनसे सामग्री व संदर्भ इकट्ठा किये और उनका लेखों, वार्ताओं में उपयोग भी किया । इस संबंध में मुझे सबसे आश्चर्य की बात यह लगी कि आज तक बौद्ध तीर्थ-स्थलों पर कोई भी हिन्दी में पुस्तक उपलब्ध नहीं है । पुरातत्व विभाग ने कुछ छोटी-छोटी पुस्तिकायें छाप रखी हैं किन्तु इन सबसे हिन्दी पाठकों का कार्य नहीं चलता । उनके ज्ञान व कोतुहल की तृप्ति इन पुस्तिकाओं से नहीं होती । ऐसी स्थिति में ये विचार आया कि ऐसी पुस्तक तैयार करनी चाहिए जो पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक व सूचनापरक, सैलानियों व तीर्थयात्रियों के लिए गाईड-बुक तथा छात्रों के लिए सहायक ग्रंथ का कार्य करे । इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर मैंने यह पुस्तक तैयार की है । इस प्रकार इस एक ही पुस्तक से कई प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं ।

इस पुस्तक को तैयार करने में मैंने दो विधियों (तरीकों) का उपयोग किया है । एक तो पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं इत्यादि से सहायता ली है जैसा कि ऊपर निर्देश हो चुका है और दूसरे स्वयं इन स्थानों की यात्रा करके दर्शनीय स्थलों का अलग-अलग निरीक्षण, अन्वेक्षण इत्यादि करके अपनी राय व्यक्त की है । इस प्रकार मेरा प्रयास अंग्रेजी में तैयार की गयी अन्य पुस्तकों से भिन्न सिद्ध होगा ।

पुस्तक में सरल और सुबोध भाषा का प्रयोग किया गया है । अप्रचलित व जबड़ा-तोड़ संस्कृत पदों से बचने का प्रयास किया गया है । इस संबंध में उद्देश्य यही रहा है कि मैं सरलता से अपने प्रिय पाठकों तक पहुँच सकूँ और मेरी बात वे उसी अर्थ में ग्रहण कर सकें जिस अर्थ में मैंने उन्हें व्यक्त किया है । इस संबंध में संस्कृत, अरबी, फारसी के शब्दों का जहां कहीं भी प्रयोग हुआ है उन्हें प्रचलित उच्चारण के रूप में ही प्रयोग किया गया है । इस प्रकार कहीं-कहीं संस्कृत, अरबी, फारसी की वर्तनी से मेरी वर्तनी में भेद भी हो गया है ।

हिन्दी के आज के लेखन को ध्यान में रखते हुये और प्राचीन लिपिकर परंपरा का अनुसरण करते हुये वर्तनी के विषय में निम्नलिखित सावधानियां बरती गई हैं—

1- संस्कृत के व्यंजनान्त पदों को स्वरान्त रखा गया है जैसे भगवान, महान, बलवान, आदि (सं०— भगवान्, महान्, बलवान् आदि) अर्थात् संस्कृत के हलन्त चिन्ह का प्रयोग नहीं किया गया है ।

2- संस्कृत के तत्सम पदों में प्राय: अनुस्वार का प्रयोग किया गया है । नकार को छोड़कर पंचम वर्ण का प्रयोग नहीं किया गया है । उदाहरण के लिए गङ्गा के स्थान पर गंगा, सम्बोधि के स्थान पर संबोधि, इत्यादि । दिनान्त जैसे पदों को प्राय: दिनान्त जैसा ही रखा गया है । लेकिन कहीं-कहीं दिनांत, प्रांत, भ्रांत जैसे रूप भी देखने को मिलेंगे ।
3- पारिभाषिक पदों की वर्तनी वही रखी गई है, जो संस्कृत या पालि ग्रन्थों में मिलती है जैसे बोधिसत्त्व (पालि बोधिसत्त) आदि ।
4- संबोधन कारक में प्रयुक्त पदों के साथ कामा (अर्थविराम) का प्रयोग किया गया है, न कि विस्मय संकेत का । हिन्दी लेखक प्राय: यह भूल करते दिखते हैं ।

इस पुस्तक को तैयार करने में जिन महानुभावों ने मुझे प्रेरणा व सहयोग दिया है मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूँ । मैं आभार प्रदर्शन के कार्य को तब तक पूरा नहीं मानूँगा जब तक मैं अपने सभी गुरूजनों, मित्रों तथा परिवार जन के प्रति कृतज्ञता न व्यक्त कर दूँ जिनकी सहायता के बिना यह कार्य कभी पूरा न हो पाता ।

श्री श्याम लाल मल्होत्रा, प्रोपराइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर, दिल्ली-110007 के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने सहर्ष इस ग्रन्थ के प्रकाशन एवं मुद्रण का भार लिया और अल्प समय में ही इसे आकर्षक ग्रन्थ का रूप प्रदान किया ।
प्रयत्नपूर्वक प्रूफरीडिंग करने के पश्चात भी इस ग्रन्थ में मुद्रण संबंधी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं । मुझे विश्वास है कि सहृय पाठक उन्हें उदारतापूर्वक क्षमा कर देंगे ।

तिथि : 30/10/91
स्थान : डी-8 मौरिस नगर,
दिल्ली-7

प्रियसेन सिंह
रिसर्च एशोशिएट,
बौद्ध विद्या विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में गौतम बुद्ध का स्थान प्राय: सबसे महत्वपूर्ण है । इसका कारण यह नहीं कि किसी लेखक या विचारक विशेष को बुद्ध के सिद्धान्तों या उनके जीवन-चरित पर विशेष आस्था या अभिरुचि है, बल्कि इसलिये कि गौतम बुद्ध और उनके विचारों ने सदियों तक भारत के और उसके बाहर के तमाम देशों के लोगों को सबसे अधिक प्रभावित किया है और अपनी अमिट छाप छोड़ रखी है । आज दुनिया के तमाम देशों में बुद्ध अभी भी उनके हीरो (मर्यादा पुरुष) माने जाते हैं । ऐसी स्थिति में गौतम बुद्ध के जीवन से संबंधित स्थलों का परिचय देना बड़ा आवश्यक कार्य है ।

गौतम बुद्ध का जीवन-वृत्तान्त भारत के इतिहास को समझने में सबसे अधिक सहायक सिद्ध हुआ है । प्राचीन इतिहास में तिथियों का निर्धारण भी बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त पर आधारित है । उनका परिनिर्वाण दिवस वह तिथि है जिससे कितनी ही ऐतिहासिक घटनाओं के तिथि निर्धारण में सहायता ली गई है । यही नहीं बुद्ध का जीवन काल ही वह सीमा-रेखा है जो भारतीय इतिहास को ऐतिहासिक और प्राग-ऐतिहासिक युगों में बांटता है । उपरोक्त तथ्यों से इस बात का अन्दाजा लगाया जा सकता है कि बुद्ध की जीवनी और उनके जीवन की घटनाओं से जुड़े स्थल भारत ही नहीं बल्कि तमाम दुनिया के लोगों के लिए कितने महत्वपूर्ण हैं ।

सौभाग्य से गौतम बुद्ध के जीवन पर अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है । अब वह समय नहीं है कि जब कुछ पश्चिमी विद्वान गौतम बुद्ध को कल्पना-प्रसूत मानते थे । उनके अनुसार वे एक इतिहास पुरुष नहीं थे । किन्तु समय के साथ जब भारतीय इतिहास के पन्ने दर पन्ने खुलते गये तो गौतम बुद्ध की ऐतिहासिकता पर से संदेह मिटता गया और आज परिणाम यह है कि दुनिया में शायद ही कोई ऐसा इतिहासकार होगा जो उनकी ऐतिहासिकता में संदेह करता हो । लेकिन इसके साथ ही गौतम बुद्ध के जीवन के संबंध में अभी भी तमाम भ्रान्तियां बरकरार हैं । आशा है कि समय के साथ उन भ्रान्तियों पर भी विजय पा ली जायेगी और गौतम बुद्ध का एक विशुद्ध मानवी जीवन सर्वमान्य हो जायेगा । उस पर अलौकिकता व देवत्ववाद की पड़ी हुई छाप सदा के लिये मिट जायेगी ।

पालि और संस्कृत में लिखे गए गौतम बुद्ध के जीवन-वृत्त उन्हें कपिलवस्तु के राजकुमार के रूप में प्रस्तुत करते हैं । वे शुद्धोधन, जो उस समय शाक्य गणराज्य के मुखिया थे और रानी महामाया के पुत्र बताये जाते हैं । उनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था । ऐसा कहा जाता है कि उनके

जन्म के सात दिन के अन्दर ही उनकी माता का देहान्त हो गया और उनका पालन-पोषण उनकी विमाता व मौसी महाप्रजापति गौतमी ने किया ।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि उनके जीवन के संबंध में अनेक अलौकिक व देवत्ववादी प्रवृत्तियां पालि और संस्कृत ग्रंथों में भरी पड़ी हैं । शायद ही कोई ऐसा प्राचीन लेखक/कवि होगा जिसने सिद्धार्थ के जन्म को विशुद्ध मानवी या सामान्य जन्म प्रक्रिया पर आधारित कहा हो । अधिकांश ने यही कहा है कि सिद्धार्थ का जन्म उनकी माता महामाया के उदर (पेट) के दायीं ओर से हुआ था । इस वर्णन को यदि भगवती महामाया के असामयिक निधन के साथ जोड़ कर देखा जाय तो हमारे एक छात्र के इस कथन में कुछ सत्यता प्रतीत होती है कि संभवत: सिद्धार्थ का जन्म सीज़ेरीयन (Caesarean) आप्रेशन के माध्यम से हुआ होगा और यही कारण है कि उस प्राणघाती चीड़-फाड़ को बर्दाश्त न कर सकने के कारण एक सप्ताह में ही उनके प्राणान्त हो गये । सिद्धार्थ के कुल या खानदान के सिलसिले में आज के शोधों से प्राय: यह सिद्ध होता है कि शुद्धोधन एक राजा नहीं थे बल्कि एक बहुत बड़े कुलक थे, क्योंकि पुराने ग्रंथों में उनको कृषि (खेती-बाड़ी) प्रक्रिया से जुड़ा हुआ बताया गया है (धर्मान्द कोसम्बी, भगवान बुद्ध, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली) ।

सिद्धार्थ का लालन-पालन बड़ी सुख-सुविधा के साथ हुआ, ऐसा सभी प्राचीन ग्रंथ बताते हैं । किन्तु ऐसा होने पर भी सिद्धार्थ ने भरी जवानी में ही सन्यास का मार्ग अपनाया, ऐसा क्यों ?, यह प्रश्न विद्वानों में बहुचर्चित है । इस संबंध में अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये गये हैं, परन्तु प्रधान कारण क्या थे ये आज तक पहेली बने हुए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि समाज की कुछ विशेष समस्याओं से जूझने के लिए और समाज को एक नयी दिशा देने के उद्देश्य से उन्होंने घर-बार छोड़ा होगा और नौजवानों का एक संगठन बनाया होगा । सन्यास को ब्रह्मचर्य आश्रम से ही प्रारंभ करने की उनकी योजना नवीन और संभवत: अभूतपूर्व थी ।

सिद्धार्थ के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने अपने समय के अनेक जाने-माने आचार्यों से शिक्षा ग्रहण की थी । दर्शन और धार्मिक मान्यताओं के संबंध में वे शिक्षायें क्या थीं यह तो पूर्णतया स्पष्ट नहीं है किन्तु ऐसा लगता है कि वह समय विभिन्न दार्शनिक ऊहापोह का समय था और अनेकों दार्शनिक विचार टकराव और मेल की दोनों गतियों से गुजर रहे थे । एक ओर तो उपनिषदिक, जैन आदि परंपरायें जीव और लोक के विषय में शास्वतिक दृष्टिकोण रखती थीं तो दूसरी ओर लोकायत पंरपरायें पूर्ण उच्छेदवादी थीं । संभवत: सिद्धार्थ इन दोनों दार्शनिक परंपराओं से पूर्णत: परिचित थे, इसीलिये आगे चलकर उनके दर्शन में दोनों से भिन्न एक दृष्टि उभड़ी । उनके युग में धार्मिक कर्म-काण्ड का भी वोलबाला रहा होगा । प्राय: दोनों प्रकार के धार्मिक नेता व साधक रहे होंगे जिनमें कुछ तो शरीर को संताप पहुंचा कर मुक्ति का रास्ता बताते थे तो दूसरे ऐसे भी थे जो ऐशो-आराम का रास्ता अपना कर मुक्ति प्राप्ति के पक्षधर थे । संभवत: इस प्रकार विविध दृष्टिकोणों वाले शिक्षकों और सहयोगियों से उनका वास्ता पड़ा होगा ।

गृह-त्याग के बाद अनके मार्गों से गुजरते हुए सिद्धार्थ ने तपश्चरण का मार्ग अपनाया और विचरते-विचरते उरूवेला के जंगलों में पहुंचे। वहां पर उनके साथ पांच सहयोगी साधक भी बताये जाते हैं। सिद्धार्थ प्राय: छ: वर्ष तक इस मार्ग पर चले और अन्त में उन्हें यह एहसास हुआ कि यह मार्ग नितान्त घटिया है और सिद्धि प्राप्ति में बाधक है। तपश्चर्या के कारण उनका शरीर बदरूप हो चुका था और वे अत्यन्त दुबले व कमजोर हो गये थे। ऐसी मान्यता है कि उनका शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र ही रह गया था। बड़े विचार के बाद उन्होंने भोजन ग्रहण करने का निश्चय किया होगा और तदनुसार सुजाता नामक एक ग्राम-कन्या के हाथ से उन्होंने खीर (पायस) खायी। इस घटना से हतोत्साहित हो कर उनके सहयोगी उनसे अलग हो गये। सिद्धार्थ ने अन्त में ध्यान का मार्ग अपनाया और वैशाख पूर्णिमा के दिन उन्हें बोधि प्राप्त हुई। बोधि प्राप्ति के उपरान्त जगत को उस बोधि की शिक्षा देने का निर्णय करने के बाद उन्हें अपने बोधिसत्त्व काल को दो शिक्षकों आलार-कालाम और उद्दक रामपुत्र का ध्यान आया। तदोपरान्त उन्हें यह भी पता चला होगा कि वे दोनों गुजर चुके हैं (कालकवलित हो चुके हैं)। फिर उनका ध्यान अपने पांच सहयोगी शिष्यों पर गया होगा जो उनसे विमुख होकर साधना के लिए अन्यत्र चले गये थे। उन्हें पता चला होगा कि वे पांचों सहयोगी शिष्य वाराणसी के पास इसिपत्तन मृगदाव में विहार कर रहे हैं। गौतम बुद्ध वाराणसी की ओर चल पड़े और यथा समय (एक परंपरा के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा के दिन) उन पांच संन्यासियों को अपना पहला उपदेश दिया। इसी को धम्मचक्कपवत्तन सुत्त (धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र) नाम दिया गया।

इस उपदेश में गौतम बुद्ध ने दो बातें बड़ी स्पष्टता के साथ बताईं। एक तो यह कि मुक्ति के लिए साधक को दो अतियों को छोड़कर बीच के रास्ते से चलना चाहिए और दूसरा चार आर्य सत्यों का सिद्धान्त। दो अतियां हैं—शरीर को संताप पहुंचा कर मुक्ति की कामना करना और इन्द्रियों को सुख पहुंचाते हुए मुक्ति की इच्छा करना। उनके द्वारा उपदेशित चार आर्य सत्य निम्नलिखित हैं— दुख, दुख-समुदय, दुख-निरोध और दुख-निरोध मार्ग। दुख-निरोध मार्ग ही अष्टांगिक मार्ग है जिसमें आठ अंग हैं— सम्यक-दृष्टि, सम्यक-संकल्प, सम्यक-वाचक, सम्यक-कर्म, सम्यक-आजीव, सम्यक-व्यायाम, सम्यक-स्मृति और सम्यक-समाधि। इन अंगों का पालन करते हुए मुक्ति (निर्वाण) की प्राप्ति की जा सकती है।

इस घटना के उपरान्त यश और उसके सहयोगियों की प्रव्रज्या अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है जिससे थोड़े समय में ही गौतम बुद्ध के सहयोगियों व अनुयायियों की संख्या साठ हो गई। प्रारंभ में यही इकसठ (60 सहयोगी + 1 बुद्ध) अर्हत बताये गये हैं। इन्हीं को संबोधित करते हुए गौतम बुद्ध ने अपना निम्नलिखित प्रसिद्ध वचन कहा है —

"चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकंपाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे अगमित्थ। देसेथ भिक्खवे, धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। सन्ति सत्ता अप्परजक्खजातिका अस्सवनता धम्मस्स परिहायन्ति, भविस्सन्ति धम्मस्स अञ्ञातारो।"

— भिक्षुओं, बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, अनेक लोकों पर अनुकंपा के लिए, देवों व मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, उनके हित के लिये और उनके सुख के लिए चारिका करें । एक साथ दो न जायें । भिक्षुओं, धर्म की देशना करो, जो धर्म आरंभ, मध्य व अन्त में कल्याणकारी है, जो अर्थवान है, भाषा संबंधी गुणों से युक्त है (सव्यंजनं) । हर तरह से परिपूर्ण व परिशुद्ध ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करो । ऐसे प्राणी हैं जो अल्प रज (पाप/दोष) वाले हैं, धर्म को सुनते हुए वे उन पापों का नाश करते हैं, वे धर्म को जानने वाले बनेंगे ।

इसिपत्तन में अपना कार्य संपन्न करके गौतम बुद्ध ने उरूवेल (गया) और राजगीर की तरफ प्रस्थान किया । रास्ते में जटिलों को अपने प्रभाव में लाते हुए तीन कश्यप बन्धुओं व उनके सहयोगियों को अपना अनुयायी बनाया । इन घटनाओं का मगध के जन-मानस पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा । स्वयं वहां का शासक बिंबिसार उनसे मिलने को इच्छुक हुआ और यथा समय उनका शिष्य बन गया । तदोपरान्त गौतम बुद्ध और उनके संघ के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए राजा बिंबिसार ने वेणुवन विहार का दान किया । यह विहार-दान की सबसे पहली घटना थी और इस घटना ने भिक्षुओं के एक स्थान पर रह कर अध्ययन-अध्यापन, शिक्षण-प्रशिक्षण इत्यादि वाली विहारीय व्यवस्था का सूत्रपात किया । संघ के इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना थी जिसने संघ के उत्तरकालीन इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया । गौतम बुद्ध के राजगीर प्रवास के दौरान और भी अनेक महत्वपूर्ण घटनायें घटीं, जिनमें सारिपुत्त-मोग्गल्लान का शिष्यत्व स्वीकार करना, जीवक कुमार भच्च का बुद्ध के प्रति झुकाव, इत्यादि प्रमुख हैं ।

बोधि प्राप्ति के लगभग एक साल के बाद गौतम बुद्ध अपने पिता के नगर कपिलवस्तु की ओर गये । वहां पर भी कई महत्वपूर्ण घटनायें घटीं जिन्होंने संघ और विनय के इतिहास पर जबर्दस्त प्रभाव डाला । उनमें राजा शुद्धोधन द्वारा गौतम बुद्ध से यह आश्वासन प्राप्त करना कि बिना माता-पिता की अनुमति के कोई भिक्षु नहीं बनाया जायेगा, नन्द (गौतम बुद्ध के सौतेले भाई) की प्रव्रज्या, राहुल (उनके इकलौते पुत्र की प्रव्रज्या), आदि घटनायें प्रमुख हैं ।

कपिलवस्तु से चल कर गौतम बुद्ध ने अपनी चारिका अन्यत्र जारी रखी । इसी बीच की एक अन्य महत्वपूर्ण घटना यह है कि छः शाक्य कुमार और उपालि (शाक्यों का कुल नापित/खानदानी नाई) गौतम बुद्ध से उनकी चारिका के दौरान मिले और प्रव्रज्या प्राप्त की । ये घटना भी संघ के इतिहास में बड़ी महत्वपूर्ण है क्योंकि इन सात कपिलवस्तु-युवकों में से दो—आनन्द और उपालि ने बौद्ध संघ की उन्नति में वहुत बड़ी भूमिका अदा की है । जहां पहली संगीति में आनन्द ने धम्म का संगायन किया वहीं उपालि ने विनय का ।

गौतम बुद्ध के पैंतालिस वर्ष के सक्रिय शासन में श्रावस्ती की भूमिका बेजोड़ या अनुपम है । यह वह स्थान है जहां उन्होंने सबसे अधिक वर्षावास किये थे साथ ही यहीं पर उन्होंने सबसे अधिक विनय नियमों और सुत्तों का उपदेश किया था । श्रावस्ती में घटित घटनाओ का क्रमबद्ध इतिहास तो प्रस्तुत करना कठिन है परन्तु वहां घटित घटनाओं में से कुछ का उल्लेख किया जा

सकता है । ये हैं—जेतवन विहार का निर्माण और उसमें राजकुमार जेत व अनाथपिण्डक का योगदान, गौतम बुद्ध के द्वारा आठ परिहार्यों का प्रदर्शन, अनेकानेक भिक्षु संघ के नियमों का निर्माण, अंगुलिमाल की प्रव्रज्या, इत्यादि । श्रावस्ती की एक अत्यन्त प्रसिद्ध उपासिका विशाखा मिगारमाता जो सेठ अनाथपिण्डक की पुत्र-वधू थीं, की भूमिका भी बड़ी महत्वपूर्ण है । उनके माध्यम से कुछ भिक्षु नियमों में संशोधन किया गया था ।

स्थान-स्थान पर विचरण करते हुए गौतम बुद्ध जब राजगीर में थे उस समय भिक्षु देवदत्त (जो गौतम बुद्ध के चचेरे भाई थे) ने सम्राट अजाशत्रु के साथ मिल कर गौतम बुद्ध पर कई प्रहार किये थे और संघ भेद का भी प्रयास किया था, क्योंकि वह स्वयं संघ का मुखिया बनना चाहता था । त्रिपिटक में उल्लिखित वर्णनों के अनुसार उसे सफलता नहीं मिली और उसका अध: पतन हो गया । दूसरी तरफ अजातशत्रु अपने पिता सम्राट बिंबिसार को अपदस्थ करके (कहीं-कहीं यह भी लिखा मिलता है कि अजाशत्रु ने अपने पिता को यातना दे कर मार डाला या मरवा डाला था, मगध की गद्दी पर बैठा और अपनी महत्वाकांक्षाओं को मूर्त रूप देने में लग गया । पिता को यातना दे कर मारने का उसको अत्यधिक पश्चाताप हुआ और इसी क्रम में वह गौतम बुद्ध का शिष्य बन गया ।

राजगीर से अपने अन्तिम बार प्रयाण करने के दौरान गौतम बुद्ध ने कालान्तर में प्रसिद्ध पाटलिपुत्र शहर के निर्माण का उद्घाटम किया और गंगा पार कर के वैशाली में प्रवेश किया । वैशाली की चारिका में भी कई बड़ी महत्वपूर्ण घटनायें घटीं । इसी दौरान अजातशत्रु के प्रधानमं वस्सकार (वर्षकार) उनसे मिलने आये और अजातशत्रु के नाम पर उन्हें प्रणाम करके वज्जियों प अजातशत्रु के प्रस्तावित आक्रमण के लिए आशीर्वाद मांगा । इसी संबंध में गौतम बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को ऐसे सात अपरिहाणीय धम्मों का उपदेश दिया था जिनसे वज्जी गणराज्य की एकता बनी रहे । वे सात नियम इस प्रकार हैं ।—

(1) जब नक वज्जी (सम्मति के लिये) बराबर बैठक करते रहेंगे अर्थात् सन्निपात बहुल रहेंगे तब तक उनकी वृद्धि ही होगी ।

(2) जब तक वज्जी एक हो बैठक करते रहेंगे, एक हो उत्थान करते रहेंगे, एक हो करणीय (कर्त्तव्य) को करते रहेंगे तब तक उनकी वृद्धि ही होगी ।

(3) जब तक वज्जी अ-प्रज्ञप्त (गैरकानूनी) को प्रज्ञप्त (विहित) नहीं करेंगे, प्रज्ञप्त (विहित) का उच्छेद नहीं करेंगे । जैसे प्रज्ञप्त है, वैसे ही पुराने वज्जि-धर्म (नियम) को ग्रहण कर वर्तते रहेंगे तब तक उनकी वृद्धि ही होगी ।

(4) जब तक वज्जियों के जो महल्लक (वृद्ध) हैं, उनका (वह) सत्कार करेंगे, (गुरूकार करेंगे, मान करेंगे, पूजेंगे), उनकी (बात) सुनने योग्य मानेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी ।

(5) जब तक वज्जी जो कुल-स्त्रियां हैं, कुल-कुमारियां हैं, उन्हें (वह) छीनकर जबर्दस्ती नहीं बसायेंगे, तब तक उनकी वद्धि ही होगी ।

(6) जब तक वज्जियों के (नगर के) भीतर या बाहर के जो चैत्य (चौरा, देव-स्थान) हैं, वह उनका सत्कार करेंगे, पूजेंगे । उनके लिये पहिले किये गये दान को, पहिले की गई धर्मानुसार बलि (वृत्ति) को, लोप नहीं करेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी ।

(7) जब तक वज्जी लोग अर्हतों (पूज्यों) की अच्छी तरह धार्मिक (धर्मानुसार) रक्षा (आवरण) करेंगे । किसलिये ? भविष्य में अर्हत राज्य में आवें, आये अर्हत राज्य में सुख से विहार करें, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी ।

आज के शासन संचालन में इन सात नियमों का वैसा ही महत्व है जैसा कि उस युग में था, इस बात को हर विचारक स्वीकार करेगा ।

वैशाली की प्रसिद्ध नगरवधू या गणिका अंबपालि के निवास स्थान पर भोजन ग्रहण करके भगवान बुद्ध ने अपने विचारों की उदारता का बहुत बड़ा उदाहरण तत्कालीन समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया था । भारतीय इतिहास में तथाकथित पतित महिलाओं के उद्धार की यह सबसे पहली ऐतिहासिक घटना है । यही नहीं अंबपालि के निमंत्रण को स्वीकार करते समय वे अनजाने में वज्जी राजकुमारों का निमंत्रण भी अस्वीकार कर रहे थे जिसको अंबपालि किसी कीमत पर भी वज्जी राजकुमारों को नहीं सौंपना चाहती थी । ऐसा कहा जाता है कि गौतम बुद्ध को भोजन दान के उपरान्त अंबपालि ने अपना प्रसिद्ध आम्रवन संघ को दान में दिया था । ऐसी भी मान्यता है कि कालान्तर में उसने भिक्षुणी बन कर संघ में प्रवेश भी लिया था । वैशाली की प्रसिद्धि इस बात में भी है कि गौतम बुद्ध ने यहीं पर अपनी पूर्व-चारिकाओं में महाप्रजापति गौतमी के नेतृत्व में आयी कई महिलाओं को संघ में प्रवेश दिया था । इस प्रकार भिक्षुणी संघ का सूत्रपात भी यहीं पर हुआ था ।

वैशाली से प्रस्थान करके चारिका करते हुए गौतम बुद्ध कुशीनगर की ओर गये । वहां मल्लों के राज्य में उनका महापरिनिर्वाण हुआ । इसके पहले की एक प्रसिद्ध घटना यह थी कि उन्होंने चुन्द नामक कम्मकार (लोहार/सुनार) के घर अन्तिम भोजन किया था जहां 'सूकर मद्दव' खाने को मिला था । इस भोजन के परिणामस्वरूप उन्हें अतिसार की बीमारी हो गई और उसी से उनका प्राणान्त भी हुआ जिसे श्रद्धालु बौद्ध महा-परिनिर्वाण कहते हैं । अन्तिम समय में अपना प्रवचन देते हुए गौतम बुद्ध ने अपना कोई उतराधिकारी नहीं नियुक्त किया और भिक्षुओं को यह कह कर सांत्वना दी कि उनके गुजर जाने के बाद 'धम्म' ही उनका शास्ता (आध्यात्मिक गुरू, शिक्षक) होगा ।

अपने अन्तिम प्रवचन, जिसे महापरिनिर्वाण सुत्त कहा जाता है, में ही गौतम बुद्ध ने प्राणांत के बाद उनका दाह-संस्कार कैसा हो, इस बारे में भी निर्देश दिये हैं । उन्होंने कहा कि उनका दाह संस्कार वैसे ही होना चाहिए जैसे किसी चक्रवर्ती राजा का होता है । इस संबंधी संपूर्ण विवरण उस सुत्त में मिलता है । दूसरी ओर हमारे ग्रन्थ की पृष्ठभूमि के रूप में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी सुत्त में भगवान बुद्ध ने अपने जीवन से संबंधित चार महत्वपूर्ण स्थानों की यात्रा को अपने

अनुयायियों के लिए अत्यन्त पुण्यकारी बताया है । ये चार स्थल हैं—लुंबिनी, बोध-गया, सारनाथ और कुशीनगर जो क्रमश: उनके जन्म, बोधि प्राप्ति, प्रथम धर्मोपदेश तथा महापरिनिर्वाण से संबंधित हैं ।

इस ग्रंथ में उपरोक्त चार स्थलों के अतिरिक्त उनके जीवन की अन्य चार घटनाओं से संबंधित स्थलों का भी विवरण दिया गया है । ये चार स्थल—श्रावस्ती, राजगीर, वैशाली और सांकाश्य हैं । भारतीय कलाकारों ने प्राय: हरेक स्थान पर गौतम बुद्ध के जीवन से संबंधित उपरोक्त आठ स्थलों को एक साथ चित्रित किया है । अत: मान्यता और परंपरा दोनों के अनुसार एक बौद्ध श्रृदालु के लिए इन आठ स्थलों पर जाना पुण्यकारी है । इनके अतिरिक्त बौद्धधर्म के इतिहास में प्रमुख भूमिका निभाने वाले कुछ अन्य स्थलों का भी सविस्तार विवरण यहां दिया गया है । इनके साथ ही साथ दो आधुनिक तीर्थ-स्थलों—धर्मशाला और दीक्षा-भूमि, का समावेश एक नवीन प्रयास है । धर्मशाला तिब्बती बौद्ध मतावलंबियों के पूजनीय धार्मिक गुरू दलाई लामा का निवास स्थान है और दीक्षा-भूमि वह स्थल है जहाँ डॉ० भीमराव अंबेडकर ने अपने साथियों के साथ बौद्ध धर्म को अपनाया था ।

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन	v - vi
प्रस्तावना	vii - xiii
विषय सूची	xv - xvi
चित्र सूची	xvii -xviii
आठ प्रमुख तीर्थ-स्थल	
(1) लुंबिनी	1–6
(2) बोध-गया	7–15
(3) सारनाथ	16–23
(4) कुशीनगर	24–33
(5) राजगीर (राजगृह)	34–41
(6) सांकाश्य (संकिस्सा)	42–47
(7) वैशाली	48–54
(8) श्रावस्ती	55–63
प्रमुख स्तूप	
उत्तर भारत	
(1) साँची	64–72
(2) भरहुत	73–79
दक्षिण भारत	
(3) नागार्जुनकोण्डा	80–85
(4) अमरावती	86–92

विहार-विश्वविद्यालय

(1) नालन्दा 93–98
(2) विक्रमशील 99–105
(3) ओदन्तपुर 106–111
(4) जगद्दल 112–116
(5) तक्षशिला 117–128
(6) वल्लभी 129–135

स्वास्तिकाकार मंदिर

(1) पहाड़पुर (सोमपुर) 136–142
(2) मैनामति 143–148

गुफा चैत्य-गृह और विहार

(1) अजन्ता 149–154
(2) एलोरा 155–160
(3) कार्ले 161–166
(4) कन्हेरी 167–173
(5) बाघ 174–180
(6) रत्नागिरि 181–189

अन्य महत्वपूर्ण स्थल

(1) कौशांबी 190–194
(2) कपिलवस्तु 195–207

आधुनिक तीर्थ-स्थल

(1) धर्मशाला 208–215
(2) दीक्षा-भूमि 216–228

परिशिष्ट

भारत में बौद्ध धर्म के पतन के कारण 229–233

सहायक ग्रन्थ सूची 243–237

चित्र सूची

1. लुंबिनी, अशोक स्तंभ ।

2. भरहुत से प्राप्त माया के स्वप्न का दृश्य जिसमें एक सफेद हाथी उनके गर्भ में प्रवेश करते दिखाया गया है ।

3. नागार्जुनकोण्डा से प्राप्त लुंबिनी में बुद्ध के जन्म और सात कदम चलने का दृश्य ।

4. गंधार से प्राप्त बोध-गया में बोधिसत्त्व के तप को दशार्ती प्रतिमा ।

5. बोध-गया, महाबोधि मंदिर ।

6. अजन्ता में प्रदर्शित बोध-गया में मार के आक्रमण और प्रलोभन का दृश्य ।

7. सारनाथ, एक दृश्यावलोकन ।

8. अमरावती में प्रदर्शित राजगीर में बुद्ध द्वारा नलगिरि हाथी को वशीभूत करने का दृश्य ।

9. सारनाथ, बुद्ध की प्रथम धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा की प्रतिमा ।

10. साँची में प्रदर्शित, कुसीनगर में कुसिनारा के मल्लों द्वारा स्तूप भेंट देने का दृश्य ।

11. कसिया (कुसिनारा), निर्वाण स्तूप ।

12. साँची, मुख्य स्तूप ।

13. भरहुत से प्राप्त सांकाश्य में त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से बुद्ध के अवतरण का दृश्य ।

14. साँची में प्रदर्शित वैशाली में बन्दरों द्वारा बुद्ध को शहद भेंट करने का दृश्य ।

15. गंधार से प्राप्त श्रावस्ती के महान चमत्कार का दृश्य ।

16. गंधार से प्राप्त वैशाली में आम्रपाली द्वारा बुद्ध को आम्रवन भेंट किये जाने का दृश्य ।

17. भरहुत, वेदिका का एक भाग ।

18. भरहुत में प्रदर्शित श्रावस्ती में जेतवन दान दिये जाने का दृश्य ।

19. नागार्जुनकोण्डा, चैत्य का एक प्रस्तर फलक जिसमें स्तूप दिखाया गया है ।

20. अमरावती, चैत्य का एक प्रस्तर फलक जिसमें स्तूप दिखाया गया है ।

21. नालन्दा, विहारों का एक दृश्य ।

22. नालन्दा, मुख्य मंदिर ।
23. रत्नागिरि, विहार का सामान्य दृश्य ।
24. तक्षशिला, धर्मराजिक स्तूप ।
25. रत्नागिरि, विहार का प्रवेश द्वार ।
26. पहाड़पुर, सोमपुर मंदिर ।
27. कुर्किहारा से प्राप्त तारा की मूर्ति जिसके एक रूप दुर्गोतारा की मैनामति में पूजा हुआ करती थी ।
28. अजन्ता, चैत्य-गृह (गुफा सं० 19) का अग्र भाग ।
29. अजन्ता, चैत्य-गृह (गुफा सं० 26) ।
30. एलोरा, विश्वकर्मा गुफा ।
31. कार्ले, चैत्य-गृह ।
32. कार्ले, प्रवेश द्वारों के मध्य का अग्र भाग ।
33. कन्हेरी, दायक युगल (गुफा सं० 33) ।
34. पिपरहवा से प्राप्त तबर्रुक-पात्र ।
35. गंधार से प्राप्त कपिलवस्तु से बुद्ध के अभिनिष्क्रमण का दृश्य ।

लुंबिनी

भगवान बुद्ध का जन्मस्थल लुंबिनी (लुम्बिनी) नेपाल की तराई में भारत-नेपाल सीमा से लगभग 10 (दस) किलोमीटर दूर भैरहवाँ जिले में स्थित है। इसका वर्तमान नाम रूम्मिनदेई है, जिसकी पूर्व दिशा में एक छोटी नदी 'तिलर' बहती है। तराई में होने के कारण चारों ओर हिम आच्छादित अन्नपूर्णा, मत्स्यपुच्छ व धवलगिरी की चोटियाँ यहाँ की दृश्यावली को अत्यंत मनोरम बना देती हैं।

भगवान बुद्ध के जन्म से संबंधित वर्णन हमें अनेकों बौद्ध ग्रंथों से प्राप्त होता है। उनकी माता रानी महामाया ने एक अत्यन्त विचित्र स्वप्न देखा। उन्होंने देखा कि चारों दिशाओं के रक्षक देवों ने उन्हें पलंग सहित उठा लिया। हिमालय की अधित्यकाओं में ले गये, जहाँ उन देवों की रानियों ने उनका स्वागत किया। उनका पलंग मानसरोवर (अनोतत्त/अनवतप्त) झील के समीप एक साल वृक्ष के नीचे रखा। उन्होंने उनको झील के पवित्र जल में स्नान कराया तथा दिव्य वस्त्र पहनाये, सुगंध (इत्र) व पुष्पों के द्वारा श्रृंगार किया । इसके बाद उन्हें समीप की पवित्र पहाड़ी पर बने स्वर्ण महल में ले जाया गया। यहाँ वे पूर्व की ओर मुख करके स्वर्ण पलंग पर विश्राम करने लगीं। अभी उन्होंने तकिये पर सिर रखा ही था कि उन्हें छः (गज)दन्त वाले एक सफेद दैवी हाथी के दर्शन हुए। हाथी पवित्र पहाड़ी पर आया तथा स्वर्ण महल में उत्तरी प्रवेश द्वार से घुसा। उसने अपनी सूँड़ में सफेद कमल का पुष्प पकड़ रखा था। हाथी ने रानी महामाया के चारों ओर तीन चक्कर काटे और अपनी सूँड़ द्वारा उनके दाहिने भाग को छूने के बाद उनके गर्भ में प्रवेश कर गया।

रानी ने उपरोक्त स्वप्न का वर्णन राजा शुद्धोधन को बताया। राजा ने ज्योतिषियों से सलाह ली। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की कि रानी महामाया एक पुत्र को जन्म देगीं जो या तो चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या बुद्ध बनेगा।

रानी महामाया कोलियों के राजा की पुत्री थीं, जिनकी राजधानी देवदह थी। बच्चे के जन्म का समय निकट आने पर परंपरा के अनुसार रानी ने राजा शुद्धोधन से अपने मायके जाने की आज्ञा ले कर स्वर्ण पालकी में बैठ कर कपिलवस्तु से अपनी बहन प्रजापति तथा अन्य सेविकाओं आदि के साथ प्रस्थान किया। कपिलवस्तु

से देवदह जाने के मार्ग में लुंविनी उद्यान स्थित था जो विभिन्न प्रकार के फूलों व फलों वाले पेड़ों से आच्छादित था। यहाँ कुछ देर विश्राम करने के लिए रानी रुकीं और एक साल पेड़ के नीचे पहुँची। उसी समय उन्हें प्रसव-पीड़ा हुई और साल वृक्ष की डाल स्वयं झुक गयी, जिससे रानी उसे पकड़ सकें।

इसी स्थिति में शिशु महामाया के शरीर के दाहिने भाग से वाहर आया। उसे शक्र तथा अन्य देवताओं ने एक वढ़िया वस्त्र पर ग्रहण किया। जब रानी महामाया अपनी वहन प्रजापति की सहायता से समीप के तालाब में स्नान कर रहीं थीं, नवजातु शिशु देवताओं व मनुष्यों को आश्चर्यचकित करते हुए शक्र और ब्रह्मा के हाथों से उतर कर चारों दिशाओं में सात कदम चला। उस शिशु ने यह घोषणा की कि यह उसका अन्तिम जन्म है। जहाँ-जहाँ उसने कदम रखे वहाँ-वहाँ कमल के फूल खिल उठे। स्वर्ग में भी प्रसन्नता फैल गई तथा देवताओं ने उस पर फूलों की वर्षा कर दी। यह पवित्र दिन वैशाख पूर्णिमा का दिन था। इस समाचार से कपिलवस्तु व देवदह में खुशियाँ फैल गई। इस प्रकार भगवान बुद्ध के अनुयायियों के लिए संपूर्ण पृथ्वी पर सवसे श्रेष्ठ पूज्य स्थल लुंविनी वन गया।

ऐसा माना जाता है कि भगवान बुद्ध के जन्म के समय ही यशोधरा (जो सिद्धार्थ की पत्नी थीं), छन्द या छन्न (जो सिद्धार्थ का सेवक व सारथी था) और कन्थक (जो सिद्धार्थ का प्रिय घोड़ा था, जिस पर चढ़ कर वे महाभिनिष्क्रमण के लिए गये थे) ने भी जन्म लिया। उसी समय पड़ोस के चार राज्यों के उत्तराधिकारियों बिंबिसार, प्रसेनजित (पसेनदि), प्रद्योत और उदयन ने भी जन्म लिया। इस विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ भी कहना कठिन है।

सिद्धार्थ के जन्म के कुछ समय वाद असित नामक सन्यासी शिशु को देखने के लिए राजा शुद्धोधन के दरवार में आये। जब शिशु को असित के समक्ष लाया गया तो शिशु ने असित के सिर पर अपना पैर रखा जो इस वात को दर्शाता है कि महान ऋषि आदि उनके अनुयायी बनेंगे।

भगवान बुद्ध के काल में लुंविनी, कपिलवस्तु आदि का बहुत महत्व था। भगवान के परिनिर्वाण के वाद उनके जीवन से संवंधित अन्य स्थलों की तरह लुंविनी भी समस्त बौद्धों के लिए तीर्थ स्थल और राजाओं की श्रद्धा व प्रेरणा का स्रोत वन गया।

सम्राट अशोक ने वौद्ध तीर्थ स्थलों की अपनी यात्रा के समय यहाँ पहुँच कर अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित किये थे और कुछ स्मारकों का निर्माण कार्य करवाया था। भगवान के जन्म के लगभग 1000 (एक हजार) साल बाद प्रसिद्ध चीनी बौद्ध

यात्री फा-ह्यान 406 ईसवी में लुंविनी में आये थे और उस वृक्ष को देखा था, जिसके नीचे भगवान का जन्म हुआ था। उन्होंने उस तालाव को भी देखा था, जहाँ रानी महामाया ने स्नान किया था। सन् 637 ईसवीमें एक अन्य प्रसिद्ध चीनी बौद्ध यात्री युवान-च्वांग (हुयेन-सांग) ने भी लुंविनी के दर्शन किये थे। उन्होंने इस पवित्र स्थल का जो वर्णन किया था, वह वर्तमान स्थल के खण्डहरों को पहचानने में सहयोग देता है और इस स्थल के प्राचीन स्वरूप को प्रस्तुत करता है। उन्होंने लिखा है कि "इस उद्यान में शाक्यों का नहाने का एक सुन्दर तालाव था जिससे लगभग 24 कदम (पग) दूर वह प्राचीन अशोक वृक्ष था जिसके नीचे भगवान बुद्ध ने इस संसार में जन्म लिया। इसके पूर्व में अशोक स्तूप था जहाँ दो नागों (dragons) ने नवजात शिशु को गर्म व ठण्डे जल से नहलाया था। इसके पूर्व की ओर दो स्तूप व झरने थे जो भगवान के जन्म के समय उत्पन्न हुए थे। इनके दक्षिण की ओर एक स्तूप उस स्थल पर था जहाँ इन्द्र ने नवजात शिशु (सिद्धार्थ/बुद्ध) को ग्रहण किया था। इसके आगे चार देवराजों के चार स्तूप थे जिन्होंने शिशु (सिद्धार्थ) के जन्म के वाद उनकी जिम्मेदारी ली थी। इन स्तूपों के निकट ही अशोक द्वारा स्थापित एक प्रस्तर स्तंभ था जिसके शीर्ष पर अश्व वना था। स्तंभ एक विद्वेषपूर्ण (malicious) नाग के द्वारा किये गये वज्रपात के कारण मध्य से टूट गया था। उसका आधा भाग भूमि पर पड़ा था। स्तंभ के निकट दक्षिण-पूर्व की तरफ एक छोटी नदी वहती थी, जिसे तेल नदी के नाम से जाना जाता था। यह मूल रूप से देवताओं द्वारा भगवान बुद्ध के जन्म के वाद उनकी माँ के स्नान के लिए उत्पन्न किया गया शुद्ध तरल तेल का तालाव था, जो बाद में चलकर एक नदी के रूप में परिवर्तित हो गया था। परन्तु उसके जल में तैलीय चरित्र बना हुआ था।"

इस प्रकार मगध साम्राज्य के काल में राजा अशोक की श्रद्धा पाने के वाद यह स्थल आकर्पण व प्रेरणा का श्रोत वन गया। राजा हर्पवर्धन के काल में भी इस स्थल के प्रसिद्ध होने के साक्ष्य मिले हैं। अशोक के अभिलेखों के अतिरिक्त हमारी सूचना के मुख्य श्रोत चीनी बौद्ध यात्रियों के यात्रा-वृत्रान्त ही हैं। 12 वीं शताव्दी ईसवी तक यहाँ तीर्थ यात्रियों के आने के साक्ष्य तो हैं परन्तु उसके पश्चात अन्य बौद्ध तीर्थ स्थलों के समान यह भी जन सामान्य की नजरों से ओझल हो गया।

सन् 1896 ईसवी में ए० फूहरर (A. Fuhrer) ने अशोक द्वारा लुंविनी उद्यान में सिद्धार्थ के जन्म स्थान को दर्शानि के लिए निर्मित प्रस्तर स्तंभ को खोजा, जिसके कारण यह स्थल वौद्ध अनुयायियों के समक्ष आ सका। वावू पूर्णचन्द्र मुखर्जी ने सन् 1899 में यहाँ खुदाई का कार्य कराया और अनेकों स्तूपों, इमारतों आदि को खोज निकाला। नेपाली वौद्धों द्वारा भी यहाँ खुदाई का कार्य करवाया गया। सन् 1933-34 में केसर शमशेर जंग वहादुर राणा के निर्देश पर यहाँ खुदाई का कार्य हुआ। इस प्रकार यह अत्यन्त प्रसिद्ध वौद्ध तीर्थ, दुनिया के समक्ष वर्तमान रूप में आकर्षण का अनुपम केन्द्र वना हुआ है।

मुख्य स्थल

(1) अशोक स्तंभ :– यहाँ से प्राप्त पुरावशेष की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु प्रस्तर स्तंभ है, जिस पर मौर्य काल की अत्यन्त सुन्दर पॉलिश है। पत्थर चुनार की खदान का है और उस पर छोटी-छोटी काली चित्तियाँ हैं। स्तंभ के मध्य तक एक खड़ी दरार है। इसका शीर्ष भाग टूट गया है, संभवतः विजली गिरने के कारण। स्तंभ की ऊँचाई 24 फुट 3 इंच है। टूटे हुए भाग का, कमल के आकार का शीर्षभाग ही आज उपलब्ध है, शेष भाग लुप्त हो गया है। स्तंभ पर भूमि से लगभग 11 फुट 2.5 इंच की ऊँचाई पर अशोक का ओजस्वी अभिलेख है, जो भगवान बुद्ध के जन्म स्थल का ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करता है। स्तंभ का व्यास भूमि के निकट 8 फुट 3 इंच, अभिलेख के समीप 7 फुट 6 इंच और शिखर पर 6 फुट 6 इंच है।

अशोक के अभिलेख में उनके यहाँ आने का वर्णन है। अभिलेख ब्राह्मी लिपि में है तथा भाषा प्राकृत (अशोकी) है। यह पाँच पंक्तियों में लिखा है तथा इसका मूल पाठ इस प्रकार है–

(i) देवानं पियेन पियदसि लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
(ii) अतनो-अगाच् महियिते हिद-बुधे-जाते-शाक्यमुनि-ति
(iii) सिला वीगडभी-चा कालापिते सिलाथंभे च उसपापिते
(iv) हिद-भगवं जाते-ति लुंविनि गामे उवलिके कटे
(v) अठभागिये-च।

इस अभिलेख में लिखा है कि अशोक ने अपने राज्यारोहण के 20 वर्ष बाद स्वयं इस स्थल पर आकर आदर प्रकट किया, जहाँ शाक्यमुनि बुद्ध ने जन्म लिया था। उसने इस स्थल के चारों ओर पत्थर की दीवार बनवायी और एक स्मारक स्तंभ का निर्माण करवाया। भगवान बुद्ध के यहाँ जन्म लेने के कारण लुंविनी ग्राम को अपने उत्पादन का मात्र एक बटे आठवाँ भाग कर के रूप में देने का निर्देश किया और शेष कर माफ कर दिया।

इस स्तंभ पर और भी कई अभिलेख हैं, जो समय-समय पर यहाँ आने वाले तीर्थ यात्रियों द्वारा खुदवाये गये थे। इनमें से सबसे स्पष्ट तिव्वती लिपि में उत्कीर्ण अत्यन्त प्रसिद्ध तिव्वती मंत्र 'ओम् मणि पदमे हूँम्' लिखा है।

स्तंभ के उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व की ओर ईंटों के दो छोटे स्तूप हैं, जिनकी नींव चौकोर है। दक्षिण-पश्चिम की ओर ईंटों की एक सन्तुलित आकार की नींव

शष है। ये तीनों स्मारक अशोक के स्तंभ के काफी वाद के हैं। स्तंभ के उत्तर-पूर्व की ओर एक टूटा हुआ कक्ष-नुमा आकार (खण्डहर) है।

(2) मुख्य मंदिर :- स्तंभ के कुछ गज पूर्व की ओर एक आधुनिक मंदिर वना है, जिसकी छत सपाट है। इसके चारों ओर विस्तृत चबूतरा बना है। मंदिर के भीतर एक खण्डित प्रतिमा है, जो लुंविनी की संरक्षक देवी की मानी जाती है। इसे रूपादेई (रूपादेवी) तथा रूम्मिनदेई (रूम्मिनदेवी) के नामों से जाना जाता है। इन्हीं नामों के कारण इस स्थल का नाम लुंविनि पड़ा। यह प्रतिमा भगवान बुद्ध के जन्म को दर्शाती है। यह लगभग मानवाकार है। इसमें माया देवी को अपने दाहिने हाथ से पेड़ की शाखा पकड़े हुए और उसके नीचे खड़े हुये दिखाया गया है। उनका वाँया हाथ कमर पर रखा है। उनके दाहिने तरफ उनको सहारा देती हुई उनकी बहन महाप्रजापति गौतमी खड़ी है। साथ ही सिर पर मुकुट के साथ शक्र (इन्द्र) को नवजात शिशु को ग्रहण करने की मुद्रा में दर्शाया गया है। भगवान बुद्ध की छोटी आकृति बनी हुई है और उनके सिर से प्रकाश फूट रहा है। शक्र के पीछे एक अन्य पुरूष आकृति है जो संभवतः ब्रह्मा हैं। यह प्रतिमा बुरी तरह खण्डित अवस्था में है। शैली की दृष्टि से ये प्रतिमा प्रारंभिक गुप्त काल की प्रतीत होती है।

आधुनिक मंदिर व चवूतरा पहले के बने एक भव्य सजावट वाले मंदिर व स्तूपों सहित अनेकों गौण इमारतों के खण्डहरों पर बना है। मंदिर की नींव को सन् 1899 में पी०सी० मुखर्जी ने खोद कर बाहर निकाला। पहले के मंदिर में एक ईंटों का गर्भ-गृह और एक आयाताकार उपकक्ष था, जहाँ भगवान के जन्म को दर्शाने वाला दृश्य (प्रतिमा) प्रतिष्ठापित था। मंदिर की नींव अपने-आप में अत्यन्त उत्तम प्रकार की थी। लघु प्रक्षेपणों को छोड़कर इसकी नींव सप्त रथ आकार की थी और उत्कृष्ट शिल्पकारी को दर्शाती है। मुखर्जी द्वारा खोदे गये मंदिर की नींव और स्तूप के खण्डहर पूरी तरह वर्तमान मंदिर व चबूतरे के नीचे दब गये हैं।

संभवतः प्राचीन मंदिर उस स्थल को दर्शाता हो, जहाँ भगवान का जन्म हुआ था। अशोक द्वारा निर्मित पत्थर की दीवार इस वर्तमान मंदिर या इससे पहले के मंदिर की नींव के भीतर दव गयी है। आधुनिक मंदिर की सीढ़ियों के नीचे प्रमुख इमारत आयाताकार भाग के सहित अंशतः दवी हुई है।

(3) तालाब :- मंदिर के दक्षिण में एक तालाव है, जो निस्सन्देह वही तालाव है जहाँ भगवान की माता ने प्रसव के पश्चात स्नान किया था। इसकी स्थिति युवान-च्वांग के वर्णन से भी मेल खाती है। इसके कगार की मरम्मत ईंटों द्वारा की गई है, जिसके कारण तालाव अपने प्राचीन स्वरूप के समान प्रतीत होता है।

(4) अन्य स्मारक :- तालाव के उत्तर-पूर्व की ओर ईंटों के अनेकों खण्डहर हैं, जिनमें से अधिकतर ईंटों के वने छोटे स्तूपों की नींवें हैं। इनमें से 6 स्तूप पूर्व से पश्चिम की तरफ एक पंक्ति में हैं। इनके नीचे पहले की नींवें भी हैं। तालाव के दक्षिण-पूर्वी किनारे के निकट ईंटों का एक चतुर्भुजीय विहार था, जिसके प्राँगण के चारों ओर व्यवस्थित कक्ष बने थे। इन कक्षों में से दो के फर्श बड़ी ईंटों के बने मिले हैं। इस विहार के ऊपर एक अन्य इमारत के अवशेष हैं, जो संभवतः वाद में वने विहार को दर्शाते हैं।

आधुनिक मंदिर की सीढ़ियों के पूर्व-दक्षिण की ओर कुछ दूरी पर लगभग 6 फुट ऊँची एक मंदिर की नींव है, जिसमें वड़े आकार की ईंटों का प्रयोग हुआ है। इसकी चारों दिशाओं की ओर मुख्य प्रक्षेपण है। पश्चिमी दिशा का प्रक्षेपण अन्यों से स्पष्टतः वड़ा है। संभवतः इस ओर से ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ रहीं होंगी।

मंदिर की पूर्वी सीढ़ियों की तरफ जाने वाले मार्ग के उत्तर में ईंटों के 16 स्तूपों का समूह है। मंदिर के उत्तर की ओर ईंटों के तीन छोटे स्तूप थे, जिनके आधार चौकोर थे। इनमें से वीच वाले स्तूप के नीचे एक अन्य स्तूप था।

इन स्मारकों के अतिरिक्त यहाँ और भी अनेकों स्मारक (अंशतः खुदाई किये हुए) हैं, जो तिलर नदी के किनारे तक फैले हैं। इन सवको मुखर्जी के नेतृत्व में सन् 1899 ईसवी में केसर शमशेर जंगवहादुर राणा के निर्देशों पर खोद निकाला गया था। राणा द्वारा अन्य कलाकृतियाँ भी निकाली गईं, जो यहाँ के पुराने गेस्ट हाऊस में रखी हैं। इनमें से प्रमुख हैं–कुषाण-कालीन मथुरा शैली का चित्तिदार वलुआ पत्थर का भगवान बुद्ध का सिर, गुप्त शैली की अनेकों फलकें और मिट्टी के अनेकों शीश, पत्थर की 9वीं-10वीं शताब्दियों की मूर्तियाँ, जो मँजुश्री, मैत्रेय, लोकेश्वर और भगवान बुद्ध के श्रावस्ती चमत्कारों को दर्शाती हैं, एक 8वीं-9वीं शताब्दी की मिट्टी की फलिका जिस पर उस युग की लिपि में वौद्ध धर्मसार उत्कीर्ण है।

(5) आधुनिक विहार :- यहाँ पर दो आधुनिक विहार वनवाये गये हैं। पहला थेरवादी वौद्ध मंदिर है जो सन् 1956 में कुशीनगर के भिक्षु चन्द्रमणि महाथेर द्वारा निर्मित है और दूसरा एक तिव्वती मंदिर है।

प्राचीन स्मारकों के खण्डहरों और आधुनिक विहारों के बनने से लुंविनी समस्त वौद्ध अनुयायियों के लिए पुनः अत्यन्त महत्वपूर्ण तीर्थ स्थल वन गया है।

बोध-गया

विहार के गया नगर से लगभग 11-12 कि०मी० दक्षिण में स्थित वोध-गया वौद्ध धर्मानुयायियों के लिए सवसे पवित्र स्थल है। इसी स्थान पर भगवान वुद्ध ने वुद्धत्व या वोधि प्राप्त की थी। यह प्राचीन निरंजना (वर्तमान फल्गु) नदी के तट पर संवोधि या महावोधि के चारों ओर और प्राचीन उरूवेला (वर्तमान उरेल) नामक गाँव के निकट स्थित है। राजा अशोक ने अपने अभिलेखों में इसका नाम संबोधि दिया है, लेकिन इसका महावोधि नाम कव प्रचलन में आया, कहा नहीं जा सकता है। चीनी यात्री फा-ह्यान ने जो 409 ईसवी में यहाँ आये थे, इसके नाम के वारे में कुछ नहीं लिखा है। द्वितीय चीनी यात्री युवान-च्वांग ने, जो 637 ईसवी में यहाँ आये थे, इसका नाम महावोधि-विहार दिया है। इसके वाद से वोध-गया में प्राप्त हुए अभिलेखों में यही नाम प्रयुक्त हुआ है। केवल तिव्वती तीर्थयात्री धर्मस्वामी (छग-लो-त्स-व-छोस-रजे-द्पल) (chag-lo-tsa-ba–chos-rje-dpal) ने जो 1234 ईसवी में यहाँ आये थे, इसका नाम वज्रासन दिया है। वर्तमान में यह महावोधि के नाम से ही जाना जाता है।

भगवान बुद्ध ने यहाँ किस समय बोधि प्राप्त की इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद है, परन्तु अधिकतर विद्वान उनकी वोधि-प्राप्ति का समय 588 ईसा पूर्व मानते हैं और जन्म का समय ईसा पूर्व 623 मानते हैं। उस समय यह स्थल कैसा रहा होगा या भगवान ने यहाँ पहुँचने पर कैसी अनुभूति की होगी, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। ललित-विस्तर में दिये हुये वर्णन से कुछ सीमा तक तत्कालीन वोध-गया की भौगोलिक स्थिति जानी जा सकती है। इस ग्रन्थ का निम्नलिखित अंश पठनीय है–

"वोधिसत्व अपनी इच्छानुसार गयाशीर्ष पहाड़ी पर रुकने के उपरान्त पैदल चलते हुए उरुवेला गाँव पहुँचे । यहाँ उन्होंने निरंजना नदी, उसके स्वच्छ निर्मल जल, किनारे के पवित्र स्थल, ईंटों से बने मकान, पेड़ों, जड़ी-बूटियों, गोचर-भूमि आदि को देखा। उन्हें देख बोधिसत्व का चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ और उन्होंने कहा–मित्रों , वस्तुतः यह एक सुन्दर स्थल है, मेरे और मेरे आदरणीय युवा साथियों

के लिये, जो मोक्ष प्राप्ति के लिए इच्छुक हैं यह पूर्णतया उपयुक्त है। आइये हम यहाँ रुकें।"

इस प्रकार यह स्थल उनके छह वर्षों से थोड़ा कम समय तक किये गये उनके आध्यात्मिक प्रयासों का कर्मस्थल बना। यहाँ पर उन्होंने विभिन्न प्रकार की साधनाओं का अभ्यास किया। शरीर की भौतिक आवश्यकताओं को चरम निष्ठुरता से नियंत्रित किया। लेकिन उन्हें यथेच्छफल की प्राप्ति न हुई और अन्त में उन्होंने सुजाता द्वारा भेंट की गई खीर (पायस) को ग्रहण कर इस अलाभकारी मार्ग का परित्याग किया।

तत्पश्चात वे बोधिवृक्ष के निकट पहुँचे। उन्होंने मन में अटल निश्चय किया। उनकी तत्कालीन मनोस्थिति निम्नलिखित शब्दों से प्रकट होती है–

"चाहे इस आसन पर ही मेरा शरीर सूख जाये, चमड़ी, हड्डी व माँस नष्ट हो जायें, किन्तु यह शरीर इस स्थान से तब तक नहीं उठेगा जब तक कि उस बोधि को न प्राप्त कर लूँगा जिसको तमाम कल्पों में भी प्राप्त करना कठिन है।"

इस प्रकार अपने अथक प्रयासों से वोधिसत्व सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया। मार को पराजित कर दिया। उन्हें अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान हुआ, दिव्य चक्षुओं की प्राप्ति हुई, प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान हुआ और सर्वज्ञता प्राप्त हो गयी। धम्मपद की एक गाथा में उनका वह उद्‌गार वड़े सुन्दर शब्दों में संग्रहित है–

"मैं इस शरीर रूपी घर को बनाने वाले की खोज करता हुआ, अनेक जन्मों में संसार में जाता हुआ दौड़ता रहा। वार-बार जन्म लेना दुखदायी है। हे घर को वनाने वाले, मैंने तुम्हें देख लिया है, तुम अव फिर घर न वना सकोगे। तुम्हारी सव कड़ियाँ टूट गई हैं तथा घर का शिखर गिर गया है। मेरा चित्त संस्कार-रहित हो गया है। तृष्णाओं का विनाश हो गया है।"

भगवान बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद से ही यह स्थल वौद्ध मतावलंवियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण वन गया। उनके लिए तो यह विश्व-केन्द्र के समान है। महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार आनन्द द्वारा महापरिनिर्वाण के समय पूछे जाने पर भगवान ने स्वयं प्रत्येक बौद्ध के दर्शन के लिए निम्नलिखित चार स्थलों का निर्देश दिया था। वे चार स्थल हैं-- (1) लुंविनी, जहाँ उनका जन्म हुआ, (2) बोध-गया, जहाँ वोधि की प्राप्ति हुई, (3) सारनाथ (इसिपतन मिगदाव), जहाँ प्रथम धर्मोपदेश दिया गया और (4) कुशीनगर (कुसीनारा), जहाँ उनका महापरिनिर्वाण हुआ।

बोध-गया में वोधि-प्राप्ति और उसके वाद की अन्य सभी घटनाओं से संवंधित स्थलों पर निर्माण कार्य हुआ। सवसे प्राचीन साक्ष्यों से पता चलता है कि राजा

अशोक अपनी तीर्थ यात्रा के दौरान यहाँ आये थे और सर्वप्रथम निर्माण कार्य कराया। भरहुत से प्राप्त एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने यहाँ वज्रासन, उसके तथा बोधि-वृक्ष के चारों ओर चारदीवारी तथा एक हस्ति-स्तंभ (Elephant Capital Pillar) का निर्माण कराया। जनरल कनिघंम ने भी वर्तमान महाबोधि मंदिर को राजा अशोक द्वारा निर्मित मंदिर के अवशेषों पर ही निर्मित माना है। वर्तमान मंदिर लगभग दूसरी शताब्दी ईसवी का है। इसका काल-निर्धारण यहाँ से प्राप्त होने वाले अवशेषों से किया गया है, जिनमें कनिष्क के बाद के दूसरे कुषाण शासक हुविष्क की एक स्वर्ण मुद्रा भी है। यहाँ से प्राप्त इण्डो-सिथियन (Indo-Scythian) और गुप्त (वंशीय) अभिलेख भी मंदिर के निर्माण को राजा हुविष्क के शासन काल का ही बताते हैं। भगवान बुद्ध की सोने की पर्त-चढ़ी-हुई व भूमि-स्पर्श-मुद्रा वाली मूर्ति 380 ईसवी में मंदिर के गर्भ-गृह में स्थापित की गई थी।

चारदीवारी व वज्रासन सबसे प्राचीन हैं, संभवतः प्रथम शताब्दी ईसवी के। चारदीवारी के निर्माण में तीन स्त्रियों का विशेष योगदान था, जिनमें से दो मित्र वंश के राजाओं के अन्तःपुर की रानियाँ थीं। गुप्तकाल में इस चारदीवारी का विस्तार हुआ था।

बोध-गया से प्राप्त अभिलेखों के अनुसार गुप्त काल में (388 ईसवी में) श्रीलंका के राजा मेघवर्मा या मेघवर्ण ने यहाँ तीन ऊँची मीनारों वाले संघाराम का निर्माण कराया था, जो 30-40 फुट ऊँची दीवारों से घिरा हुआ था। वांग-हुयेन-त्से (Wang-hiuen-tse) के अनुसार भी उपरोक्त राजा ने गुप्त-वंश के राजा समुद्रगुप्त (A.D.335-76) के पास, श्रीलंका के भिक्षुओं व तीर्थ यात्रियों के रहने के लिए एक विहार बनवाने की आज्ञा लेने के लिए, एक पत्र भेजा था।

चीनी यात्री फा-ह्यान 409 ईसवी में यहाँ आये थे। उन्होंने अपने यात्रा विवरण में लिखा है – "जहाँ भगवान बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया था, वहाँ तीन विहार हैं जिनमें भिक्षु रहते हैं। वे जनसाधारण से बिना किसी रुकावट के बड़ी मात्रा में भेंट प्राप्त करते हैं। संघ में उसी प्रकार विनय के नियमों का पालन होता था, जिस प्रकार भगवान बुद्ध के जीवन काल में बैठते-उठते या सभा में सम्मिलित होते समय, उनके आचरण की गंभीरता आज तक वैसी ही चली आ रही है।"

चीनी यात्री युवान-च्वांग ने, जो फा-ह्यान से लगभग दो शताब्दी बाद 637 ईसवी में यहाँ आये थे, इस संघाराम का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है– "बोधि-वृक्ष की चारदीवारी के बाँयें द्वार के बाहर महाबोधि संघाराम है। यह श्रीलंका

के एक राजा द्वारा बनवाया गया था। इस भवन में छः बड़े कमरे हैं तथा मंदिर की तीन मंजिली मीनारें हैं। इस विहार में एक हजार से अधिक भिक्षु हैं, जो स्थविर परंपरा के महायानी हैं, तथा विनय पालन में परिशुद्ध हैं।"

श्रीलंका का बोध-गया के साथ घनिष्ठ संवंध अशोक के शासन काल में अनुराधपुर में लगाई गई बोधि-वृक्ष की शाखा के समय से ही रहा है। यहाँ तक कि पहली शताव्दी ईसा पूर्व में ताम्रपर्णी (श्रीलंका) के एक तीर्थ यात्री ने बोधि-वृक्ष की चारदीवारी के दान में भाग लिया था। पाँचवी शताव्दी ईसवी में लंका के राजवंश से संबंधित श्रमण प्रख्यातकीर्ति ने रत्न-त्रय में पूजा की थी। इसके एक शताव्दी बाद वहाँ के एक स्थविर महानाम ने एक बुद्ध-प्रतिमा भेंट की थी। 588-89 ईसवी में महानाम ने बोधिमण्ड में एक बुद्ध-कुटी का निर्माण कराया था। पटना संग्रहालय में रखे एक अभिलेख के अनुसार 12 वीं शताव्दी में श्रीलंका के उदयश्री द्वारा एक बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना हुई थी।

पाल वंशीय राजाओं के लंवे शासन काल में यह स्थल खूव फला-फूला। यहाँ से प्राप्त कुछ अभिलेख, जो यहाँ दी गई भेंटों का वर्णन करते हैं, इस वंश के राजाओं के राज्यकाल के हैं। 1010 ईसवी में स्वयं राजा महीपाल ने यहाँ कुछ मरम्मत का काम कराया था। मंदिर के भीतर और आस-पास प्राप्त होने वाली अधिकतर मूर्तियाँ इसी काल से संवंधित हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध, बोधि-वृक्ष के नीचे भूमि-स्पर्श मुद्रा में वैठे हुए भगवान बुद्ध की प्रतिमा है। वज्रयान सहित बुद्ध व अन्य देवताओं की प्रतिमायें भी यहाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं।

तिव्वती तीर्थ यात्री धर्मस्वामी ने, जो यहाँ 1234 ईसवी में आये थे, बोध-गया का कुछ दूसरा ही रूप देखा। उनके शब्दों में–"यह स्थल वीरान हो गया था और विहार में केवल चार भिक्षु रहते हुए मिले। उनमें से एक ने कहा–यह अच्छा नहीं है। तुरुष्क (तुर्क) सेना के भय से सभी भाग गये हैं। उन्होंने महाबोधि-प्रतिमा के सामने का द्वार ईंटों से बन्द कर दिया और लेप कर दिया। इसके निकट उन्होंने विकल्प के रूप में एक अन्य प्रतिमा रख दी। फिर उन्होंने वाहर द्वार पर भी लेप कर दिया। उसके ऊपर उन्होंने अ-वौद्धों से बचाव के लिए महेश्वर की एक प्रतिमा बना दी।"

इसके वाद धर्मस्वामी सहित चारों भिक्षु भी जंगल में चले गये। धर्मस्वामी मगध के राजा बुद्धसेन से भी मिले, जो कि वज्रासन के निकट ही रहते थे और मुस्लिमों के आक्रमण के बाद परिस्थितियों के सामान्य होने पर जंगल से वापस आये थे। राजा बुद्धसेन वौद्ध थे। बोध-गया से प्राप्त उनके अभिलेखों से पता चलता है कि उन्होंने श्रीलंका के स्थविरों को दान देने के साथ ही साथ कमा के राजा के आध्यात्मिक

गुरू भिक्षु पण्डित श्री-धर्मरक्षित को भी दान दिया था। कमा का राजा पुरुषोत्तम सिंह सपादलक्ष के राजा अशोकछल्ल का समकालीन था। निर्वाण संवत के सन् 1813 के एक अभिलेख के अनुसार धर्मरक्षित कमा के राजा पुरुषोत्तम सिंह के द्वारा बनवायी जाने वाली बुद्ध की गन्ध कुटी के निर्माण का निर्देशन करने वोध-गया आये थे। कमा के राजा ने छिन्द राजा और अशोकछल्ल से पतनोन्मुख बौद्ध धर्म की रक्षा करने की प्रार्थना की थी। राजा अशोकछल्ल के राज्यकाल के दो अभिलेख उपलब्ध हैं, जिनमें उनके द्वारा महाबोधि स्थल की उन्नति में रुचि लेने का ज्ञान होता है। प्रथम अभिलेख, जो लक्ष्मणसेन के अतीत-राज्य के 51वें वर्ष का है, राजा (जिसे परमोपासक तथा महायानी कहा गया है) की सहमति से कुछ व्यक्तियों द्वारा एक बुद्ध प्रतिमा सहित एक बौद्ध विहार के निर्माण का वर्णन करता है। राजा अशोकछल्ल ने प्रति दिन के चढ़ावे और दीपों आदि की भी व्यवस्था की थी, जो केवल महाबोधि स्थित श्रीलंका के भिक्षु समुदाय द्वारा ही प्रतिमा को चढ़ाये जाते थे। दूसरा अभिलेख, जो कि निर्वाण संवत के 74वें वर्ष का है, अशोकछल्ल के छोटे भाई राजकुमार दशरथ के एक बौद्ध अधिकारी द्वारा अनिर्दिष्ट दान के बारे में बतलाता है।

राजा बुद्धसेन के पुत्र जयसेन (जिसे उसके पिता के समान पीठाधिपति और आचार्य कहा गया है) की भी रुचि बौद्ध धर्म की ओर थी। उसने वज्रासन को एक गाँव भेंट किया था और देखभाल का काम श्रीलंका के मूलनिवासी त्रिपिटकाचार्य भिक्षु मंगलस्वामी को दिया था। इस तथ्य से पता चलता है कि उस समय वज्रासन का पूर्ण प्रवन्ध श्रीलंका के भिक्षुओं के हाथ में था। ऊपर वर्णित राजा अशोकछल्ल के अभिलेख भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। इसके साथ ही साथ धर्मस्वामी का निम्नलिखित वर्णन तो इसमें कोई सन्देह ही नहीं रहने देता–"महाबोधि मंदिर के बाहर एक तीर की मार की दूरी पर, वर्गाकार दीवार के पूर्वी, पश्चिमी व उत्तरी तीन द्वार थे। तीनों बड़े द्वारों के भीतर मंदिर निवासी भिक्षुओं के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं सो सकता है। यहाँ श्रीलंका के श्रावक संप्रदाय के 300 भिक्षु हैं। दूसरे संप्रदाय के भिक्षुओं को ये अधिकार नहीं हैं।" इन लोगों को, अपने मत के सिद्धान्तों के अनुसार महायान-वज्रयान का पालन करने वालों से अत्यन्त घृणा थी। वज्रासन संघ विहार के एक श्रावक ने तो धर्मस्वामी से महायान अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता की पाण्डुलिपि को (जिसको उन्होंने अपने हाथों में पकड़ रखा था) नदी में फेंक देने को कहा और खर्सपण की पूजा करने से मना किया (जो कि एक गृहस्थ थे)।

तेरहवीं शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध के आस-पास बर्मियों ने इस महाबोधि मंदिर के रख-रखाव व उन्नति में रुचि ली। यहाँ से प्राप्त बर्मी लिपि के अभिलेखों से कम से कम तीन बार इसकी मरम्मत कराये जाने और इसके लिये दान दिये जाने

का पता चलता है। इनमें से एक अभिलेख का अत्यन्त महत्व है। यह तेरहवीं शताब्दी ईसवी के अन्तिम दशक में बर्मा के राजा द्वारा अपने दूतों के माध्यम से इस मंदिर की पूर्ण मरम्मत कराये जाने का वर्णन करने के साथ ही साथ अशोक के समय से इसके तीसरे पुनरोद्धार तक के इतिहास का वर्णन प्रस्तुत करता है। चौदहवीं शताब्दी में भी मुसलमानों द्वारा उत्तरी भारत को जीत लिये जाने के काफी बाद तक, बोध-गया के प्रयोग में होने का पता [तीर्थ यात्रियों द्वारा पथ फलकों (Pavement slabs) पर अंकित कराये गये वर्णन से] चलता है। इसके बाद से ही यह नियति के हाथों मे चला गया और पतनोन्मुख हो गया। पग सम जोन जंग (Pag sam jon zang) के अनुसार 15वीं शताब्दी ईसवी के मध्य में बंगाल के छग्लराज की रानी ने गण्ढोल (महाबोधि मंदिर) की मरम्मत कराई थी। बौद्धों द्वारा इस स्थल को छोड़ दिये जाने के कारण और सुदूर के तीर्थ यात्रियों के कभी कभार ही आने के कारण यह शैव पुजारियों (गिरियों) के हाथों में चला गया, जिन्होंने 1590 ईसवी में इसके बगल में एक मठ का निर्माण कर लिया। उन्होंने 18वीं शताब्दी में मुगल शासक द्वारा तारदिह नामक गाँव को भेंट में प्राप्त कर लिया, जिसमें कि यह मंदिर स्थित है। धर्मस्वामी द्वारा इस मंदिर के बाहरी द्वार पर महेश्वर के चित्र का वर्णन काफी पहले से इस स्थल पर शैवों की उपस्थिति का आभास देता है।

यूरोपियन विद्वानों में सर्वप्रथम 1811 ईसवी में बुचनन हेमिल्टन यहाँ आये और इसको अत्यन्त जीर्ण अवस्था में पाया। 1861 ईसवी में जनरल कनिंघम को भी इसका वही रूप देखने को मिला। 1875 ईसवी में बर्मा के राजा मिण्डन मिन ने भारत सरकार की आज्ञा से यहाँ मरम्मत का काम प्रारंभ कराया। सन्तोषप्रद काम न होने के कारण भारत सरकार ने 1880 ईसवी में जे०डी० बेगलर को इसके पुनरोद्धार का काम सौंपा। कनिंघम और राजेन्द्रलाल मित्र ने भी निर्देशन का काम किया। इस प्रकार यह वर्तमान स्वरूप में आया। इस समय यहाँ पर एक संग्रहालय भी स्थापित किया गया है, जिसमें मंदिर तथा आस-पास प्राप्त हुई कलाकृतियों को संग्रहित किया गया है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि बोध-गया में भगवान बुद्ध की बोधि प्राप्ति के समय से ही निर्माण कार्य होते रहे हैं। वर्तमान में बोध-गया में महाबोधि मंदिर, बोधि-वृक्ष, वज्रासन, चंक्रमण स्थल और यहाँ पर बुद्ध के द्वारा कई सप्ताह व्यतीत किये गये समय से संबंधित महत्वपूर्ण स्थलों पर निर्माण कार्य उपलब्ध होता है।

मुख्य स्थल

(1) महाबोधि मंदिर :- यह मंदिर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अत्यन्त प्राचीन काल से इसी रूप में बचा हुआ है। युवान-च्वांग ने यहाँ पहुँचने पर इसका जो वर्णन किया और 1880 ईसवी के लगभग इसकी मरम्मत के समय की इसकी अवस्था में पूर्णतया समानता है। इसका वर्तमान स्वरूप जानने से पहले युवान-च्वांग के वर्णन को जानना अच्छा होगा– "बोधिवृक्ष के पूर्व में एक विहार है जो लगभग 160 या 170 फुट ऊँचा है तथा इसका आधार लगभग 50 फुट चौड़ा है। इमारत नीली ईंटों की बनी हुई है और उनके ऊपर चूने का लेप हुआ है। इसमें अनेकों आले बने हुए हैं, जिनमें भगवान बुद्ध की ताँबे की पर्त चढ़ी मूर्तियाँ हैं। दीवारें चारों तरफ से सुन्दर कलाकृतियों, मोतियों के तोरण और ऋषियों की आकृतियों से भरी पड़ी हैं। इसके शिखर पर एक ताँबे की पर्त चढ़ा आमलक फल है। प्रस्तर पाद (Architraves), स्तंभ, द्वार और खिड़कियाँ आदि सभी स्वर्ण और रजत आवरण से सजे हैं और उनमें मोती व अन्य मूल्यवान रत्न जड़े हैं। बाहरी द्वार के दोनों ओर बड़े प्रकोष्ठनुमा आले हैं जिनमें मैत्रय बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर की प्रतिमायें हैं। दोनों मूर्तियाँ ठोस चाँदी (रजत) की हैं तथा लगभग 10 फुट ऊँची हैं।"

मंदिर का वर्तमान स्वरूप भी लगभग उपरोक्त वर्णन जैसा ही है। यह मंदिर लगभग 170 फुट ऊँचा और आधार में लगभग 50 फुट चौड़ा है। यह पिरामिड-नुमा मीनार के आकार का है तथा शिखर पर एक बर्मी स्तूप बना है, जो आमलक फल के आकार का है। इसका प्रवेश द्वार पूर्व की ओर है। मीनार के चारों ओर आलों की अनेक पंक्तियाँ हैं, जबकि आगे की ओर गर्भ-गृह में रोशनी जाने के लिए लंबा झरोखा है। मंदिर के आधार में चारों कोनों पर मीनारें हैं, जो मंदिर की ही लघु प्रतिकृति हैं। मंदिर नीली ईंटों का बना है तथा उनके ऊपर लेप किया हुआ है। मुख्य प्रवेश द्वार के दोनों ओर के आलों में बुद्ध प्रतिमायें हैं। मंदिर में गर्भ-गृह का रास्ता मेहराबदार है। मुख्य द्वार तथा स्तंभ प्रस्तर निर्मित हैं। गर्भ-गृह में भगवान बुद्ध की पर्त चढ़ी भूमि-स्पर्श मुद्रा की मूर्ति स्थापित है।

मंदिर के ऊपरी तल पर जाने के लिये प्रवेश के निकट के बाहरी कक्ष के दोनों ओर पत्थर की सीढ़ियाँ हैं। द्वितीय तल पर मुख्य मीनार के चारों तरफ प्रदक्षिणा के लिए एक चौड़ा व खुला स्थल है। चारों कोनों पर बनी मीनारें जो मुख्य मंदिर की लघु प्रतिकृति हैं, मंदिर को सन्तुलन व भव्यता प्रदान करती हैं। पश्चिम की ओर की दोनों मीनारों में बोधिसत्व की मूर्तियाँ हैं और पूर्व की दोनों मीनारों से

सीढ़ियों का रास्ता है, जहाँ बुद्ध की दो बड़ी मूर्तियाँ हैं। प्रदक्षिणा पथ के प्राकारों (मुँडेरों) पर अनेक प्रतीकात्मक स्तूप बने हैं जिनमें से पूर्व दिशा के स्तूप सबसे अच्छे हैं। द्वितीय तल पर मुख्य मीनार के नीचे वेदी में एक काफी बड़ी बोधिसत्व-प्रतिमा स्थापित है।

महाबोधि मंदिर की बाहरी दीवार पर अनेकों आले, कलाकृतियाँ व मूर्तियाँ हैं। पश्चिमी दीवार के मुख्य आले में एक अत्यन्त सुन्दर बुद्ध-प्रतिमा है।

(2) बोधिवृक्ष :- भगवान बुद्ध ने बोध-गया में बोधि प्राप्त करने के बाद सात सप्ताह समाधि व ध्यान करते हुए व्यतीत किये थे। प्रत्येक सप्ताह वे भिन्न-भिन्न जगहों पर रहे। उन्होंने अपना प्रथम सप्ताह इसी वृक्ष के नीचे व्यतीत किया, जहाँ उनको बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी। यह पवित्र बोधिवृक्ष जिसके नीचे सिद्धार्थ ने बोधि प्राप्त की, मंदिर के पश्चिम में है। यह वृक्ष कई बार गिर चुका है तथा काटा भी गया है। लेंकिन एक शाखा श्रीलंका के अनुराधपुर में सुरक्षित है। 1881 ईसवी में जनरल कनिंघम ने उसी की एक शाखा को बोधि वृक्ष के वास्तविक स्थल पर लगवाया जो कि वर्तमान बोधि-वृक्ष है।

(3) वज्रासन :- वज्रासन, बोधिवृक्ष तथा मंदिर के मध्य स्थित है और उस स्थल को दर्शाता है, जहाँ भगवान बुद्ध बोधि प्राप्ति के लिए बैठे थे। वज्रासन लाल प्रस्तर खण्ड का बना है। वह 7 फुट 6 इंच लंबा, 4 फुट 3 इंच चौड़ा और लगभग 3 फुट ऊँचा है। बोधिवृक्ष और वज्रासन के चारों ओर पक्का प्रदक्षिणा-पथ है और अत्यन्त सुन्दर चारदीवारी बनी हुई है। सर्वप्रथम राजा अशोक ने चारदीवारी बनवाई थी और उसके बाद गुप्तकाल में इसका पुनः निर्माण हुआ।

(4) अनिमेषलोचन स्तूप :- भगवान ने बोधि-प्राप्ति के वाद दूसरा सप्ताह यहाँ व्यतीत किया था। वे उस समय इतने आनन्दमय थे कि इस स्थल से बोधिवृक्ष को एक सप्ताह तक अपलक निहारते रहे। यह स्तूप मंदिर के प्राँगण में ही उत्तर-पूर्व की ओर है और ईंटों का बना है, जिनमें से कुछ पर कलाकृतियाँ भी बनी हैं। यह चूने से पोता हुआ है और इसमें एक बुद्ध प्रतिमा भी निर्मित है।

(5) चंक्रमण :- भगवान ने तीसरा सप्ताह चंक्रमण करते हुए व्यतीत किया था। यह स्थल मुख्य मंदिर के उत्तर की ओर है। यहाँ एक 53 फुट लंबा, 3 फुट 6 इंच चौड़ा तथा 3 फुट ऊँचा चबूतरा बना है, जिस पर भगवान के चरणों के निशानों को प्रदर्शित करने के लिए कमल के फूल बने हुए हैं। यह स्थल पहले स्तंभों पर निर्मित छत से ढँका हुआ था, परन्तु अब स्तंभों के अवशेष मात्र ही दृष्टिगोचर होते हैं।

(6) रत्नगृह :- इस छत-रहित स्थल पर भगवान बुद्ध की समाधि मुद्रा में एक प्रतिमा स्थित है जो यहाँ बिताये गये चौथे सप्ताह को दर्शाती है। बोधि-प्राप्ति के बाद का चौथा सप्ताह भगवान ने समाधि में लीन होकर व्यतीत किया था। यह चंक्रमण के उत्तर-पश्चिम में मंदिर के प्राँगण में ही स्थित है।

(7) अजपाल निग्रोध वृक्ष :- भगवान बुद्ध ने पाँचवा सप्ताह इस वृक्ष के नीचे व्यतीत किया था। यहीं पर एक किसान की पुत्री सुजाता ने अपने नवजात पुत्र की प्राप्ति की खुशी में भगवान को खीर (पायस) अर्पित की थी, जिसको ग्रहण करके भगवान ने अपना व्रत तोड़ा था। इसके वाद ही वे निरंजना में स्नान करने के वाद बोधि-वृक्ष के नीचे बोधि प्राप्ति के लिए बैठे थे। मंदिर के प्राँगण के प्रवेश द्वार के दाँयी ओर यह वृक्ष है, जो एक सफेद फलक पर वर्मी अभिलेख द्वारा दर्शाया गया है।

(8) मुचलिन्द झील :- भगवान ने छठा सप्ताह मुचलिन्द झील के निकट व्यतीत किया था। यह स्थल अशोक के टूटे हुए स्तंभ के द्वारा दर्शाया गया है। स्तंभ एक पीपल वृक्ष तथा झील के प्रवेश के निकट स्थित है। इसी वृक्ष के नीचे भगवान समाधि अवस्था में थे, जब मार ने तूफान व वर्पा द्वारा उनकी समाधि में व्यवधान उपस्थित करने का प्रयास किया था। उसी समय झील के तल में रहने वाले नागराज मुचलिन्द बाहर आये, भगवान के पूरे शरीर को लपेट लिया और उनके सिर पर सात फनों द्वारा छाया कर दी। इससे भगवान बुद्ध विना किसी व्यवधान के समाधि में लीन रहे।

(9) रजत वृक्ष :- भगवान ने सातवाँ और अन्तिम सप्ताह बोध-गया में इस वृक्ष के नीचे व्यतीत किया था। उस समय यहाँ एक रजत वृक्ष था। यह वृक्ष अब भारत में दुर्लभ हो चुका है। अतः 70 वर्ष पूर्व बर्मा से इसे लाकर ठीक उसी स्थान पर आरोपित किया गया। यहीं पर उन्होंने सवसे पहले उत्कल के दो व्यापारियों, तपस्सु और भल्लिक, जो यहाँ से गुजर रहे थे, को अपना शिष्य वनाया। अपने इसी अन्तिम सप्ताह में ही भगवान बुद्ध ने मानव के दुःख को दूर करने के लिए अपनी शिक्षाओं का प्रचार व प्रसार करने का निर्णय लिया था और अपने पूर्व सहयोगियों, पंचवर्गीय भिक्षुओं को सर्वप्रथम उपदेश देने के लिए सारनाथ की ओर प्रस्थान किया था।

सारनाथ

वौद्धों का अत्यन्त महत्वपूर्ण तीर्थ स्थल सारनाथ वाराणसी से लगभग 6.4 कि० मी० उत्तर में है। सारनाथ का प्राचीन नाम ऋषिपत्तन मृगदाव था। एक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थ महावस्तु के अनुसार यहाँ के आश्रम में 500 (पाँच सौ) प्रत्येक बुद्ध या ऋषि रहते थे और निर्वाण प्राप्ति के बाद उन्होंने यहीं अपना शरीर त्यागा था। इसी कारण से इस स्थल का नाम ऋपिपत्तन (इसिपतन) पड़ा। 'मृगदाव' नाम का श्रोत एक पुरानी जातक है, जिसके अनुसार यहाँ के जंगलों में मृगों के झुण्ड रहते थे जिन्हें काशी के राजा ने न्यग्रोधमृग के रूप में उत्पन्न वोधिसत्व की आत्म-बलिदान की भावना से प्रभावित हो कर अभयदान दे रखा था। मध्य कालीन अभिलेखों में इस स्थान का नाम धर्मचक्र या सधर्मचक्र-प्रवर्तन-विहार मिलता है। आधुनिक नाम सारनाथ 'सारंगनाथ' (मृगों का नाथ) से लिया गया प्रतीत होता है, जो कि एक मंदिर में उत्कीर्ण है।

बोध-गया में बोधि प्राप्ति के वाद सर्वप्रथम भगवान बुद्ध ने सारनाथ में अपने धर्म का उपदेश पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। इसे वौद्ध साहित्य में धर्मचक्र प्रवर्तन कहा जाता है। उन्होंने चार आर्य सत्य, मध्यम प्रतिपदा तथा अष्टाँगिक मार्ग के रूप में जीवन की मूल समस्याओं व उनके समाधानों को वताया और बौद्ध धर्म की नींव रखी। यहीं सारनाथ में ही उन्होंने संघ की भी स्थापना की। पंचवर्गीय भिक्षुओं, काशी के एक श्रेष्ठी पुत्र यश और उसके 54 (चौवन) साथियों को लेकर बुद्ध ने साठ भिक्षुओं (स्वयं बुद्ध को सम्मिलित करके) का संघ बनाया और उन्हें धर्म का प्रचार करने के लिए निम्नलिखित शव्दों में निर्देश देते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों पर भेजा– "चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय वहुजनसुखाय लोकानुकंपाय अत्थाय हिताय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे अगमित्थ"– (महावग्ग, विनयपिटक)।

इस प्रकार सारनाथ में ही धर्म और संघ की स्थापना हुई और वह वौद्धों का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल बन गया। जैन धर्मावलंवियों के लिए भी इसका अत्यन्त महत्व है, क्योंकि उनके ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ की भी यही कर्म स्थली रही है। यहीं पर उन्होंने साधना की और शरीरान्त किया।

तदनन्तर सारनाथ बुद्ध के ही समय में एक महत्वपूर्ण वौद्ध केन्द्र वन गया था और यहाँ कई मंदिरों व विहारों का निर्माण हुआ। परन्तु उनके कोई भी अवशेष या चिह्न अव उपलब्ध नहीं है। सवसे प्राचीन अवशेष राजा अशोक के काल के उपलब्ध होते हैं, जव वे बुद्ध-निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष वाद यहाँ आये थे। उन्होंने यहाँ पर कई स्मारकों का निर्माण करवाया। उनमें से प्रमुख हैं–धर्मराजिक स्तूप, सिंह-स्तंभ आदि। इस सिंह-स्तंभ का ऊपरी भाग आधुनिक 'भारत' द्वारा अपने राष्ट्रीय चिह्न के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। उस पर बने धर्मचक्र को भारतीय झण्डे के मध्य स्थान दिया गया है। संभवतः धम्मेख (धर्मेख) स्तूप की स्थापना भी अशोक ने ही की थी।

ईसा पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी में शुंग राज्य अस्तित्व में आया, परन्तु उस समय का कोई भी अभिलेख यहाँ प्राप्त नहीं हुआ है। पहली शताव्दी ईसा पूर्व में एक सुन्दर पत्थर की वेदिका या चारदीवारी धर्मराजिक स्तूप के चारों ओर बनायी गयी थी, जिसके सुन्दर स्तंभ यहाँ प्राप्त हुए हैं।

प्रथम शताब्दी ईसवी के लगभग उत्तर भारत में कुषाण सम्राट कनिष्क के साम्राज्य की स्थापना से बौद्ध धर्म ने धार्मिक और कलात्मक कार्यों के नये दौर में प्रवेश किया। इस समय सारनाथ की पुनः उन्नति हुई। सारनाथ में भगवान बुद्ध के चंक्रमण स्थल पर कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष में मथुरा के त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल ने एक विशालकाय बोधिसत्व प्रतिमा की स्थापना की। यह मूर्ति धर्मराजिक स्तूप के निकट प्राप्त हुई थी। मूर्ति के लेख में क्षत्रप वनष्पर और महाक्षत्रप खरपल्लान की सहायता का उल्लेख है, जो संभवतः उस समय सारनाथ के शासक थे। उस समय सारनाथ पर सर्वास्तिवाद संप्रदाय के भिक्षुओं का नियंत्रण था और उन्होंने यहाँ कई विहार स्थापित किये थे।

सारनाथ का पूर्ण अभ्युदय तो गुप्तकाल में हुआ था। उस समय यह मथुरा के अतिरिक्त उत्तर भारत में कला का सवसे बड़ा केन्द्र था। सारनाथ से प्राप्त, धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बैठे हुए भगवान बुद्ध की भव्य मूर्ति देश की सवसे सुन्दर मूर्तियों में से एक है। इसी समय मूलगन्ध कुटी का विस्तार कार्य तथा धम्मेख स्तूप के ऊपर सुन्दर कलाकृतियों वाले प्रस्तर फलकों से आवरण किया गया। चीनी यात्री फा-ह्यान लगभग पाँचवी शताब्दी ईसवी में (चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में) सारनाथ आये थे और उन्होंने यहाँ चार स्तूप और दो भिक्षु विहारों को देखा था। एक बुद्ध-मूर्ति पर 'देय-धर्मोयम् कुमारगुप्तस्य' लिखा मिलता है, जिससे यह मूर्ति कुमारगुप्त के द्वारा दान की गई प्रतीत होती है। स्कंदगुप्त का कोई अभिलेख नहीं प्राप्त हुआ है, परन्तु सारनाथ का वैभव उस काल में पूर्ववत् वना रहा। कुमारगुप्त द्वितीय (473

ईसवी) और सम्राट बुद्धगुप्त (476 ईसवी) के समय की भी एक-एक बुद्ध मूर्ति प्राप्त हुई हैं, जिन पर अभिलेख उत्कीर्ण हैं। सातवीं शताब्दी ईसवी में हर्ष के राज्य में चीनी यात्री युवान-च्वांग ने सारनाथ की यात्रा की थी और उसका वर्णन किया था। उन्होंने यहाँ राजा अशोक द्वारा निर्मित धर्मराजिक स्तूप और स्तंभ को देखा। उनके अनुसार स्तंभ 21.33 मीटर ऊँचा और शीशे के समान चमक रहा था। यहाँ के संघाराम में हीनयान की सम्मितीय शाखा के 1,500 (एक हजार पाँच सौ) भिक्षु रहते थे। सबसे विशिष्ट वस्तु 65.96 मीटर ऊँची मूलगन्ध कुटी थी, जिसमें धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में भगवान बुद्ध की एक धातु-मूर्ति थी।

हर्ष के बाद और महमूद गज़नवी के आक्रमण के बीच के कई सौ वर्षों का इतिहास उपलब्ध नहीं है। महमूद गज़नवी ने वाराणसी की लूट के समय (1017 ईसवी) सारनाथ पर भी धावा किया था। उसके नौ वर्ष बाद 1026 ईसवी में राजा महीपाल के राज्यकाल में स्थिरपाल और वसन्तपाल नाम के दो भाइयों ने उनकी प्रेरणा से धर्मराजिक और धर्मचक्र नामक स्मारकों का पुनरोद्धार किया था। इस प्रकार पाल राजाओं के काल में भी इस स्थल का महत्व बना रहा। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में गौड़ के राजा महीपाल और कलचुरि कर्णदेव के परस्पर युद्ध के परिणामस्वरूप यह स्थान कर्णदेव के प्रभाव में आ गया था। धम्मेख स्तूप के पूर्व में स्थित एक विहार से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक महायानी भिक्षु ने 1058 ईसवी में अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ की प्रतिलिपि सधर्मचक्र-प्रवर्तन-महाविहार में रहने वाले भिक्षुओं को भेंट की थी।

सारनाथ का अन्तिम (निर्मित) स्मारक गहड़वाल वंश के महाराजा गोविन्दचन्द्रदेव (1114-1154 ईसवी) के काल का है, जब उन्होंने कन्नौज, अयोध्या और काशी पर कब्ज़ा कर लिया था। उनकी रानी कुमारदेवी बौद्ध उपासिका थीं। उन्होंने धर्मचक्र-जिन-विहार नामक एक विहार का निर्माण कराया था। इसके उपरान्त बौद्ध धर्म के केन्द्र के रूप में सारनाथ की प्रतिष्ठा समाप्त हो गई।

एक लंबे समय तक सारनाथ का ज्ञान संसार को नहीं था। वह पुनः 1794 ईसवी में प्रकाश में आया, जब बनारस के राजा चेतसिंह के दीवान बाबू जगतसिंह ने धर्मराजिक स्तूप को इमारती सामान की खोज में उधेड़ डाला। उस समय स्तूप के भीतर पत्थर की गोल पेटी में रखी हुई हरे रंग के पत्थर की एक मँजूषा मिली थी, जिसमें बुद्ध के धातु-अवशेष थे। उन्हें निकट की नदी गंगा में बहा दिया गया। पत्थर का बक्सा कलकत्ता के संग्रहालय में रखा हुआ है। काशी के तत्कालीन अधिकारी श्री डंकन ने 1798 ईसवी में इस खुदाई का वर्णन किया था, जिससे

लोगों का ध्यान सारनाथ के ध्वंसावशेषों की ओर गया। उसके पश्चात कर्नल मैकेंज़ी ने भी खुदाई की और उससे प्राप्त कुछ मूर्तियाँ कलकत्ता संग्रहालय में ले जाई गईं।

सन् 1836 ईसवी में सर कनिंघम ने सारनाथ की खुदाई का कार्य अपने हाथों में लिया। उन्होंने चौखण्डी स्तूप की जाँच-पड़ताल की, धम्मेख स्तूप को खोला और उसके भीतर से 'ये धर्मा हेतु प्रभवा' इत्यादि बौद्ध मंत्र से अभिलिखित एक शिलापट्ट प्राप्त किया। इसके साथ ही धर्मराजिक स्तूप के पास एक विहार और एक मंदिर की खुदाई की। उस समय प्राप्त बहुत सी मूर्तियाँ कलकत्ता संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। इसके बाद सारनाथ पर पुनः विपत्ति आई। कनिंघम द्वारा छोड़ी गयी 40 मूर्तियों सहित 50-60 गाड़ियाँ भरकर पत्थर का सामान समीप की बरना नदी पर बनने वाले पुल के खंभों की नींव में गला दिया गया। एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थल के प्रति इतनी लापरवाही का शायद ही कोई दूसरा उदाहरण मिले।

सन् 1851-52 ईसवी में मेजर किट्टो ने धम्मेख स्तूप के निकट कई स्थानों को खोदा और जैन मंदिर के पास एक विहार खोजा। यहाँ से बहुत से सिल-लोढ़ों के प्राप्त होने के कारण उसे पहले अस्पताल मान लिया गया था, परन्तु अब उसे विहार (संख्या 6) माना जाता है। इसके बाद खुदाई का काम कई लोगों द्वारा होता रहा, उनमें प्रमुख हैं–ई० थॉमस, फित्ज एडवर्ड हॉल और सी० होर्न (सन् 1865 ईसवी)।

खुदाई के काम का अगला चरण सन् 1904-05 ईसवी में शुरू हुआ, जब पुरातत्व सर्वेक्षण के निर्देशों के अनुसार एफ०ओ० ओरटल ने इस कार्य को अपने हाथों में लिया। उन्होंने मूलगन्ध-कुटी को खोजा, अशोक का स्तंभ प्राप्त किया और चौखण्डी का पुनः निरीक्षण किया तथा यहाँ से अनेकों कलाकृतियों व अभिलेखों को प्राप्त किया। भगवान बुद्ध की धर्मोपदेश मुद्रा वाली जग प्रसिद्ध मूर्ति उनके द्वारा ही प्राप्त हुई थी।

सन् 1907 ईसवी में सर जॉन मार्शल ने इस स्थल के उत्तरी व दक्षिणी भागों की खुदाई कराई और यहाँ पर कुषाण कालीन तीन विहार और 12वीं शताब्दी के कुमारदेवी के विहार को प्राप्त किया। सन् 1914-15 में एच० हरग्रीवस ने मूलगन्ध कुटी के पूर्व व पश्चिम में खोज की और कुमारगुप्त द्वितीय व बुद्धगुप्त के अभिलेखों को प्राप्त किया। अन्त में दयाराम साहनी ने उत्खनन कार्य कराया तथा धम्मेख स्तूप, मूलगन्ध कुटी और विहार संख्या 2 के मध्य के समस्त क्षेत्र की खुदाई कराई।

खुदाई से प्राप्त सारनाथ के स्मारकों में तीन स्तूप, दो मंदिर, अशोक सिंह स्तंभ और सात विहार प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन कलाकृतियों का संग्रह समीप के एक संग्रहालय में है। आधुनिक इमारतों में मूलगन्ध कुटी विहार भी दर्शनीय है,

जो अनागारिक धम्मपाल द्वारा बनवाया गया था। सारनाथ के स्मारकों का सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

मुख्य स्थल

(1) चौखण्डी स्तूप :– सारनाथ के मुख्य स्मारक स्थलों से लगभग 0.8 कि० मीटर दक्षिण पश्चिम में ईंटों का एक ऊँचा थूहा (टीला) है, जो चौखण्डी स्तूप के नाम से जाना जाता है। चीनी यात्रा युवान-च्वांग ने इसकी ऊँचाई 91.44 मीटर वताई है। आज इसके ऊपर एक अठपहल बुर्जी बनी है, जिसे मुगल वादशाह अकबर की आज्ञानुसार राजा टोडरमल के पुत्र राजा गोवर्धन ने सन् 1588 ईसवी में बनवाया था। यहाँ से प्राप्त अभिलेख में सम्राट हुमायूँ द्वारा (यहाँ) एक रात व्यतीत किये जाने का वर्णन है, जिसकी यादगार के रूप में इस बुर्ज का निर्माण किया गया था।

इस स्तूप का चौखण्डी नाम प्राचीन प्रतीत होता है, क्योंकि यह स्तूप एक चौकोर कुर्सी पर क्रमशः घटती हुई तीन भूमियों या मंजिलों से वना है, जो ठोस ईटों की हैं। संभवतः सवसे ऊपर की मंजिल की खुली छत पर कोई प्रतिमा स्थापित की गई थी। गुप्त काल में इस प्रकार की इमारत को 'त्रिमेधि स्तूप' कहते थे। इस स्तूप से धर्मचक्र मुद्रा वाली वुद्ध मूर्ति और गुप्तकालीन अभिलेख मिले थे, जो गुप्तकाल तक इसके विशाल स्तूप वन जाने को दर्शाते हैं।

(2) धर्मराजिक स्तूप :– आजकल इस स्तूप की केवल वुनियाद वची है, क्योंकि 1794 ईसवी में वावू जगतसिंह के द्वारा यह नष्ट हो गया था। इसके भीतर 8.23 मीटर की गहराई पर एक गोलाकार पत्थर की पेटी में धातुगर्भ मँजूपा रखी मिली थी। 1026 ईसवी का एक अभिलेख भी यहाँ से प्राप्त हुआ था जो स्थिरपाल व वसन्तपाल नामक दो भाईयों द्वारा धर्मराजिक व धर्मचक्र स्तूप के पुनरोद्धार का वर्णन करता है।

इस स्तूप का क्रमशः छः वार परिवर्द्धन और संस्कार हुआ। अशोक निर्मित मूल स्तूप का व्यास 13.49 मीटर था। इसका पहला संस्कार कुषाणकाल में और दूसरा 5वीं या 6ठीं शताव्दी में हुआ था, जब इसके चारों ओर 4.6 मीटर चौड़ा प्रदक्षिणा पथ जोड़ा गया था। तीसरी वार संस्कार संभवतः हर्ष के राज्यकाल (सातवीं शताव्दी) में हुआ था, जब स्तूप की कुर्सी तक पहुँचने के लिए चारों दिशाओं में एक-एक एकाश्मक सोपान लगा दिये गये। चौथा परिवर्द्धन 9वीं-10वीं शताव्दी में और पाँचवा

महीपाल के समय में (1026 ईसवी) हुआ था। स्तूप का अंतिम व छठा संस्कार 12 वीं शताब्दी में हुआ, जब कुमारदेवी ने अपना धर्मचक्र-जिन-महाविहार बनवाया था।

सारनाथ की दो प्रसिद्ध मूर्तियाँ इसी स्तूप के पास से मिली हैं, जो यहाँ की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियाँ मानी जाती हैं। इनमें से पहली कनिष्क शासन कालीन विशाल बोधिसत्व प्रतिमा है और दूसरी धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा वाली भगवान बुद्ध की अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है।

(3) मूलगन्ध कुटी : – धर्मराजिक स्तूप से 18.29 मीटर उत्तर की ओर मूलगन्ध कुटी है। इसकी कुर्सी 18.29 मीटर चौकोर है और इसका मुँह पूर्व की ओर है। यह मूलगन्ध कुटी युवान-च्वांग के समय में 65.96 मीटर ऊँची थी। बची हुई दीवारों के चौड़े आधार इसकी भव्यता के साक्षी हैं। यह ईंट और चूने से निर्मित है और कहीं-कहीं और भी पुरानी इमारतों के उकेरे हुए पत्थर लगा दिए गए हैं। कला की शैली से प्रतीत होता है कि यह गुप्त-काल का निर्माण है। बीच के गर्भगृह में बाद में कुछ और दीवारें बनाई गई थीं, जो ऊँची छत को सहारा दे सकें, परन्तु इससे गन्धकुटी की आकृति बदली-सी जान पड़ती है।

(4) धम्मेख स्तूप :– सारनाथ के स्मारकों में सबसे ठीक अवस्था में प्राप्त होने वाला स्तूप धम्मेख ही है। इसका प्राचीन नाम धर्मचक्र स्तूप था। यह ठोस गोलाकार बुर्ज की तरह है, जिसका व्यास 28.35 मीटर और ऊँचाई 39.01 मीटर है। 11.20 मीटर की ऊँचाई तक यह सुन्दर अलंकृत शिलापट्टों से ढँका हुआ है। इसका यह आच्छादन कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर व आकर्षक बन पड़ा है। इसकी मेधि के ऊपर बेलनाकार ईंटों का ढेर है। मेधि की आधी ऊँचाई पर आठ आले बने हैं जिनमें संभवतः प्रतिमायें स्थापित की गई थीं। यह स्तूप गुप्तकाल के शिल्पियों की कला का प्रत्यक्ष उदाहरण है। उन्होंने स्वस्तिक और नाना प्रकार की आकृतियों व फूलपत्तियों के कटाव की बेल बनायी हैं और पक्षियों व मनुष्यों की आकृतियाँ भी दर्शायी हैं।

स्तूप के ऊपरी भाग में, जो लगभग 27.43 मीटर ऊँचा है, कनिंघम द्वारा 0.91 मीटर की गहराई पर एक शिलापट्ट प्राप्त हुआ, जिसमें सातवीं शताब्दी की लिपि में 'ये धर्मा हेतु-प्रभवा' मंत्र उत्कीर्ण है 35.53 मीटर नीचे जाने पर स्तूप के गर्भ में ईंटों से निर्मित अत्यन्त प्राचीन स्तूप के अवशेष मिले हैं, जो संभवतः अशोक के काल के हैं। भगवान बुद्ध ने यहीं अपना पहला धर्मोपदेश दिया था। अतः लोग इसे साक्षात बुद्ध के धर्म-काय की भाँति पूजते हैं।

(5) अशोक स्तंभ :– मूलगन्ध कुटी के पश्चिम की ओर अशोक कालीन प्रस्तर स्तंभ है। यह किसी समय लगभग 15.25 मीटर ऊँचा और सिंह शीर्षक (ऊपरी

सिरा सिंह के आकार वाला) था। अब मात्र 2.03 मीटर का खण्ड ही अपने मूल स्थान पर खड़ा रह गया है, शेष टुकड़े पास ही पड़े हैं। स्तंभ की नींव में एक खाँचेदार 2.44 मीटर लंबा, 1.83 मीटर चौड़ा व 0.46 मीटर मोटा पत्थर है, जिस पर स्तंभ टिका है। स्तंभ का व्यास जड़ में 0.71 मीटर और चोटी पर 0.56 मीटर था। स्तंभ पर कुल तीन अभिलेख उत्कीर्ण हैं। पहला ब्राह्मी लिपि में अशोक का लेख है, जिसमें उसने आदेश दिया था कि संघ में फूट डालने व संघ की निंदा करने वाले भिक्षु या भिक्षुणी को सफेद कपड़े पहना कर संघ से बाहर कर दिया जाएगा। दूसरा लेख कुषाणकाल का है और राजा अश्वघोष के चालीसवें वर्ष में लिखा गया था। तीसरा लेख गुप्त काल का है और उसमें सम्मितिय शाखा के आचार्यों का उल्लेख है।

इन उपरोक्त स्मारकों के अलावा यहाँ पर अनेकों स्तूप, मंदिर व विहार मिले हैं। वे स्थापत्य कला व शिल्पकारी की दृष्टि से उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं। अतः यहाँ पर उनका वर्णन अनावश्यक है। सारनाथ से प्राप्त मूर्तियों, अभिलेखों आदि को यहाँ के संग्रहालय में रखा गया है। उनमें से निम्नलिखित का विशेष महत्व है –

सिंह-शीर्षक :– इसकी ऊँचाई 2.31 मीटर है। इसे एक ही पत्थर से काट कर बनाया गया है। यह नीचे से ऊपर तक चार भागों में बंटा हुआ है (1) पलटी हुई कमल की पँखुड़ियों से ढँका हुआ कुंभिका भाग (2) गोल अंडाकार भाग जिसमें चार धर्मचक्र व चार पशु क्रमशः हाथी, वृषभ (साँड़), अश्व व सिंह बने हुए हैं (3) उससे ऊपर पीठ सटाकर उकड़ूँ बैठे हुए चार दिशाओं में मुँह किये चार सिंह (4) सबसे ऊपर एक धर्मचक्र था जिसमें 32 अरे या डंडे थे। इस सिंह-शीर्षक की कलात्मकता बस देखते ही बनती है।

बोधिसत्व प्रतिमा :– इसे कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष में मथुरा के त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल ने सारनाथ में भगवान बुद्ध के चंक्रमण स्थल पर स्थापित किया था। यह मथुरा के लाल पत्थर की बनी है। इसके ऊपर एक बड़ा छत्र लगा है। इसके बीच में खिला कमल और चारों ओर माँगलिक चिह्न अंकित हैं। इस मूर्ति पर एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है।

धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा वाली मूर्ति :– गुप्तकालीन कला ने भारतीय कला के विकास में विशेष योगदान दिया है। गुप्तकाल में सारनाथ कला का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। इसके बेहतरीन उदाहरण के रूप में धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा वाली मूर्ति को देखा जा सकता है, जिसकी मुख-मुद्रा में बुद्ध के अनुत्तर ज्ञान या शान्ति की छाप

है। मूर्ति के चारों ओर बने गोलाकर भाग में उत्कृष्ट कोटि का अलंकरण किया गया है।

उपरोक्त प्राचीन स्मारकों, मूर्तियों आदि के अलावा सारनाथ में आधुनिक मूलगन्ध कुटी विहार भी दर्शनीय है। यह सारनाथ के आधुनिक महत्व का द्योतक है। इसके निर्माण का श्रेय महाबोधि सोसायटी के संस्थापक अनागारिक धम्मपाल को जाता है, जिन्होंने सन् 1922 ईसवी में इसकी नींव रखी थी। सन् 1931 ईसवी में यह तैयार हुआ। इसमें तक्षशिला से प्राप्त बुद्ध धातु-अवशेषों को रखा गया है। इसमें चित्रकारी का कार्य जापानी कलाकार कोसेत्सु नोसु द्वारा 1932 से 35 ईसवी के बीच किया गया।

श्रीलंका के अनुराधपुर के बोधिवृक्ष से प्राप्त शाखा को यहाँ पर सन् 1921 में रोपा गया। इस प्रकार सारनाथ एक बौद्ध तीर्थ स्थल के रूप में समस्त संसार के सामने आया और अपनी पुरानी गरिमा को पुनः प्राप्त कर लिया। आज प्रत्येक बौद्ध सारनाथ के दर्शन करना परम आवश्यक समझता है, जहाँ बौद्ध धर्म व संघ की नींव पड़ी, जो पूरे विश्व में अहिंसा व शांति के धर्म के रूप में फैला।

कुशीनगर

हिमालय की तराई में देवरिया जिले के कसिया नामक कस्बे से लगभग 3.52 कि० मी० दक्षिण-पश्चिम में बौद्धों का अत्यन्त महत्वपूर्ण तीर्थ स्थल कुशीनगर (पालि, कुसीनारा) स्थित है। उत्तर प्रदेश के प्रमुख नगर गोरखपुर से इसकी दूरी 54.72 कि० मी० है। भगवान बुद्ध ने इस जगह महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था, जिसके कारण समस्त बौद्ध अनुयायियों के लिए यह स्थल पूजनीय बन गया है। पालि-ग्रन्थों में बुद्ध-काल से पहले के उत्तरी भारत व दक्खन (Deccan) के कुछ भाग को राजनीतिक दृष्टि से 16 (सोलह) महाजनपदों में विभाजित दर्शाया गया है। इनमें मल्लों का भी नाम आता है, जिनकी राजधानी कुशीनगर थी। महाभारत में इस जनपद को मल्ल-राष्ट्र कहा गया है। मल्लों के अनेक पौराणिक राजकुमारों का वर्णन पालि साहित्य में मिलता है, जैसे कि इक्ष्वाकु वंश से संबंधित रामायण के राम आदि। मल्लों ने भगवान बुद्ध के काल से पहले ही स्वयं को गणतंत्र के रूप में विकसित कर लिया था। वे दो शाखाओं के रूप में बताये गये हैं, जिनमें से एक की राजधानी कुशीनगर और दूसरी की पावा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध के समय में यह स्थान अन्य बड़े जनपदों की राजधानियों की तुलना में विशेष महत्वपूर्ण नहीं था, क्योंकि आनन्द ने महापरिनिर्वाण के समय भगवान से प्रार्थना की थी कि वे इस स्थल के अलावा किसी अन्य महत्वपूर्ण स्थल पर परिनिर्वाण प्राप्त करने के लिये इंगित करें। इसके उत्तर में भगवान ने कुशीनगर की प्राचीन महत्ता को इन शब्दों में बताया – "पूर्वकाल में महासुदर्शन नामक चारों दिशाओं का विजेता, देशों पर अधिकार प्राप्त, सात रत्नों से युक्त धार्मिक धर्मराजा चक्रवर्ती राजा था। यह कुसीनारा, राजा महासुदर्शन की कुशावती नामक राजधानी थी, जो कि पूर्व-पश्चिम लंबाई में बारह योजन, उत्तर-दक्षिण विस्तार में सात योजन थी।"

उपरोक्त शब्दों से यह प्रतीत होता है कि कुशीनगर का पारंपरिक इतिहास समृद्धि-पूर्ण था। परन्तु भगवान बुद्ध के समय में यह एक छोटा नगर था। मल्लों के प्रति भगवान बुद्ध की विशेष कृपा थी, जिसके कारण ही संभवतः उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण यहाँ बिताये। मल्लों का यह उद्यान जहाँ भगवान ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था, हिरण्यवती नदी के निकट स्थित था। मल्लों से

उनकी निकटता को इस तथ्य से भी भली-भाँति समझा जा सकता है कि कुशीनगर उनके जन्म स्थल लुंविनी से 100 कि० मी० दक्षिण-पूर्व में तथा उनके राज्य की राजधानी कपिलवस्तु से लगभग 110 कि० मी० की दूरी पर था। यह उत्तरी भारत के अत्यधिक प्रसिद्ध व महत्वपूर्ण नगरों को जोड़ने वाले मार्ग के मध्य में आता था जिस कारण भगवान का आगमन यहाँ प्रायः होता रहता था। भगवान के यहाँ अनेकों अनुयायी थे जिनमें दव्व, वन्धुल, मल्लिक व उसकी पत्नी आदि प्रमुख थे। उन्होंने दो प्रमुख सुत्तों–कुसिनारा सुत्त और किन्ति सुत्त का उपदेश इसी नगर के निकट के वलिहरण उद्यान में दिया था। मल्लों के प्रति अपनी इस कृपा के कारण ही भगवान ने अपनी मृत्यु-शैय्या से निम्नलिखित शब्द आनन्द को कहे – "आनन्द, कुसीनारा में जाकर कुसीनारावासी मल्लों को कहो– वाशिष्टों, आज रात के पिछले पहर तथागत का परिनिर्वाण होगा। चलो वाशिष्टों, पीछे अफसोस मत करना कि हमारे ग्राम-क्षेत्र में तथागत का परिनिर्वाण हुआ, लेकिन हम अन्तिम काल में तथागत के दर्शन न कर पाये।"

मनुष्यों को दुःख से मुक्ति दिलाने के लिए लगभग आधी शताव्दी तक भ्रमण करते हुए उपदेश देते हुए भगवान बुद्ध का शरीर क्षीण हो चुका था। अपना अन्तिम वर्षावास वैशाली के निकट वेलुव नामक ग्राम में व्यतीत कर वे लिच्छवियों के राज्य को पार करते हुए पावा नगर में पहुँचे। उन्होंने एक धातुकार चुन्द का आतिथ्य ग्रहण किया और उसके आम्र-वन में रुके। चुन्द द्वारा दिये गये 'सूकर-मद्दव' को खाने के वाद उनके शरीर में अत्यधिक पीड़ा होने लगी। इसके वाद उन्होंने कुशीनगर की दिशा में प्रस्थान किया और मार्ग में ककुत्था नदी में स्नान किया व जल ग्रहण किया। भिक्षु संघ के साथ भगवान हिरण्यवती नदी के तट पर कुशीनगर के मल्लों के साल वृक्षों के उपवत्तन नामक उद्यान में ठहरे। अपने अन्त को निकट जान उन्होंने आनन्द से दो साल वृक्षों के मध्य, उत्तर की ओर सिरहाना कर शैय्या तैयार करने को कहा। अत्यधिक समर्पित भाव से 20 वर्षों तक भगवान की सेवा करने वाले आनन्द के लिए ये अत्यधिक पीड़ाजनक क्षण थे। भगवान बुद्ध ने उन्हें समझाया कि जो उत्पन्न हुआ है, उसे नष्ट होना ही है। इसके साथ ही उन्होंने भिक्षुओं को विनय के संवंध में और अपने शरीर के समापन के लिए निर्देश दिये। उसी समय भगवान ने 120 (एक सौ वीस) वर्षीय परिव्राजक सुभद्र को धर्म में प्रव्रजित किया और इस प्रकार सुभद्र तथागत के अन्तिम शिष्य हुए। मल्लों ने भगवान की इच्छानुसार उनके दर्शन किये और आदर प्रकट किया। इस प्रकार भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं से किसी और शंका के विषय में पूछा और सवके शान्त रहने पर निम्नलिखित अन्तिम शव्द कहे – "सभी वस्तुओं का क्षय अवश्यंभावी है। अतः जीवन के लक्ष्य के लिए अप्रमाद सहित प्रयास करो।" इसके वाद उन्होंने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। वह

वैशाख मास की पूर्णिमा की रात थी। भगवान ने 80 (अस्सी) वर्ष की अवस्था में अपने अनवरत भ्रमणपूर्ण जीवन से विश्राम लिया।

सात दिनों तक मल्लों ने उनके शरीर को दर्शनार्थ रखा। इत्र, माला, पुष्प व उपयुक्त संगीत से सम्मान किया और अन्त्येष्टि का प्रबन्ध किया। उसके बाद उनके शरीर को नगर में उत्तरी द्वार से ले जाकर पूर्वी द्वार से निकल कर मल्लों के मुकुट बंधन नामक देवस्थान (चैत्य) तक ले जाया गया। यहाँ पर चिता बना कर शरीर को उस पर दाह-संस्कार के लिए लिटाया गया। इस बीच भगवान बुद्ध के तत्कालीन सबसे प्रसिद्ध शिष्य भदन्त महाकस्सप, इस समाचार को जानकर, यहाँ पहुँच गये। उन्होंने शेष अन्तिम क्रियाओं को संपन्न कराया और इस प्रकार दाह-संस्कार संपूर्ण हुआ। शरीर के अस्थि-अवशेषों को मल्लों ने एकत्रित कर लिया और भगवान के निर्देशानुसार एक चक्रवर्ती राजा के दाह-संस्कार के समान एक स्तूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए विधि-विधान से कुशीनगर ले गये। भगवान के परिनिर्वाण का समाचार चारों तरफ फैल गया। जिन लोगों ने इस समाचार को सुना, वे यहाँ आये। इस प्रकार उनके शरीर पर स्तूप बनवाने के लिए निम्नलिखित आठ राज्यों के राजाओं व प्रतिनिधियों में विवाद उठ खड़ा हुआ–मगध के राजा अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुलि, रामग्राम के कोलिय, बेठ-दीप के ब्राह्मण, पावा के मल्ल और कुसीनारा के मल्ल। ऐसा देख द्रोण नामक ब्राह्मण ने उन अवशेषों को आठ भागों में बाँटने को कहा और स्वयं उनके आठ भाग किये, जिन पर उन सबने स्तूपों का निर्माण कराया। मल्लों ने अपने अंश के अवशेषों पर कुशीनगर में स्तूप का निर्माण किया, जिससे यह स्थल बौद्धों के लिए तीर्थ स्थल बन गया।

महापरिनिर्वाण के दो शताब्दी बाद तक इसका (कुशीनगर) महत्व कुछ विशेष नहीं बढ़ा। इस बीच मगध के फैलते साम्राज्य ने मल्लों के छोटे गणतंत्र को हड़प लिया। महान शासक अशोक ने बौद्ध तीर्थों की अपनी यात्रा के दौरान यहाँ स्तूपों व स्तंभों आदि का निर्माण कराया था। उनके विषय में निश्चय के साथ कुछ भी कहना संभव नहीं, क्योंकि लगभग 800 (आठ सौ) साल बाद यहाँ आये चीनी यात्री युवान-च्वांग ने ही केवल अपने यात्रा वृत्तान्त में उनका वर्णन किया है। उनके अनुसार यहाँ तीन स्तूप व दो स्तंभ थे जो उनके समय में अशोक द्वारा निर्मित कहे जाते थे।

हालाँकि कुशीनगर में अशोक के बाद की पाँच शताब्दियों में कुछ विशेष कार्य नहीं हुआ, परन्तु अवश्य ही इसका महत्व काफी बढ़ गया, क्योंकि इस काल में बौद्ध धर्म न केवल भारत में बल्कि सुदूर क्षेत्रों तक भी जा पहुँचा। यहाँ होने वाली खुदाई

से इस काल का एक स्तूप और उसके चारों तरफ बने छोटे स्तूपों व विहारों के बनने के साक्ष्य मिले हैं। चीनी यात्री फा-ह्यान ने (A.D. 399–414) यहाँ आने पर महापरिनिर्वाण की घटनाओं से संबंधित पवित्र स्थलों पर बने स्तूप तथा विहारों को देखा। उन्होंने यहाँ भिक्षुओं को रहते हुए देखा, जिससे प्रतीत होता है कि अवश्य ही उनके समय में कुशीनगर एक धार्मिक नगर रहा होगा।

फा-ह्यान के आगमन के समय कुशीनगर गुप्त (वंशीय) साम्राज्य का अंग था, जिनका भारत में कला व संस्कृति के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक बौद्ध धर्म का इतिहास एक सहस्राब्दि का हो चुका था और वह संपूर्ण देश में फैल रहा था, जिसका प्रमाण कुशीनगर में होने वाला निर्माण कार्य था। कुमारगुप्त (413-455 A.D.) के शासनकाल में एक धर्मपरायण बौद्ध हरिबल ने निर्वाण मुद्रा में भगवान बुद्ध की विशाल प्रतिमा को यहाँ प्रतिष्ठापित किया था जो निर्वाण चैत्य में रखी है। निर्वाण चैत्य के पीछे बने मुख्य स्तूप के पुनरोद्धार का कार्य भी उन्होंने कराया। इसी समय में कुछ प्राचीन विहारों की मरम्मत का कार्य हुआ तथा नये विहारों का निर्माण भी हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त राजाओं के शासनकाल में कुशीनगर अपनी समृद्धि व महत्ता की चोटी पर पहुँच गया था।

चीनी यात्री युवान-च्वांग ने, जो A.D. 620 से 644 के मध्य यहाँ आये थे, इस स्थान को खण्डहरावस्था में पाया था। उन्होंने निर्वाण चैत्य, मुख्य स्तूप व उसके सामने बने अशोक के प्रस्तर स्तंभ आदि को जीर्ण अवस्था में पाया था। इनके अतिरिक्त उन्होंने भगवान के महापरिनिर्वाण से संबंधित घटनाओं पर बने स्तूपों व स्तंभों का भी वर्णन किया, जैसे अन्त्येष्टि स्थल पर निर्मित स्तूप, महाकाश्यप द्वारा बुद्ध शरीर को अन्तिम सम्मान दिये जाने के स्थल पर निर्मित स्तूप आदि।

युवान-च्वांग के एक पीढ़ी बाद आने वाले चीनी यात्री इत्सिंग ने कुशीनगर के विषय में बहुत कम तथ्यपूर्ण जानकारी दी है। इसके बाद तो किसी भी ऐतिहासिक व साहित्यिक स्रोत से कुशीनगर के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता है। उत्तरी भारत में परवर्ती शताब्दियों में होने वाले बौद्ध धर्म के ह्रास का इस स्थल की समृद्धि व महत्ता पर भी प्रभाव पड़ा। खुदाई से कुछ नये स्तूप व चैत्यों के बनने तथा पुरानों के पुनरोद्धार का आभास तो मिलता है, लेकिन स्थल का सामान्य ह्रास भी देखा जा सकता है। भारत में अपने इतिहास के अन्तिम दिनों में बौद्ध धर्म ने कुशीनगर में पुनः कुछ निर्माण कार्य देखा, जब 10वीं व 11वीं शताब्दी में कलचुरी राजवंश के स्थानीय प्रमुख के समय में एक विहार और उससे जुड़े बुद्ध की भूमिस्पर्श मुद्रा की प्रतिमा वाले एक चैत्य का निर्माण हुआ। यह मूर्ति अपनी वास्तविक जगह पर, जिसे माथा कुअर के नाम से जाना जाता है, आज भी स्थित है।

12वीं शताब्दी में बौद्ध धर्म अपने जन्म स्थल से लुप्त-प्राय हो गया था। इसके कारण अन्य बौद्ध स्थलों के समान कुशीनगर भी लोगों द्वारा भुला दिया गया और जंगल के मध्य छोड़ दिया गया। वक्त ने कुशीनगर के अस्तित्व पर परदा डाल दिया। कालान्तर में स्थानीय लोगों की लोक कथाओं में और निकट के ग्राम के नाम (कसिया) में इस खण्डहर से संबंधित कुछ अस्पष्ट संकेत मात्र मिलते थे।

लगभग आधी सहस्राब्दि के अन्तराल के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक अधिकारी बुछनन (Buchanan) ने सर्वेक्षण कार्य के दौरान में इसको देखा, किन्तु इसके अस्तित्व व महत्व से परिचित न होने के कारण इस पर ध्यान नहीं दिया। सन् 1854 में एच०एच० विल्सन ने संयोग से कसिया में कुशीनगर के अस्तित्व का सुझाव दिया। पुरातात्विक सर्वेक्षक अलेक्जेण्डर कनिंघम ने सन् 1861-62 में यहाँ की यात्रा की और बौद्ध-भूगोल के ठोस सबूतों के आधार पर सर्वप्रथम इस स्थल की कुशीनगर के रूप में पहचान की। खण्डहरों व टीलों के स्थानीय नामों ने उनका ध्यान खींचा। मुख्य स्थल को माथा-कोर का कोट के नाम से जाना जाता था, जिसको निकट के छोटे टीले पर पड़ी भगवान की भूमि-स्पर्श मुद्रा वाली मूर्ति से दर्शाया जाता था। लगभग 1.5 (डेढ़) कि० मी० पूर्व की दिशा में ईंटों का विशाल खण्डहर था, जिसे रामभार टीला के नाम से जाना जाता था। कनिंघम के लिए नामों के अभिप्राय जानना कठिन था, हालाँकि उन्होंने माथाकुअर की व्याख्या 'मृत राजकुमार' से करने का प्रयास किया।

कनिंघम के सहायक कारलेयले ने लगभग 15 साल बाद सन् 1876 में इस स्थल के उत्खनन (खुदाई) का कार्य व्यापक रूप से किया और विशाल मुख्य स्तूप को पूरी तरह प्रकट किया। इसके अतिरिक्त उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि भगवान की निर्वाण अवस्था की प्रतिमा को आयताकार चैत्य के खण्डहरों में से प्राप्त करना थी। उन्होंने माथा-कोर की प्रतिमा की भी मरम्मत कराई और उस चैत्य को प्रकट किया, जिसमें वह प्रतिमा स्थापित थी। सन् 1904 से 1907 तक वोगल द्वारा तथा सन् 1910 से 1912 तक हीरानन्द शास्त्री के निर्देशन में खनन का कार्य हुआ जिसके परिणामस्वरूप मुख्य स्तूप के चारों ओर अनेकों विहार, छोटे स्तूप तथा कुशीनगर के परिचय को सुनिश्चित करने के साक्ष्य मिले। यहाँ अनेकों अभिलेखीय साक्ष्य भी मिले, जैसे मोहरें, ताम्रपत्र आदि, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इन अभिलेखों में कुशीनगर या उसके समान नाम का सीधा वर्णन कहीं नहीं मिलता है।

पुरातात्विकों और विशेषकर बौद्ध मतावलंबियों के लिए इन खोजों का अत्यधिक

महत्व है। बौद्धों के लिए चार प्रमुख स्थलों में से अन्तिम, महापरिनिर्वाण स्थल का मिलना सौभाग्य का विषय है। इस प्रकार लगभग सात शताब्दियों के बाद कुशीनगर में धार्मिक गतिविधियाँ पुनः प्रारंभ हुईं। अत्यधिक महत्व के स्मारकों का पुनरोद्धार किया गया। इसके साथ ही साथ कुशीनगर में आधुनिक बौद्ध विहारों, धर्मशालाओं और शैक्षणिक व सांस्कृतिक संस्थाओं को पवित्र स्थल के निकट देखा जा सकता है, जो आज होने वाली गतिविधियों को दर्शाती हैं।

कुशीनगर में उपलब्ध स्मारक तीन विभिन्न भागों में स्थित हैं। वे हैं– (1) मुख्य स्थल जिसमें निर्वाण चैत्य और उसे घेरे हुए अन्य स्मारक (2) उनके दक्षिण-पश्चिम में माथाकोर और (3) तीसरा अन्त्येष्टि स्तूप (रामभार) जो माथा-कुअर से लगभग 1 (एक) कि० मी० पूर्व में स्थित है।

मुख्य स्थल

उपरोक्त तीनों समूहों में सबसे महत्वपूर्ण तथा विस्तृत यह भाग है। इसमें चबूतरे पर निर्मित मुख्य स्तूप व निर्वाण चैत्य को चारों ओर से घेरे हुए अनेकों विहार, छोटे स्तूप और अन्य स्मारक आते हैं। युवान-च्वांग ने जिस मंदिर और उसके पीछे स्थित लगभग 60.96 मीटर ऊँचे जिस विशाल स्तूप का वर्णन किया है, वह इन्हीं स्मारकों से मेल खाता है।

(1) मुख्य स्तूप :- यह स्तूप सन् 1876 में कारलेयले द्वारा खोजा गया, जो कि ईंटों का एक विशाल ढेर मात्र रह गया था। यह अपने शिखर सहित लगभग 45.72 मीटर ऊँचा रहा होगा। जिस चबूतरे पर यह स्तूप और निर्वाण चैत्य निर्मित हैं वह जमीन के तल से 2.74 मीटर ऊँचा है। इसके ऊपर 5.49 मीटर ऊँची बेलनाकार-मेधि है जिसके ऊपर किनारे की तरफ अलंकृत लघुभित्ति स्तंभ बने हैं। इस मेधि के ऊपर अण्ड था, जिसकी जमीन से ऊँचाई 19.81 मीटर थी। इसमें प्रयुक्त ईंटें विभिन्न आकार व विभिन्न समय की थीं, जिनमें कुछ में सजावटी कलाकारी भी की गई थी, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ पहले एक अन्य इमारत बनी थी, जिसके सामान का इस अण्ड को भरने में प्रयोग किया गया है।

सन् 1910 में इस स्तूप के मध्य में एक स्तंभ डालने से शिखर के निकट राजा जयगुप्त का एक ताम्र सिक्का प्राप्त हुआ था। उसके लगभग 4.27 मीटर नीचे ईंटों का एक वृत्ताकार कक्ष था जिसकी गहराई व व्यास दोनों 0.64 मीटर थे। इस कक्ष

में एक ताम्र-पत्र प्राप्त हुआ, जिसके मुँह पर ताम्र-फलक रखा था। ताम्र-फलक पर संस्कृत में निदान सुत्त के साथ इस फलक को हरिबल द्वारा निर्वाण स्तूप में रखे जाने का वर्णन है। पात्र में अन्य छोटी वस्तुओं के अतिरिक्त 5 वीं शताब्दी के गुप्त सम्राट कुमारगुप्त के कुछ रजत सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। स्तूप के अन्दर एक पूर्ण (छोटा) स्तूप भी मिला, जिसकी ऊँचाई 2.82 मीटर थी, और उसके पश्चिमी भाग के आले में बुद्ध भगवान की समाधि मुद्रा की मूर्ति लगी थी। इस स्तूप के भीतर से काठकोयला व मिट्टी के टुकड़े प्राप्त हुए हैं, जो संभवतः तथागत के अन्तिम संस्कार के अंश होंगे। भीतरी स्तूप की अवस्था से प्रतीत होता है कि वह बाहरी स्तूप से अधिक पहले का नहीं होगा। समाधि मुद्रा वाली मूर्ति ईसवी संवत् के प्रारंभ की हो सकती है।

सन् 1927 में बर्मा के उ पो क्यु तथा उ पो ह्लैंग के दान द्वारा स्तूप का पूरी तरह पुनरोद्धार किया गया। इसके अण्ड के भीतर, मूल स्तूप की लघु प्रतिकृति दर्शाते हुए, एक कक्ष बनाया गया जो धरातल से 6.1 मीटर ऊपर था। 18 मार्च 1927 को 6 (छः) से 10 (दस) बजे प्रातः के मध्य भदन्त उ० चन्द्रमणि की अध्यक्षता में 16 (सोलह) भिक्षुओं की उपस्थिति में अनेकों स्वर्ण, रजत व ताम्र वस्तुओं के साथ एक ताम्र-पत्र जिस पर भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा इस स्थल व स्मारक की खोज व पहचान के तथ्य और परिस्थितियों आदि के विषय में लिखा था, आनुष्ठानिक रूप से इस कक्ष में रख कर स्तूप को बन्द कर दिया गया।

(2) निर्वाण मंदिर (चैत्य) :- यह मंदिर भी स्तूप की तरह चबूतरे पर बना है। इस मंदिर के खण्डहर तथा निर्वाण प्रतिमा सन् 1876 में कारलेयले द्वारा खोजे गये। यह प्रतिमा काफी बुरी अवस्था में टूटे हुए आधार (पीठिका) पर लेटी हुई प्राप्त हुई थी। इसके टूटे अंश आधार के नीचे दवे थे, जिनकी सहायता से इसकी मरम्मत हुई। यह मूर्ति 6.1 मीटर लंवी और चुनार के लाल बलुआ पत्थर के एक शिलाखण्ड से निर्मित है। यह भगवान बुद्ध को मृत्यु शैय्या पर दाहिने करवट लेटे हुए और मुँह पश्चिम की ओर किये हुए दर्शाती है। आधार का पश्चिमी भाग प्रवेश द्वार की तरफ है, जिस पर तीन मानव आकार बने हैं, जो स्पष्ट नहीं हैं। दोनों किनारे की मूर्तियाँ तो विलाप करती हुई हैं, जबकि मध्य में पालथी मारे सामने की तरफ पीठ किये मानव आकृति है जो संभवतः दानकर्ता हरिवल की है। उसके ठीक नीचे 5वीं शताव्दी का एक अभिलेख है, जिसमें लिखा है – "महाविहार स्वामी हरिवल की उपयुक्त धार्मिक भेंट" तथा "वह दिन् (Din) द्वारा निर्मित है"। प्रतिमा

के चारों तरफ के मलवे को हटाने पर एक आयताकार कक्ष मिला है जिसके सामने पश्चिम की ओर एक उपकक्ष था।

मई 1955 में भारत सरकार द्वारा 2500 वीं बुद्ध जयन्ती के उपलक्ष्य पर भगवान बुद्ध के जीवन संबंधी स्थलों के विकास के लिए बनी समिति द्वारा वर्तमान मंदिर सन् 1956 में बनवाया गया था।

(3) अन्य विहार व स्मारक :- मुख्य स्थल के चारों तरफ अनेकों प्राचीन विहारों व स्तूपों आदि के खण्डहर मिले हैं। अधिकतर विहार पश्चिम की तरफ ही हैं। इनमें अनेकों अभिलिखित वस्तुयें प्राप्त हुई हैं, जैसे कि मिट्टी की मुहरें जिन पर साल वृक्षों के मध्य भगवान बुद्ध की शवपेटिका को दर्शाया है तथा महापरिनिर्वाण व भिक्षुसंघ उत्कीर्ण हैं। लेखों की लिपि चौथी शताब्दी की है। पश्चिमी भारत के क्षत्रप दामसेन का एक रजत सिक्का भी प्राप्त हुआ है। ये विहार चौथी शताब्दी से पहले के वने प्रतीत होते हैं। यहाँ से प्राप्त सवसे बड़ा विहार 45.72 मीटर वर्गाकार है। इसमें से नौ सौ ईसवी (900 A.D.) की मुहरें प्राप्त हुई हैं, जो संभवतः इसके निर्माण काल के निकट की होंगी। इसके निकट अन्य कई विहार हैं, जिनसे गुप्तकाल की मुहरें तथा धातु के पात्र मिले हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय (4-5 शताब्दी) की एक स्वर्ण-मुद्रा भी मिली है। कुषाण काल का एक अभिलेख भी मिला है और मथुरा की बनी एक प्रतिमा मिली है, जिस पर 5वीं शताब्दी का अभिलेख है कि यह मथुरा के दिन् नामक व्यक्ति द्वारा निर्मित है।

दक्षिण की तरफ मुख्यतया छोटे स्तूप वने हैं, जो तीर्थ-यात्रियों द्वारा अपनी यात्रा के क्रम में अपनी श्रद्धा समर्पित करने के लिए वने हैं। पूर्व की तरफ एक स्तूप के अवशेष हैं, जो संभवतः 7वीं शताब्दी का होगा। एक अन्य स्मारक से जो मौर्य काल का निर्मित प्रतीत होता है, कनिष्क के आठ तथा कद्-फिसिस द्वितीय के चार ताम्र सिक्के मिले हैं। कुछ अन्य स्तूपों के प्रमाण मिले हैं, जो काफी पुराने थे, परन्तु वे मुख्य स्तूप की नींव के नीचे दव गये हैं।

उत्तर की तरफ तीर्थ यात्रियों द्वारा निर्मित कुछ स्तूप हैं। इनके अतिरिक्त कुछ मौर्यकालीन निर्माण हैं, जो वाद के निर्माण से आच्छादित हैं और 10वीं शताब्दी तक के हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मौर्य काल से 10वीं सदी तक यहाँ निर्माण कार्य होते रहे हैं। यहाँ पहली शताब्दी की वनी एक स्त्री प्रतिमा और पाँचवी शताब्दी का प्रस्तर अभिलेख भी प्राप्त हुआ है। सुदूर उत्तर की तरफ दो विहार प्राप्त

हुए हैं जिनका प्रवेश द्वार दक्षिण की तरफ अर्थात् मुख्य स्तूप की तरफ है। यहाँ से प्राप्त अभिलिखित मुहरें इन विहारों को 9वीं–10वीं शताब्दी का ठहराती हैं।

मुख्य स्थल के सुदूर पूर्व की तरफ एक विहार अलग-थलग बना हुआ है। इसमे विशेष वात यह है कि इसका मुख मुख्य स्तूप की तरफ न होकर विपरीत दिशा की ओर है। अन्य विहारों के समान इसमें प्राँगण नहीं है बल्कि मध्य में एक विशाल कक्ष है जो संभवतः पोसथागार रहा होगा, जहाँ भिक्षुओं का उपोसथ होता होगा। यहाँ एक मिट्टी की मुहर प्राप्त हुई है जिस पर बौद्ध धर्म का सार लिखा है। विहार 10वीं या 11वीं शताब्दी का प्रतीत होता है।

(4) माथा-कुअर स्मारकः- मुख्य स्थल से दक्षिण-पश्चिम की तरफ लगभग एक फर्लांग की दूरी पर स्थित बुद्ध की विशाल प्रतिमा का स्थानीय नाम माथा-कुअर है। यह प्रतिमा 3.05 मीटर ऊँची और गया जिले के नीले प्रस्तर खण्ड से निर्मित है। मूर्ति भूमि स्पर्श मुद्रा में है। मूर्ति के आधार में एक 10वीं या 11वीं शताब्दी का अभिलेख है। यह प्रतिमा दो खण्डों में प्राप्त हुई थी और बर्मी दानकर्ताओं की सहायता से सन् 1927 में मरम्मत के पश्चात अपने वास्तविक स्थल पर स्थापित की गई है।

सन् 1876 में कारलेयले (Carlleyle) ने स्मारक व मूर्ति को खोजा था, परन्तु बाद के खनन से ज्ञात हुआ कि यह स्मारक एक विहार का भाग था। 10वीं–11वीं शताब्दी की मिट्टी की मुहरें व एक प्रस्तर अभिलेख से पता चलता है कि इनका निर्माण कलचुरि वंश के स्थानीय शासक भीमट द्वितीय के काल का है। बाद के खनन से पता चलता है कि यह विहार व स्मारक मुख्य स्तूप व निर्वाण चैत्य के चारों तरफ बने अनेकों स्मारकों का ही अंग है, जो एक चारदीवारी द्वारा घिरे हैं। चारदीवारी की दीवारें 381 मीटर की हैं और 14.5687 हेक्टेयर हिस्से को घेरती हैं। दक्षिणी दीवार के पूर्वी भाग की ओर 3.61 मीटर चौड़ा प्रवेश द्वार था। अभी तक इस संपूर्ण भाग के मात्र एक तिहाई हिस्से को ही खोजा जा सका है, शेष हिस्सा अभी भी खनन की राह देख रहा है।

(5) रामभार (अन्त्येष्टि स्तूप) :- माथा-कुअर स्मारक से 1.61 कि० मी० पूर्व की तरफ एक टीला और उसके निकट एक छोटी झील है। इस स्थल को स्थानीय लोग रामभार कहते हैं। कुशीनगर के अन्य स्मारकों से इसकी दूरी व विशेष शैली से स्पष्ट होता है कि यह मल्लों का मुकुट बंधन नामक चैत्य है, जहाँ भगवान बुद्ध की अन्त्येष्टि हुई थी।

सन् 1910 में हीरानन्द शास्त्री द्वारा इस टीले के पूर्वी भाग को खोदने से पता चला कि यह एक विशाल स्तूप है, जिसके अण्ड का व्यास 34.14 मीटर और मेधि का व्यास 47.24 मीटर है। यह मुख्य स्तूप से दुगुने आकार का है। इसमें मध्यकालीन लिपि में अनेकों मुहरें मिली हैं जिन पर बौद्ध धर्म सार लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्तूप की मरम्मत व पुनरोद्धार अनेकों बार हुआ है। इस स्तूप का काफी महत्व था। इसके चारों तरफ तीर्थ यात्रियों द्वारा बनाये गये छोटे स्तूप मिले हैं।

इस प्रकार भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय से 12वीं शताब्दी तक यहाँ निर्माण कार्य होते रहे, जो बौद्ध धर्मावलंवियों के इस स्थल से जुड़े रहने के सूचक हैं। इस तीर्थस्थल का समस्त संसार के लिए अत्यन्त महत्व है, क्योंकि यहाँ उस महामानव ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था जिसने अपना समस्त जीवन अन्य प्राणियों के दुःखों को दूर करने में लगा दिया। यही कारण है कि आज दूर-दूर से लोग यहाँ आते हैं और अपने श्रद्धा-सुमन भगवान बुद्ध के चरणों में समर्पित करते हैं।

राजगीर (राजगृह)

पटना नगर से लगभग 100 (सौ) किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में राजगीर नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल बौद्धों, जैनों, हिन्दुओं तथा मुसलमानों सभी के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है। राजगीर का प्राचीन नाम राजगृह (पालि-राजगह) था, जो तत्कालीन भारत के 16 (सोलह) जनपदों में से एक था। इस स्थान का यह नाम बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि यह शताब्दियों तक मगध जनपद की राजधानी था। प्राचीन काल में राजगीर को और भी कई नामों से जाना जाता था। उदाहरण के लिए वसुमति, बार्हद्रथपुर, गिरिव्रज (पालि-गिरिब्बज) कुशाग्रपुर, इत्यादि। वसुमति नाम रामायण में मिलता है, जो कि संभवतः ब्रह्मा के पुत्र राजा वसु द्वारा इस नगर की नींव डालने के कारण पड़ा। महाभारत तथा पुराणों में बार्हद्रथपुर नाम मिलता है, जो प्रसिद्ध राजा जरासंध के पूर्वज राजा बृहद्रथ का स्मरण कराता है। सभी दिशाओं से पहाड़ियों द्वारा घिरी हुई घाटी में स्थित होने के कारण इसे गिरिव्रज नाम दिया गया था। चौथा नाम कुशाग्रपुर कुछ संस्कृत बौद्ध व जैन ग्रन्थों में तथा युवान-च्वांग के यात्रा विवरणों में मिलता है। युवान-च्वांग के अनुसार इस नगर के चारों ओर कुश नामक घास का बहुतायत से प्राप्त होना इसके उपरोक्त नाम का आधार है, परन्तु संभवतः बृहद्रथ के उत्तराधिकारी राजा कुशाग्र से इसका नाम कुशाग्रपुर पड़ा।

राजगीर को घेरे हुए पहाड़ियों की संख्या पारंपरिक रूप से पाँच है, हालांकि बौद्ध, जैन तथा हिन्दु परंपरानुसार उनके नामों में थोड़ा अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिए महाभारत में उनका नाम वेभार, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक है। इसी ग्रन्थ में, किन्तु एक अन्य स्थल पर उनके ये नाम भी वर्णित हैं – पाण्डर, विपुल, वाराहक, चैत्यक और मातंग। पालि ग्रन्थों में निम्नलिखित नाम मिलते हैं– वेभार, पाण्डव, वेपुल्ल, गिज्झकूट और इसिगिरि (इसिगिलि भी)। वर्तमान नाम वैभार, विपुल, रत्न, छठा (chhaùhÂ), शैल, उदय तथा सोना हैं। इनकी उत्पत्ति जैनों द्वारा हुई मानी जाती है। परन्तु आधुनिक नामों से प्राचीन नामों की तुलना करना कठिन कार्य है।

राजगीर का पौराणिक इतिहास बड़ा व्यापक है। अनेकों पौराणिक राजाओं का इस नगर से घनिष्ठ संबंध रहा है। रामायण के अनुसार गिरिव्रज को ब्रह्मा के चौथे पुत्र राजा वसु ने बसाया था। पुनः ऐसा कहा जाता है कि कुरूक्षेत्र युद्ध के समय राजा बृहद्रथ ने इस स्थान पर अधिकार कर बार्हद्रथ वंश की नींव रखी। उसके उत्तराधिकारियों में जरासंध बहुत ही प्रसिद्ध था, जिसने उस समय के सबसे शक्तिशाली राजा के रूप में ख्याति प्राप्त की थी। मथुरा के शासक और कृष्ण के मामा राजा कंस से उसके वैवाहिक संबंध थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब कृष्ण ने कंस का वध किया, तो जरासंध ने कृष्ण के यादवों को भगाने के लिए मथुरा पर आक्रमण किया, परन्तु असफल रहा। उसके बाद कृष्ण पाण्डव भाइयों, भीम व अर्जुन के साथ गिरिव्रज आये। यहाँ पर कृष्ण के परामर्श से भीम ने द्वन्द्वयुद्ध में जरासंध का वध किया। जरासंध के राजवंश का शासन बाद के समय तक भी यहाँ चलता रहा था।

ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान बुद्ध के समय में मगध में एक नये राजवंश का शासन था। उस समय मगध राज्य शक्ति व संपन्नता की बुलन्दियों को छू रहा था। उस समय तक मगध की राजधानी राजगृह ने राजनीतिक और धार्मिक केन्द्र के रूप में अपना निश्चित स्थान बना लिया था। राजा बिंबिसार (543-491 B.C.) तत्कालीन उत्तरी भारत के चार प्रमुख शक्तिशाली राजाओं में से एक थे। तीन अन्य राजाओं के नाम इस प्रकार हैं: कोशल के राजा प्रसेनजित (पालि-पसेनदि), वत्स के राजा उदयन और अवन्ति के राजा प्रद्योत।

सारनाथ में धर्म-चक्र प्रवर्तन के बाद भगवान बुद्ध का आगमन राजगीर में हुआ। यह जान कर कि शाक्य राजकुमार अब बुद्ध बन गये हैं, राजा बिंबिसार उनसे मिलने गये, उन्हें वेणुवन विहार भेंट किया और उनके उपासक वन गये। भगवान बुद्ध ने यह भेंट स्वीकार की और कुछ समय यहाँ व्यतीत किया।

इसी समय राजगृह में संजय वेलट्ठिपुत्त नामक धार्मिक गुरू अपने 250 (दो सौ पचास) शिष्यों के साथ निवास करते थे। उनमें दो युवा शिष्य सारिपुत्त तथा मोग्गल्लान भी थे। संजय की शिक्षाओं से संतुष्ट न होने के कारण वे उनसे श्रेष्ठ गुरू की तलाश में थे। एक दिन संयोग से सारिपुत्त ने पंचवर्गीय (पञ्चवग्गीय) भिक्षुओं में एक भिक्षु अस्सजी को नगर में भिक्षाटन के लिये जाते देखा। अस्सजी के शान्त तथा प्रदीप्यमान मुखमण्डल को देख सारिपुत्त उनके निकट गये और पूछा "मित्र, तुम्हारा गुरू कौन है ? आप किसका धर्म मानते हैं।" अस्सजी से संक्षेप में बुद्ध और उनकी शिक्षाओं के विषय में जानने के बाद, सारिपुत्त ने ये सारी बातें अपने मित्र मोग्गल्लान को बतायीं। तत्पश्चात दोनों भगवान बुद्ध के शिष्य बन

गये। बौद्धधर्म के इतिहास में सारिपुत्त व मोग्गल्लान को भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के रूप में जाना जाता है।

भगवान बुद्ध ने अपने जीवन के कई वर्ष राजगृह में व्यतीत किये थे। यही उनके आध्यात्मिक शासन के प्रारंभिक वर्षों में प्रचार व प्रसार का मुख्य केन्द्र था। उनके इस धर्म प्रचार के कार्य के परिणामस्वरूप राजगृह के अनेकों कुलीन तथा सामान्य गृहस्थ उनके उपासक बन गये थे। उनका एक महत्वपूर्ण उपासक कौमारभृत्य जीवक था, जो कि राजपरिवार का चिकित्सक था। उसने अपना आम्र-वन विहार भगवान को भेंट किया था। इसी प्रकार सारिपुत्त व मोग्गलान के मत-परिवर्तन को देख अनेकों परिव्राजक भी भगवान बुद्ध के अनुयायी बन गये। राजगृह में अनेकों स्थल थे, जहाँ उन्होंने उपदेश दिये और जो उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं से जुड़ गये। परन्तु इन स्थलों में उनको सबसे प्रिय गृध्रकूट ही था। भगवान बुद्ध के इस नगर और इसके आस-पास के स्थानों के प्रति लगाव को दीघनिकाय की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है –"राजगृह आनन्दप्रद है; गृध्रकूट आनन्दप्रद है; गौतम-न्यग्रोध आनन्दप्रद है; चौर-प्रपात आनन्दप्रद है; वैभार के किनारे की सप्तपर्ण गुफा आनन्दप्रद है; ऋषिगिरि के किनारे कालशिला आनन्दप्रद है; सीतावन में सर्प-शौण्डिक-प्राग्भार आनन्दप्रद है; तपोदाराम आनन्दप्रद है; वेणुवन में कलन्दक झील (तालाब) आनन्दप्रद है; जीवक का आम्र-वन आनन्दप्रद है; मर्दकुक्षि में मृग-दाव आनन्दप्रद है।"

राजगृह भगवान बुद्ध के विरुद्ध उनके चचेरे भाई देवदत्त द्वारा किये गये विद्रोह व घातक हमलों का घटना स्थल भी था। देवदत्त ने संघ में आनन्द व अन्य शाक्यों और उपालि के साथ प्रवेश किया था। देवदत्त बुद्ध द्वारा अपने को उनका उत्तराधिकारी घोषित कराना चाहता था, परन्तु बुद्ध को यह स्वीकार न था। इस नैराश्य में देवदत्त ने बुद्ध को मारने के कई असफल प्रयास किये थे। सर्वप्रथम उसने नलगिरि नामक मदमस्त हाथी को उनके ऊपर छोड़ा, जिसको बुद्ध ने शान्त कर दिया। पुनः उसने भाड़े के हत्यारों को भेज कर बुद्ध को मारने का प्रयास किया, जो असफल रहा। अन्त में उसने गृध्रकूट पर विश्राम कर रहे तथागत पर स्वयं चट्टान लुढ़का कर उनको मारना चाहा, लेकिन उससे उनके पाँव की अंगुली ही घायल हुई। बुद्ध को मारने और संघ-भेद करने के प्रयासों में देवदत्त को अजातशत्रु की सहायता प्राप्त थी। ऐसा माना जाता है कि राजा अजातशत्रु (491-459 B.C.) ने अपने पिता बिंबिसार को जेल में बन्द कर, उनकी हत्या करा कर स्वयं राज्य सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। परन्तु बाद में अपने पिता की हत्या से अजाशत्रु उद्विग्न रहने लगा और अन्त में भगवान बुद्ध की शरण में जाने पर ही उसको मानसिक शान्ति प्राप्त हुई। इस घटना को भरहुत के एक चित्र में अत्यन्त सुन्दरता से दर्शाया गया है और चित्र के नीचे निम्नलिखित शब्द उत्कीर्ण हैं – "अजातशत्रुं भगवंतं विन्दते।"

भगवान के महापरिनिर्वाण के बाद अजातशत्रु ने उनके धातु-अवशेषों में से प्राप्त अपने अंश पर राजगृह में एक स्तूप का निर्माण कराया था। राजगृह में हुई प्रथम बौद्ध संगीति में भी अजातशत्रु ने अपना योगदान दिया था। उन्होंने सप्तपर्णी गुफा के सामने एक विशाल कक्ष का निर्माण करवाया, जिसमें भिक्षु महाकाश्यप की अध्यक्षता में भिक्षु आनन्द और भिक्षु उपालि की सहायता से भगवान बुद्ध के बिखरे हुए धम्म व विनय-संबंधी वचनों का संगायन हुआ और त्रिपिटक का संकलन हुआ।

जैन मतानुयायियों के लिए भी राजगृह का अत्यधिक महत्व है। जैनों के बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत का जन्म इसी स्थान पर हुआ था। इसके अतिरिक्त बुद्ध के समकालीन तथा जैनों के अन्तिम तीर्थंकर ने राजगृह तथा इसके उपनगर (suburb) में 14 वर्षावास व्यतीत किये थे। राजगृह में उनके अनेकों धनी अनुयायी थे। यहाँ एक विशेष बात ध्यान देने की यह है कि जैनों के श्रेणिक तथा कुणिक नामक ग्रन्थों में बिंबिसार तथा अजातशत्रु को अपने मत के अनुयायी दर्शाया गया है, जिसके आधार पर जैन उन्हें अपना समर्थक मानते हैं।

अजातशत्रु के बाद राजगृह ने अपना राजनीतिक महत्व खो दिया। इसका कारण उसके उत्तराधिकारी राजा उदयिन (459-443 B.C) द्वारा मगध की राजधानी राजगृह के स्थान पर पाटलिपुत्र को बना देना था। परन्तु राजा अशोक द्वारा राजगृह में एक स्तूप तथा हस्ति-शीर्ष वाले स्तंभ का निर्माण कराये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि राजगृह ने अपना धार्मिक महत्व नहीं खोया था।

अशोक के बाद के राजगृह के इतिहास के विषय में हमें कुछ अधिक ज्ञात नहीं होता है। पाँचवीं शताब्दी में आने वाले चीनी तीर्थ यात्री फा-ह्यान ने इस घाटी को लगभग निर्जन पाया था। उन्होंने करण्ड-वेणुवन विहार में कुछ भिक्षुओं को वास करते पाया तथा अन्य कई विहारों व स्तूपों का भी वर्णन किया है।

सातवीं शताब्दी में भारत आने वाले चीनी तीर्थ यात्री युवान-च्वांग ने तो इस स्थान को पूर्णतः उजाड़ पाया। प्राचीन विहारों व स्तूपों की नींव व खण्डहर मात्र ही उनको मिल पाये थे। विपुल (आधुनिक वैभार) पहाड़ी पर उनको केवल जैन मत के दिगंबर साधुओं के ही दर्शन हुए। परन्तु इस स्थल पर मुसलमानों का शासन प्रारंभ होने अर्थात् 12वीं शताब्दी तक सद्धर्म के अनुयायियों के होने का प्रमाण यहाँ से प्राप्त अनेकों कलाकृतियों, व्रतानुष्ठित (Votive) स्तूपों और 10वीं–11वीं शताब्दी की पक्की मिट्टी की अभिलिखित पट्टियों से मिलता है। इसके अतिरिक्त तिब्बती भिक्षु धर्मस्वामी के साक्ष्य से भी यह निश्चित होता है। उन्होंने 1235 ईसवी में राजगृह में महापण्डित यशोमित्र से अनेकों धर्म-सिद्धान्तों का अध्ययन किया था।

धर्मस्वामी के गृध्रकूट आने के समय यह हिंसक पशुओं से भरा था और इसकी चोटी पर ईंटों का स्तूप व ईंटों की ही विशाल इमारत के खण्डहर थे। इसके वाद अन्य बौद्ध तीर्थ स्थलों के समान राजगृह को भी एक लंवे समय तक के लिए भुला दिया गया था।

अन्य वौद्ध तीर्थ स्थलों के समान इस स्थल की खोज का श्रेय भी अलेक्जेण्डर कनिंघम को जाता है। उन्होंने सन् 1861-62 में यहाँ पर सर्वप्रथम खुदाई का कार्य करवाया। इसके वाद भारतीय पुरातत्व विभाग की ओर से सन् 1905-06 में श्री वलोच (Bloch) ने खुदाई करवाई। इस प्रकार घाटी तथा उसके आस-पास का प्राचीन खण्डहरों से भरा क्षेत्र दुनिया के सामने आया। बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित अनेकों स्थलों में से अधिकतर को चीनी तीर्थ यात्रियों द्वारा दिये गये दिशा व दूरी निर्देशों की सहायता से खोज लिया गया है, परन्तु उनकी पहचान पूर्णतः सन्देहों से मुक्त नहीं है।

मुख्य स्थल

(1) नया राजगृह :- फा-ह्यान के अनुसार राजा अजातशत्रु ने इसका निर्माण कार्य करवाया था। यह किला घाटी के वाहर स्थित था और लगभग 5 कि० मी० के क्षेत्र में फैला था। आज सिर्फ इसकी दीवार ही भग्न अवस्था में उपलव्ध है। यहाँ से अनेकों बौद्ध कलाकृतियाँ व ताँवे के सिक्के मिले हैं। दो पक्की मिट्टी की पट्टिकायें भी प्राप्त हुई हैं, जिन पर प्रथम या द्वितीय शताव्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि में अभिलेख लिखे हैं।

(2) अशोक स्तूप :- नये राजगृह के पश्चिम में, सरस्वती नदी के पार एक ऊँचा टीला है। फा-ह्यान के अनुसार इसका निर्माण अजातशत्रु ने करवाया था, जवकि युवान-च्वांग इसे अशोक द्वारा निर्मित मानते थे। स्तूप वाले इस टीले की ऊँचाई 10 मीटर है। टीले के मध्य में तीन परवर्ती स्तूप प्राप्त हुए हैं। पश्चिमी भाग की तीन मीटर तक खुदाई करने से मौर्य शैली की ईंटें और मिट्टी के अनेकों लघु-स्तूप मिले हैं, जो 5 सें० मी० व 2.5 से० मी० व्यास के हैं। प्रत्येक स्तूप के भीतर 8वीं-9वीं शताव्दी की लिपि में वौद्ध धर्मसार लिखी हुई मिट्टी की पट्टिकायें मिली हैं। युवान-च्वांग ने स्तूप के निकट 15.24 मीटर ऊँचा हस्ति-शीर्ष वाला स्तंभ देखा था, परन्तु उसका कुछ भी अंश यहाँ से प्राप्त नहीं हुआ है।

(3) करण्ड ताल :- वैभार पहाड़ी की तलहटी में गर्म जल के स्रोतों (जिनमें शतधारा सवसे वड़ा है) से लगभग 150 मीटर उत्तर दिशा की ओर एक बड़ा तालाव

है। चीनी यात्रियों द्वारा वर्णित करण्ड ताल के रूप में इसे पहचाना जाता है। पालि और कुछ संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में इसका वर्णन कलन्द-निवाप या करण्डक-निवाप के रूप में मिलता है।

(4) वेणुवन विहार :- तालाब के दक्षिणी किनारे से कुछ दूरी पर एक टीला है, जिस पर मुस्लिम मकबरे बने हैं। यह टीला चीनी तीर्थ यात्रियों द्वारा और बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त वर्णन के अनुसार वेणुवन विहार का स्थल माना जाता है। राजा बिंबिसार ने इस विहार को भगवान को भेंट किया था। इसी विहार में तपोद में (गर्म जल का स्रोत, आधुनिक नाम सरस्वती) स्नान करके लौटने में विलंब हो जाने और नगर द्वार के बन्द हो जाने के कारण राजा ने एक रात बुद्ध के साथ व्यतीत की थी। इस प्रकार सरस्वती के पार का छोटा बाग अवश्य ही पालि ग्रन्थों का तपोदाराम विहार रहा होगा, जो चीनी यात्रियों के समय तक पूरी तरह भुलाया जा चुका था।

इस वेणुवन विहार की खुदाई से एक कक्ष की नींव और ईंटों के नौ स्तूपों के आधार (नींव/कुर्सी) प्राप्त हुए हैं। टीले के पूर्वी भाग से 10वीं या 11वीं शताब्दी की लिपि में बौद्ध धर्मसार लिखित कुछ मिट्टी की पट्टिकायें मिली हैं। इसके अलावा कई प्रस्तर आधार (Pedestal) मिले हैं, जिन पर बौद्ध चित्र व मूर्तियाँ बनी हैं।

(5) अजातशत्रु स्तूप :- युवान-च्वांग ने वेणुवन के पूर्व में अजातशत्रु द्वारा निर्मित स्तूप का उल्लेख किया है। मंजुश्रीमूलकल्प ग्रन्थ के अनुसार यह वेणुवन के क्षेत्र में ही था। अतः यह अवश्य वेणुवन के निकट ही रहा होगा। इस प्रकार आधुनिक सड़क के उत्तर का टीला ही वह स्तूप रहा होगा, जिसकी पत्थर की नींव और उस पर खड़े पत्थर के स्तंभ दर्शनीय हैं।

(6) पीप्पल गुफा :- वैभार पहाड़ी के पूर्वी ढलान पर (शतधारा के गर्म स्रोतों से थोड़ा ऊपर) एक पत्थर की इमारत है जिसका स्थानीय नाम पचान या जरासंध-की-बैठक है। इसे बौद्ध ग्रन्थों और चीनी यात्रियों के वर्णन के अनुसार पीप्पल का निवास माना जाता है। बुद्ध के समय, प्रथम बौद्ध संगीति के अध्यक्ष महाकाश्यप, यहाँ निवास करते थे। एक अवसर पर जब महाकाश्यप शरीर व मन से अत्यन्त पीड़ित थे और इस गुफा में लेटे थे, तो भगवान बुद्ध उनसे मिलने यहाँ स्वयं आये थे। यह इमारत विशाल आयताकार चबूतरेनुमा है, जिसकी लंबाई व चौड़ाई आधार से क्रमशः 25.9 मीटर व 24.7 मीटर है और शिखर से 24.8 मीटर व 24 मीटर है। इसकी ऊँचाई 6 से 8 मीटर तक है।

(7) सप्तपर्णी गुफा :- वैभार पहाड़ी के शिखर से उत्तरी ढलान की ओर लगभग 30 मीटर नीचे प्राकृतिक गुफाओं का एक समूह है, जिनकी संख्या छः है (संभवतः ये मूल रूप में सात थीं)। इनको सप्तपर्णी के नाम से जाना जाता है।

गुफाओं के सामने की जगह (Terrace) 36.57 मीटर लंबी है और पूर्व की ओर से 10.36 मीटर व पश्चिम की ओर से 3.65 मीटर चौड़ी है। इस स्थल के बाहरी किनारे को दर्शाने वाली पुश्ता-दीवार (Retaining wall) बड़े अनगढ़े पत्थरों की बनी थी, जिसका सिर्फ 5 मीटर लंबा व 2.4 मीटर ऊँचा भाग शेष है। यहाँ बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्म की प्रथम संगीति छः महीनों तक चली, जिसमें (पाँच सौ) 500 भिक्षुओं ने भाग लिया था। इस कारण से यह संगीति 'पंचशतिका' भी कही जाती है।

(8) मनियार मठ :- महाभारत में राजगृह में मणि-नाग के पवित्र आवास का वर्णन है। पालि ग्रन्थ मणिभद्र-यक्ष से संबंधित मणिमाल चैत्य का वर्णन करते हैं। संभवतः यह स्थल महाभारत में वर्णित मणि-नाग का निवास स्थान था और मनियार शब्द प्राचीन मणि माल मणि-नाग से ही विकसित हुआ है। इतना तो स्पष्ट है कि यह स्थल नाग-पूजकों का केन्द्र था। यह यहाँ से शिव, नाग आदि की अनेकों प्रतिमाओं के प्राप्त होने से स्पष्ट है।

(9) सोनभन्दर गुफायें :- मनियार मठ से उत्तर-पश्चिम की ओर दो गुफायें हैं, जिन्हें सोनभन्दर के नाम से जाना जाता है। ये वैभार पहाड़ी की दक्षिणी ढलान पर हैं। पश्चिमी गुफा की दक्षिणी दीवार में एक द्वार व खिड़की है। यहाँ से तीसरी-चौथी शताब्दियों की लिपि का दो पंक्तियों वाला अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसमें मुनि वैरदेव द्वारा निर्वाण लाभ हेतु तपस्वियों के लिये उपयुक्त दो गुफाओं को बनवाने और अर्हतों की प्रतिमायें प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है।

दूसरी पूर्वी गुफा पहली से थोड़ा नीचे तल पर है। इस गुफा से गरुड़ पर सवार विष्णु की एक सुन्दर प्रतिमा मिली है। गुफा की दक्षिणी दीवार पर जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें बनी हैं। एक किवदंती के अनुसार इन गुफाओं को बिंबिसार का कोषागार माना जाता है। परन्तु उपरोक्त अभिलेख और जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका निर्माण तीसरी-चौथी शताब्दियों में जैन तपस्वियों के उपयोग के लिए हुआ था।

(10) बिंबिसार जेल :- मनियार मठ से लगभग 1 कि० मी० दक्षिण की ओर 60 मीटर की वर्गाकार और 2 मीटर चौड़ी पत्थर की दीवार से घिरी यह इमारत वह जेल है जिसमें बिंबिसार को उसके पुत्र अजातशत्रु ने कैद कर रखा था। इस

इमारत में पत्थर के कक्ष मिले हैं जिनमें से एक कक्ष से लोहे का कड़ा प्राप्त हुआ है, जो संभवतः कैदियों को हथकड़ी पहनाने में प्रयुक्त होता था। ऐसा कहा जाता है कि बिंबिसार इस जेल से बुद्ध को गृध्रकूट पर निवास करते हुए देख सकते थे।

(11) जीवक आम्र-वन विहार :- गृध्रकूट की ओर जाने पर छठा-गिरि पहाड़ी के आधार के पूर्व की ओर जीवक आम्र-वन विहार है। पालि-ग्रन्थों के अनुसार यह पूर्वी द्वार के और गृध्रकूट के मध्य स्थित था। बिंबिसार व अजातशत्रु का राज-चिकित्सक, जीवक अपने समय का सबसे प्रसिद्ध चिकित्सक था। उसने बुद्ध व संघ को अपना आम्र-वन भेंट करके यहाँ पर एक विहार का निर्माण कराया था।

यहाँ पर कुछ दीर्घवृत्ताकार विशाल कक्षों व आयातकार उपकक्षों की नीवें और चारदीवारी प्राप्त हुई है। इस इमारत का ढाँचा, बौद्ध विहारों के सामान्य ढाँचे से भिन्न है, जो इसके प्राचीन होने का प्रमाण है। ऐसा संभव है कि इसके निर्माण के समय तक बौद्ध विहारों के ढाँचे का मानकीकरण न हुआ रहा हो।

(12) मर्दकुक्षि विहार :- जीवकाम्रवन विहार के ठीक साथ में यह विहार था। पालि नाम मद्दकुच्छि (संस्कृत-मर्दकुक्षि) एक कथा की तरफ संकेत करता है, जिसके अनुसार इस स्थान पर बिंबिसार की रानी ने अपने गर्भ में एक पितृहन्ता को जान कर उससे पिण्ड छुड़ाने का प्रयास किया था। पालि ग्रन्थों के अनुसार यह विहार गृध्रकूट के आधार में स्थित था और देवदत्त द्वारा हत्या के प्रयास से पादाँगुलि घायल होने पर बुद्ध को जीवकाम्रवन विहार में ले जाने से पूर्व यहाँ लाया गया था।

(13) बिंबिसार मार्ग :- छठा-गिरि पहाड़ी के आधार से गृध्रकूट तक जाने के प्राचीन मार्ग का नाम बिंबिसार मार्ग है। यह 20 से 24 फुट चौड़ा है। युवान-च्वांग के अनुसार गृध्रकूट पर्वत पर निवास कर रहे भगवान बुद्ध से मिलने जाते वक्त बिंबिसार ने इसका निर्माण करवाया था।

इस मार्ग पर ईंटों के दो स्तूप मिलते हैं। प्रथम आधार से लगभग 73 मीटर ऊपर है तथा दूसरा मार्ग के उत्तर की दिशा में मुड़ने पर बना है। ये दोनों स्तूप क्रमशः उन स्थानों को दर्शाते हैं, जहाँ बिंबिसार रथ पर से उतरे थे और जहाँ उन्होंने अपने साथ आने वाली भीड़ को वापस नगर की ओर भेजा था।

(14) गृध्रकूट :- गृध्रकूट पहाड़ी के शिखर पर दो प्राकृतिक गुफायें भगवान बुद्ध का प्रिय निवास स्थान तथा अनेकों महत्वपूर्ण उपदेशों की घटनास्थली थीं। एक गुफा के भीतर से पक्की मिट्टी की अनेकों पट्टिकायें मिली हैं, जिन पर सात पूर्व-बुद्धों व आगामी बुद्ध, मैत्रेय को दो पंक्तियों में बैठे दर्शाया गया है। प्रत्येक आकृति के नीचे बौद्ध धर्मसार अभिलिखित हैं। यह स्थल बौद्ध स्मारकों से भरा पड़ा है, जो इस स्थान के महत्व को दर्शाते हैं।

सांकाश्य (संकिस्सा)

संकिस्सा (प्राचीन सांकाश्य), उत्तर प्रदेश के फरुखाबाद जिले का एक छोटा सा गाँव है। यह कालि नदी के तट पर स्थित है, जो कि एटा, मैनपुरी तथा फरुखाबाद जिलों की सीमा रेखा को दर्शाती है। उत्तरी रेलवे की शिकोहाबाद-फरुखाबाद शाखा (branch-line) के एक छोटे स्टेशन मोता से संकिस्सा लगभग 7 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में है। इसी शाखा पर एक अन्य स्टेशन पखना से संकिस्सा की दूरी 11 किलोमीटर है। यहाँ पहुँचने का एक पक्का मार्ग है जो सबसे उत्तम है।

संकिस्सा का प्राचीन नाम सांकाश्य (पालि-संकस्स) था। यह एक प्राचीन नगर था, जिसका वर्णन बाल्मिकि रामायण के आदिकाण्ड में भी मिलता है। रामायण के अनुसार सीता के पिता, राजा सीरध्वज मिथिला के शासक थे और कुशध्वज जनक उनके छोटे भाई थे। उस समय सांकाश्य का शासक राजा सुधन्वा था। मिथिला और सांकाश्य वंश के मध्य युद्ध में राजा सुधन्वा पराजित हो गया और राजा सीरध्वज ने अपने छोटे भाई कुशध्वज जनक को सांकाश्य का शासक बना दिया। फरुखाबाद जिले में जनखद (जनक क्षेत्र) नामक एक स्थान है, जिसे जनक से संबंधित माना जाता है। सीता के विवाह के समय राजा कुशध्वज जनक अपनी पुत्रियों सहित उस समारोह में शामिल होने के लिए सांकाश्य से मिथिला गये थे।

प्रसिद्ध संस्कृत व्याकरणाचार्य पाणिनी ने भी अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में सांकाश्य का उल्लेख किया है। अष्टाध्यायी पर लिखी काशिकावृत्ति में भी सांकाश्य का वर्णन है। काशिकाकार के अनुसार सांकाश्य यौधेय आदि कुछ आयुधजीवियों का निवास स्थान था। इन आयुधजीवियों का मूल उत्पत्ति स्थान हृदगोल, अन्धकवर्त और रोहितगिरि पर्वत था। गौतम बुद्ध के समय से संकिस्सा का महत्व और भी बढ़ गया। इसका प्रमुख कारण भगवान बुद्ध के जीवन से संबंधित प्रसिद्ध स्थलों में से एक होना है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भगवान बुद्ध के अष्ट महा प्रातिहार्यो (आठ महान चमत्कार) का वर्णन मिलता है। इनमें प्रथम चार लुंबिनी, बोध-गया, सारनाथ और कुशीनगर में हुई उनके जीवन की घटनायें क्रमशः जन्म, बोधि-प्राप्ति, धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण हैं। अन्य चार प्रातिहार्य राजगीर, सांकाश्य,

वैशाली और श्रावस्ती में हुई घटनायें या उनके द्वारा दिखायें गये चमत्कार हैं। परंपरानुसार भगवान बुद्ध अपनी माता को उपदेश देने के वाद त्रायस्त्रिंश स्वर्ग से संकिस्सा में उतरे थे। बुद्ध के साथ उतरते समय एक तरफ देवराज इन्द्र और दूसरी तरफ ब्रह्मा थे। यह घटना भगवान बुद्ध द्वारा श्रावस्ती के चमत्कार दिखाने के बाद की है। यह स्थल जहाँ भगवान बुद्ध उतरे थे, बौद्धों के लिए अत्यन्त पूजनीय है। इस स्थल को संकिस्सा के वर्तमान विसहरी देवी के मंदिर के समीप के एक स्थल से पहचाना जाता है। बौद्ध साहित्य में संकिस्सा का अनेकों स्थलों पर वर्णन मिलता है। भारतीय मूर्तिकला में शिल्पकारों ने भगवान बुद्ध के जीवन की अन्य मुख्य घटनाओं के साथ स्वर्ग से सीढ़ियों द्वारा उतरने की घटना के दृश्य को भी वड़ी खूबसूरती से अनेकों स्थानों पर चित्रित किया है।

सांकाश्य का प्राचीन नगर कन्नौज और अत्रंजि के मध्य में था। एक अन्य मार्ग इसको मथुरा से जोड़ता था। प्रसिद्ध चीनी यात्री फा-ह्यान व युवान-च्वांग ने अपने-अपने यात्रा वर्णनों में सांकाश्य के महत्व और यहाँ वनी इमारतों व स्मारकों का वर्णन किया है, जो सांकाश्य को पहचानने व वर्तमान खण्डहरों को जानने में अत्यन्त सहायक है।

पाँचवी शताब्दी ईसवी के पहले दशक में यहाँ पहुँचने पर चीनी यात्री फा-ह्यान ने निम्नलिखित शब्दों में इस स्थान का वर्णन किया था – "जव भगवान स्वर्ग से भूलोक पर उतरने वाले थे, तो उन्होंने अपने चमत्कार द्वारा रत्न जड़ित सीढ़ी उत्पन्न की और उसके द्वारा उतरे। ब्रह्मा ने भी सीढ़ी उत्पन्न की, जो चाँदी (रजत) की थी और दाँयी दिशा में थी, जिसके द्वारा वे हाथ में चँवर लिए हुए भगवान के साथ उतरे। स्वर्ग के देव, इन्द्र, ने बाँयी दिशा में ताँबे की सीढ़ी उत्पन्न की, जिसके द्वारा वे हाथ में छत्र लिये हुए भगवान बुद्ध के साथ उतरे। बुद्ध के साथ असंख्य देव भी नीचे आये। जब भगवान जमीन पर पहुँच गये, तो सात डंडों (steps) को छोड़ कर शेष सीढ़ी जमीन में लुप्त हो गयी।

"भगवान के उतरने के समय भिक्षुणी उत्पला ने यह सोचा कि आज राजा, मंत्री व अन्य सव लोग भगवान से मिल कर अपनी श्रद्धा प्रकट करने जा रहे हैं, परन्तु मैं, एक स्त्री होने के कारण, किस प्रकार उनके प्रथम दर्शन प्राप्त करने का अवसर पा सकती हूँ ? भगवान बुद्ध ने तुरन्त अपनी दिव्य शक्ति द्वारा उसको चक्रवर्ती राजा के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार भगवान के लौटने पर वह उनके दर्शन करने वालों में प्रथम हो गयी।

"अशोक ने उन सीढ़ियों के ऊपर एक स्मारक बनाया। मध्य की सीढ़ी पर बुद्ध की मानवाकार प्रतिमा बनाई। स्मारक के पीछे उसने 60 फुट ऊँचा प्रस्तर स्तंभ

बनवाया, जिसके शीर्ष पर सिंह स्थापित किया। स्तंभ में चारों दिशाओं में भगवान की प्रतिमायें बनवायीं।"

फा-ह्यान ने यहाँ अनेकों स्तूप तथा विहार देखे। उनके शब्दों में, "यहाँ लगभग 1000 (एक हजार) भिक्षु व भिक्षुणियाँ थीं। वे सब एक ही भण्डार से भोजन प्राप्त करते थे, उनमें से कुछ हीनयानी थे और कुछ महायानी।"

चीनी बौद्ध तीर्थ यात्री युवान-च्वाँग ने, जो 636 ईसवी में यहाँ आये थे, इस स्थान का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने इस स्थान का नाम कपिंथ लिखा है और इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है –

"राज्य 2000 (दो हजार) ली से अधिक और राजधानी लगभग 20 (बीस) ली के क्षेत्र में फैली हुई थी। जिले का मौसम तथा उत्पादन पी-लो-शान-न (pi-lo-shan-na) के समान ही था। यहाँ लगभग 4 बौद्ध विहार थे (जो संभवतः राजधानी में ही थे) और लगभग 1000 (एक हजार) भिक्षु थे जो सभी सम्मितिय संप्रदाय के थे। देव मंदिर की संख्या 10 (दस) थी और यहाँ रहने वाले अ-बौद्ध शैव मतानुयायी थे।

"राजधानी से 20 ली पूर्व की ओर उत्तम आकार वाला और शिल्पकला में उच्च कोटि का एक बड़ा विहार था। उसमें बौद्ध दृश्यों आदि को अत्यन्त उत्कृष्ट शैली के अलंकरणों द्वारा बनाया गया था। विहार में भिक्षुओं की संख्या कुछ सौ थी और वे सभी सम्मितिय संप्रदाय के थे। यहाँ उपासक भी रहते थे, जिनकी संख्या कुछ (दस) हजारों में थी। विहार के प्राँगण के भीतर अमूल्य धातुओं से निर्मित तीन सीढ़ियाँ (सोपान) थीं, जो दक्षिण से उत्तर की तरफ कतार में थीं और पूर्व की ओर झुकी हुई थीं। इसी जगह भगवान बुद्ध त्रायस्त्रिंश स्वर्ग से उतरे थे। बुद्ध स्वर्ग में जेतवन विहार से गये थे। वे वहाँ सधर्म भवन (Hall) में रहे थे, जहाँ उन्होंने अपनी माँ महामाया को उपदेश दिया था। तीन महीनों की समाप्ति पर जब वे उतरने वाले थे, तब इन्द्र ने अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा अमूल्य धातुओं की तीन सीढ़ियाँ बनाईं। मध्य वाली स्वर्ण की, बाँयी दिशा वाली बिल्लौर (Crystal) की तथा दाहिनी दिशा वाली रजत की बनी थी। बुद्ध मध्य वाली सीढ़ी से उतरे, ब्रह्मा सफेद चँवर पकड़े हुए दाहिनी सीढ़ी से उनके साथ उतरे और इन्द्र रत्न-जड़ित छत्र पकड़े हुए बाँयी सीढ़ी से उतरे, जबकि देवों ने हवा में फूलों को बिखेरा (फूलों की वर्षा की) और बुद्ध का गुणगान किया। ये सीढ़ियाँ बौद्ध तीर्थ यात्री (युवान-च्वांग) के समय से कुछ शताब्दियों पहले तक विद्यमान थीं, किन्तु बाद में वे लुप्त हो गईं। तब कुछ राजाओं ने वास्तविक सीढ़ियों के स्थान पर वास्तविक सीढ़ियों के ढाँचे पर अमूल्य

धातुओं से अलंकृत ईंटों व पत्थरों से निर्मित वर्तमान सीढ़ियाँ वनाईं। वर्तमान सीढ़ियाँ 70 फुट से अधिक ऊँची हैं, जिनके ऊपरी सिरे पर एक वौद्ध मंदिर वना है, जिसमें बुद्ध की एक प्रस्तर प्रतिमा स्थापित है। व्रह्मा और इन्द्र की प्रतिमायें क्रमशः दाहिनी व वाँयी सीढ़ियों के ऊपरी सिर पर हैं, और वे, वास्तविक के समान, उतरते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।

"इनके वगल में एक अत्यन्त मजवूत, चमकदार वैंगनी रंग का 70 फुट ऊँचा अशोक का स्तंभ था, जिसके ऊपर सीढ़ियों की ओर मुँह किये हुए एक वैठा हुआ सिंह था। स्तंभ के दोनों वगल के भागों में विचित्र प्रतिमायें उत्कीर्ण थीं। व्यक्ति को उसकी वुरी तथा अच्छी (अकुशल तथा कुशल) इच्छा के अनुरूप आकृतियाँ स्तंभ में दिखाई देती थीं। सीढ़ियों से कुछ ही दूरी पर एक स्तूप था, जहाँ चार पूर्व बुद्ध बैठे थे और चंक्रमण किया था। इसके पीछे एक तालाव था, जहाँ बुद्ध ने स्नान किया था। उसके पीछे, एक वौद्ध मंदिर था, जहाँ बुद्ध समाधि में गये थे। मंदिर के पीछे 50 (पचास) कदम लंवा व 7 फुट चौड़ा एक वड़ा पत्थर का चवूतरा था, जहाँ बुद्ध ने चंक्रमण किया था। उनके सभी पदचिन्हों के स्थान पर कमल के फूल बने थे और इसके दोनों दिशाओं में इन्द्र व व्रह्मा द्वारा निर्मित छोटे स्तूप थे। इनके सामने वह स्थल था जहाँ भिक्षुणी उत्तपलवर्णा ने बुद्ध को स्वर्ग से उतरते हुए सवसे पहले देखने की इच्छा से स्वयं को चक्रवर्ती राजा के रूप में परिवर्तित कर लिया था। उसी समय तत्व की निस्सारता का चिन्तन करते हुए आयुष्मान सुभूति ने बुद्ध के आध्यात्मिक शरीर को देखा था। भगवान बुद्ध ने उत्तपलवर्णा को वताया कि वह उनको उतरने के वाद देखने वाली सर्वप्रथम मनुष्य नहीं है, क्योंकि आयुष्मान सुभूति ने तत्व की निस्सारता का चिन्तन करते हुए उससे पहले उनके आध्यात्मिक शरीर का दर्शन कर लिया था। बुद्ध का चंक्रमण चवूतरा एक दीवार से घिरा हुआ था। वहाँ एक विशाल स्तूप था, जिसके दक्षिण में तालाव था, जिसका नाग इन पवित्र स्मारकों की रक्षा करता था।"

चीनी तीर्थ यात्रियों के उपरोक्त वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि फा-ह्यान के समय तक यहाँ वौद्धों का अधिकार अपेक्षाकृत अधिक था, जो कि युवान-च्वांग के समय में व्राह्मणों की शक्ति वढ़ने के कारण कम हो गया था। फिर भी 7वीं शताब्दी के समय, वौद्ध धर्म ओर शैव धर्म दोनों ही संकिस्सा में फल-फूल रहे थे। यहाँ अनेकों बड़े विहार तथा मंदिर थे। इस जगह को काफी पूजनीय माना जाता था। मौर्य शासक अशोक और उसके वाद अनेकों राजाओं ने नगर में अनेकों सुन्दर इमारतों का निर्माण कराया था।

एक लंवे समय तक लुप्त रहने के वाद संकिस्सा को पहचानने और दुनिया के

सामने लाने का श्रेय जनरल कनिंघम को जाता है, जिन्होंने मार्च 1876 में इस स्थान को खोज निकाला था। आज संकिस्सा पत्थर व मिट्टी की मूर्तियों के अवशेषों से भरा पड़ा है। अशोक स्तंभ, चीनी यात्रियों ने जिसका वर्णन किया है, अभी तक यहाँ पर प्राप्त नहीं हुआ है। उसका केवल शीर्ष प्राप्त हुआ है, जिस पर एक हस्ति की मूर्ति है और बिसहरी देवी के मंदिर के समीप सुरक्षित रखा है। शीर्ष की चमकदार मौर्य कालीन पॉलिश अद्‌भुत है। चीनी यात्री युवान-च्वांग ने शीर्ष के ऊपर की आकृति को सिंह समझा था, लेकिन समीप से देखने पर कोई भी स्पष्ट देख सकता है कि यह एक हाथी है, जिसकी सूँड़ टूटी हुई है। शीर्ष पर कमल के फूल तथा बोधि वृक्ष के पत्तों द्वारा अलंकरण बना हुआ है।

इस शीर्ष के समीप प्रस्तर की एक पुरुष आकृति खड़ी है जिसकी ऊँचाई 3 फुट 7 इंच है। आकृति सिर रहित है और अनेकों आभूषण पहने हुए है। यह आकृति दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की मानी जा सकती है।

संकिस्सा में एक विशाल शिवलिंग तथा वेदिका स्तंभ हैं। यहाँ से बड़ी मात्रा में प्राप्त प्रस्तर प्रतिमायें, मिट्टी की मूर्तियाँ, सीलें, मणिकायें व सिक्के लखनऊ के राज्य संग्रहालय, कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय और भारत के अन्य संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। कुछ अमूल्य पुरावशेष वस्तुयें संकिस्सा के श्री चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित के निजी संग्रह में देखी जा सकती हैं।

संकिस्सा के टीलों से बड़ी मात्रा में रजत व ताँबे की आहत मुद्रायें (सिक्के) प्राप्त हुई हैं। पंचाल राजाओं के कबीली (tribal) सिक्के और कुषाण शासकों के ताँबे के सिक्के भी यहाँ काफी बड़ी मात्रा में मिले हैं। संकिस्सा काफी लंबे समय तक पंचाल शासकों के अधीन रहा, जिनकी राजधानी अहिच्छत्र में थी, जो आज उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में है। अभी हाल में संकिस्सा के कई टीलों में से एक टीले से एक 11इंच × 6ईंच की ईंट प्राप्त हुई है जिस पर दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि में एक अभिलेख है। यह अभिलेख दो पंक्तियों का है और इस पर निम्नलिखित शब्द अंकित हैं –

1- भदसमस सवजीवलोके पुठगोरथस
2- भटिकपुत्स जेठस भगविपुतस

अभिलेख की भाषा प्राकृत है और उसमें भार्गवी तथा भटिक के पुत्र जेठ द्वारा दिये गये दान का वर्णन है।

संकिस्सा का वर्तमान गाँव एक ऊँचे टीले पर स्थित है। अन्य टीलों की लंबी

कड़ी (कतार) गाँव के बाहर फैली है। इसकी लंबाई 1500 (एक हजार पाँच सौ) फुट और चौड़ाई 1000 (एक हजार) फुट है। यह स्थानीय लोगों के द्वारा 'किला' के नाम से जाना जाता है। संकिस्सा गाँव के पूर्व में, लगभग दो फर्लांग की दूरी पर, चौखण्डी नामक एक स्थल है। यहाँ काफी बड़ी मात्रा में बड़े आकार की प्राचीन ईंटें प्राप्त हुई थीं। चौखण्डी के दाहिने तरफ के स्थान को 'पन्थवाली' नाम से जाना जाता है। इसके दक्षिण में 'नीवी-का-कोट' नामक जगह है। चौखण्डी के उत्तर-पूर्व में कई अन्य स्थल हैं जहाँ से अनेकों मूल्यवान पुरावस्तुयें निकली हैं। एक वेदिका स्तंभ, जो 2 (दो) फुट 9 (नौ) इंच ऊँचा है और मथुरा के बलुआ पत्थर का बना है, यहाँ से प्राप्त हुआ था। यह अष्टभुजी स्तंभ बौद्ध वेदिका का हिस्सा है, जो संकिस्सा में पहली शताब्दी ईसा पूर्व में बनाया गया था।

टेर्हा महादेव नामक मंदिर के उत्तर-पूर्व में एक तालाब है, जिसे नागसर या कन्धाई ताल के नाम से जाना जाता है। संकिस्सा में आने वाले तीर्थ यात्री इस तालाब की परिक्रमा करते हैं। इस तालाब के निकट अनेकों अन्य स्थल हैं, जो धार्मिक व्यक्तियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

संकिस्सा हिन्दुओं के लिए भी महत्वपूर्ण है। हिन्दुओं की एक उपजाति, सक्सेना कायस्थ, इस स्थान को अपना मूल स्थान मानती है। आश्विन (शरद) पूर्णिमा को प्रत्येक वर्ष यहाँ उत्सव होता है, जिसमें बौद्ध भाग लेते हैं। इसी प्रकार श्रावण मास में संकिस्सा में एक विशाल मेला आयोजित किया जाता है, जिसमें सभी जातियों के हिन्दू भाग लेते हैं और बिसहरी देवी की पूजा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर इस देवी की कोई प्राचीन प्रतिमा थी जिसको बाद में इस आधुनिक प्रतिमा से बदल दिया गया होगा।

सन् 1957 में श्रीलंका के बौद्ध भिक्षु भदन्त विजय सोम ने इस स्थान के महत्व को देखते हुए यहाँ एक बौद्ध मंदिर की स्थापना की। इसमें भगवान बुद्ध की प्रतिमा के साथ-साथ ब्रह्मा तथा शक्र (इन्द्र) की भी प्रतिमायें हैं। इस स्थान के महत्व को देखते हुए यहाँ पुरातात्विक खुदाई से प्राप्त वस्तुओं को प्रदर्शित करने की आवश्यकता है, जिससे यहाँ आने वाले यात्री प्राचीन सांकाश्य के महत्व को समझ सकें।

वैशाली

उत्तरी बिहार में मुज फरपुर से दक्षिण-पूर्व की ओर लगभग 36 कि० मी० दूर बसाढ़ नामक स्थान प्राचीन वैशाली नगर को दर्शाता है। वज्जि गणराज्य की राजधानी वैशाली, बुद्ध काल के बड़े नगरों में से एक थी। बुद्ध व महावीर के समय में जो गण वैशाली क्षेत्र में राज्य करता था, उसका नाम वज्जि (संस्कृत-वृजि) था। इस गण में आठ वंश थे। अतः इसे अट्ठकुलका (अष्टकुलकाः) भी कहा जाता था। इन वंशों में सबसे महत्वपूर्ण व ताकतवर लिच्छवी थे। गण की राजधानी पर इन्हीं लोगों का अधिकार था। एक अन्य महत्वपूर्ण वंश ज्ञातृक था, जिसमें जैनों के 24वें तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर का जन्म हुआ था। कुछ अन्य वंशों के नाम इस प्रकार हैं – उग्र, भोग, इक्ष्वाक, कौरम इत्यादि।

भगवान बुद्ध इस गण की एकता व कार्य-प्रणाली से अत्यन्त प्रभावित थे। मगध के सम्राट अजातशत्रु का वैशाली के गणों से नदी-तट पर अधिकार के विपय में अक्सर मतभेद रहता था। हालांकि अजातशत्रु की माता भी विदेह या वैशाली की राजकुमारी थीं। जैन परंपरानुसार उनका नाम चैल्लना था तथा उनके पिता चेटक वज्जि गण के लंबे समय तक नेता थे। इस संवंध में महापरिनिव्वान सुत्त में भगवान बुद्ध द्वारा वर्णित वज्जि गण द्वारा पालन किये जाने वाले सात अपरिहाणिय धर्मो (अ-पतन के नियम) की चर्चा यथोचित होगी। मगध का राजा अजातशत्रु वज्जियों को पराजित कर वैशाली पर अधिकार करना चाहता था और उसने अपने महामात्य वर्षकार ब्राह्मण को भगवान बुद्ध के पास यह जानने के लिए भेजा कि किस प्रकार उन्हें उच्छिन्न किया जा सकता है। भगवान बुद्ध ने वज्जियों की प्रंशसा करते हुए कहा कि जब तक वे सात अपरिहाणिय धर्म का पालन करते रहेंगे उनकी वृद्धि ही होगी। वे अपरिहाणिय धर्म निम्नलिखित हैं–

(1) सम्मति के लिए वरावर सन्निपात (वैठक) करना।

(2) एक हो वैठक, उत्थान, करणीय (कर्त्तव्य) करना।

(3) अ-प्रज्ञप्त (गैर कानूनी) को प्रज्ञप्त (विहित) न करना, प्रज्ञप्त का उच्छेद न

करना। जैसे प्रज्ञप्त है, वैसे ही प्राचीन धर्म (नियम) को ग्रहण करना।

(4) महल्लकों (वृद्धों) का सत्कार करना और उनकी सुनने योग्य वातों को मानना।

(5) कुल-स्त्रियों, कुल-कुमारियों को छीन कर, जवर्दस्ती न वसाना।

(6) नगर के भीतर या वाहर के चैत्यों (देव-स्थानों) का सत्कार करना, पूजना और उनके लिए पहले किये दान, धर्मानुसार वलि (वृत्ति) का लोप न करना।

(7) अर्हतों (पूज्यों) की अच्छी तरह धर्मानुसार रक्षा करना, जिससे भविष्य में अर्हत राज्य में आयें और आये हुए अर्हत राज्य में सुख से विहार करें।

इन नियमों की चर्चा करने के उपरान्त भगवान बुद्ध ने इनके आधार पर भिक्षु संघ को भी ऐसे निर्देश दिए थे जिनके पालन करने से संघ में फूट न हो पाये और उसकी वृद्धि होती रहे।

बुद्ध अपने जीवन काल में यहाँ अनेकों वार आये थे और यहाँ के कुछ विशेष स्थलों जैसे वहुपुत्र-चैत्य, चापाल चैत्य व महावन-कूटागार-शाला आदि में रुके थे। भगवान बुद्ध वैशाली सवसे पहले तव आये थे, जव यहाँ अकाल पड़ा था। उस समय वे राजगृह के वेणुवन विहार में निवास कर रहे थे। विंविसार के मित्र लिच्छवि महालि, जो वैशाली के पुरोहित के पुत्र थे, उन्हें वुलाने स्वयं गये। वैशाली की अवस्था को जान बुद्ध वैशाली आये। उन्होंने यहाँ रतन सुत्त का पाठ किया, जिससे अकाल की स्थिति में सुधार हो गया। शाक्य मुनि बुद्ध ने अपने जीवन के दो वर्षावास भी यहाँ व्यतीत किये थे। उनसे व उनके द्वारा प्रचारित धर्म की वातों से अनेकों विशिष्ट व महत्वपूर्ण लिच्छवि व अन्य गणों के लोग उनके शिष्य वन गये थे। यहीं पर बन्दरों ने उनको शहद का पात्र अर्पित किया था और उनके प्रयोग के लिए एक कुण्ड खोदा था, जिससे यह स्थान उनके जीवन की आठ प्रमुख घटनाओं के स्थलों में सम्मिलित माना जाता है।

यह नगर जैनों के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। महावीर वैशाली के समीप कुण्डपुर या कुण्डग्राम में पैदा हुए थे। इस कारण से उनके गण के अनेकों विशिष्ट लोग और अन्य लोग जैन अनुयायी थे और वैशाली जैन संप्रदाय की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र वना। इसके अलावा कुछ इतिहासकारों के मतानुसार वुद्धत्व-प्राप्ति से पहले बुद्ध के गुरुओं में से एक, आलार-कालाम, का केन्द्र भी वैशाली ही था।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वैशाली नगर का नाम यहाँ के राजा 'विशाल' के नाम पर पड़ा था, जिन्होंने इस नगर को अपने राज्य की राजधानी के रूप में

बसाया था। पौराणिक साहित्य में भी उनका 'विशाल' के रूप में उल्लेख मिलता है। वैशाली पर राज्य करने वाले सभी राजाओं में से राजा विशाल का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। यहाँ तक कि आज भी बसाढ़ के एक टीले को 'राजा विशाल का गढ़' नाम से जाना जाता है।

बौद्ध भिक्षुणी संघ की स्थापना भी इसी नगर में ही हुई थी, जो बौद्ध धर्म के विकास की एक महत्वपूर्ण घटना है। जब भगवान बुद्ध महावन-कूटागार-शाला में रुके थे, तब उनकी सौतेली माता महाप्रजापति गौतमी, उनकी पत्नी यशोधरा 500 (पाँच सौ) अन्य शाक्य महिलाओं के साथ यहाँ आयीं। उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। आनन्द ने कारण जान कर कि बुद्ध पहले भी उन (महिलाओं) का अनुरोध ठुकरा चुके हैं, स्वयं भगवान से उनको प्रव्रज्जा देने की प्रार्थना की। इस प्रकार भगवान स्त्रियों को संघ में शामिल करने पर सहमत हुये, परन्तु उनके लिए भिक्षुओं से अधिक कठोर नियमों के पालन का प्रावधान किया।

वैशाली नगर की प्रसिद्ध नर्तकी (नगरवधू) ने भी बौद्ध धर्म की शरण ले कर अपना प्रसिद्ध आम्रवन भगवान को भेंट किया था। यह घटना उनके 45वें और अन्तिम वर्षावास के समय की है। इसके बाद ही उन्होंने माघ पूर्णिमा के दिन वैशाली से कुसीनारा के लिये प्रस्थान किया और घोषणा की कि वे आज से ठीक तीन महीने बाद निर्वाण प्राप्त करेंगे। इस प्रकार वैशाख पूर्णिमा के दिन उन्होंने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। उनके परिनिर्वाण के उपरान्त लिच्छवियों ने उनके शरीरावशेष के एक अंश को प्राप्त किया और उसे वैशाली के निकट एक स्तूप में स्थापित किया। ऐसा माना जाता है कि इस स्थल के समीप एक अन्य स्तूप में आनन्द के अवशेषों का आधा भाग रखा गया था। शेष आधा भाग राजगृह में एक स्तूप में रखा गया था।

इस प्रकार वैशाली नगर शाक्य मुनि के जीवन-काल में ही बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके निर्वाण के बाद लगभग सौ वर्षों के भीतर ही यहाँ द्वितीय बौद्ध संगीति संपन्न हुई। वज्जि देश के भिक्षु ऐसी दस बातों (दस वत्थूनि) का पालन करते थे, जो यश आदि भगवान बुद्ध की मूल शिक्षाओं पर आस्था रखने वाले भिक्षुओं के अनुसार विनय-विरुद्ध थीं। ये दस वत्थूनि इस प्रकार हैं:—

(1) सिंगिलोणकप्प – भोजन के लिए जाते समय एक सींग में नमक ले जाना। यह पाचित्तिय 38 के विरुद्ध था, जो भोज्य-पदार्थों के संग्रह को प्रतिबंधित करता है।

(2) द्वगुँलकप्प – सूर्य की छाया के दो अगुँल लंवी हो जाने के उपरान्त भी भोजन ग्रहण करना। यह पाचित्तिय 37 के विरुद्ध था, जो विकाल भोजन का प्रतिवंध करता है।

(3) गामँतरकप्प – एक ही दिन में भिक्षा प्राप्ति के लिए दो गाँवों में जाना तथा दोनों जगह भोजन ग्रहण करना। यह पाचित्तिय 35 के विरुद्ध था, जिसमें अधिक भोजन ग्रहण करने का निषेध है।

(4) आवासकप्प – एक ही क्षेत्र के भीतर विभिन्न स्थलों पर उपोसथ कर्म करना। यह महावग्ग में एक क्षेत्र (सीमा) में रहने वाले भिक्षुओं के लिए वर्णित नियमों के विपरीत है।

(5) अनुमतिकप्प – किसी कार्य को करने के उपरान्त उसके लिए अनुमति प्राप्त करना। यह भिक्षु विनय का उल्लंघन है।

(6) अचिन्नकप्प – प्रचलित प्रथा को पूर्वोदाहरण मानना। यह भी भिक्षु विनय का उल्लंघन है।

(7) अमथितकप्प – भोजन के उपरान्त मट्ठा (छाछ) पीना। यह पाचित्तिय 35 के विरुद्ध था, जिसमें अधिक भोजन ग्रहण करने (ठूस कर खाने) का निषेध है।

(8) जलोगिं-पातुं – ताड़ी पीना। यह कार्य पाचित्तिय 51 का उल्लंघन था, जो मादक पदार्थों के सेवन का निषेध करता है।

(9) अदसकं-निसिदनं – ऐसे कम्वल या कालीन का प्रयोग करना जिसमें किनारी न लगी हो। यह पाचित्तिय 89 के विरुद्ध था, जिसमें किनारी रहित चादर का प्रयोग प्रतिबंधित है।

(10) जातरूपरजतं – स्वर्ण और रजत को भिक्षा में ग्रहण करना, जो निस्सग्गिय पाचित्तिय के नियम 18 द्वारा निषेधित है।

इस विवाद को सुलझाने के लिए वैशाली में द्वितीय वौद्ध संगीति का आयोजन हुआ, जिसमें भदन्त सव्वकामि की अध्यक्षता में सात सौ भिक्षुओं ने भाग लिया। संगीति में भाग लेने वाले भिक्षुओं की संख्या के आधार पर इसे 'सप्तशतिका' भी कहा जाता है। वैशाली के तत्कालीन राजा कालाशोक के संरक्षण में इस संगीति का आयोजन हुआ था। इस सभा में सभी भिक्षुओं ने एकमत से वज्जि भिक्षुओं के आचरण को अनुचित ठहराया। उन्होंने भगवान वुद्ध के वचनों का संगायन व संकलन किया। ऐसा माना जाता है कि इस संगीति के समापन के वाद वौद्ध भिक्षुओं

के अन्य समूह ने वैशाली में महासंगीति बुलाई, जिसमें 10,000 (दस हजार) भिक्षु सम्मिलित हुए। इस प्रकार संघ दो भागों में विभक्त हो गया। पारंपरिक भिक्षु थेरवादी (स्थविरवादी) कहलाये और दूसरे समूह के भिक्षु महासांघिक। इस द्वितीय बौद्ध संगीति ने बौद्ध धर्म के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बौद्ध संघ में आगे चलकर फूट की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि अशोक के समय में संघ 18 (अठारह) भागों (संप्रदायों) में विभक्त हो गया, जिनमें से एक संप्रदाय का नाम तो वज्जिपुत्तक ही था।

बौद्ध धर्म में वैशाली का महत्व द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में भी रहा होगा। इसका अनुमान अमरावती से प्राप्त एक प्रस्तर पर वैशाली के चैत्य व वृक्षों के प्रदर्शित होने से लगाया जा सकता है। उस प्रस्तर पर वैशाली से कुशीनगर तक की बुद्ध की अन्तिम यात्रा की कुछ घटनाओं को दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ के महावन विहार के भिक्षुओं द्वारा श्रीलंका के दुट्ठगामणी द्वारा निर्मित महाथूप के प्रतिष्ठापन समारोह में भाग लेने के लिये जाने का भी वर्णन मिलता है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री फा-ह्यान व युवान-च्वांग दोनों ने इस स्थल का भ्रमण किया था। युवान-च्वांग ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में यहाँ पर देखे अनेकों बौद्ध स्मारकों का वर्णन किया है। यहाँ से प्राप्त मूर्तियों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वौद्ध धर्म यहाँ पर 12वीं शताब्दी ईसवी तक बचा हुआ था। यहाँ की तारा की प्रतिमा विशेष रूप से प्रसिद्ध थी। 11वीं शताब्दी की एक पाण्डुलिपि पर वैशाली की तारा का लघुचित्र (तिरमुकतौ वैशाली-तारा) प्रदर्शित मिलता है। इसी समय में भारत आये तिव्वती यात्री धर्मस्वामी तिरहुत की राजधानी (प-त) से व्रजासन (वोध-गया) जाते वक्त वैशाली नगर से गुजरे थे। वैशाली नगर उस समय विदेशी आक्रमण के कारण वीरान हो गया था। उन्होंने यहाँ सिर्फ एक स्त्री उपासिका और आर्यतारा की अद्भुत प्रस्तर प्रतिमा देखी थी।

अन्य प्रमुख वौद्ध केन्द्रों की तरह वैशाली भी लंवे अरसे तक काल की अंधेरी गर्त में दवा रहा। सवसे पहले अलेग्जेंडर कनिंघम ने इस स्थान को पहचाना और उत्खनन (खुदाई) का कार्य कराया। तत्पश्चात विभिन्न लोगों द्वारा यहाँ समय-समय पर उत्खनन कार्य हुये जिससे यहाँ के प्राचीन स्मारक प्रकाश में आ पाये। यों तो इस स्थान पर अनेकों ऐतिहासिक और धार्मिक महत्व के स्मारक हैं, परन्तु उनमें से कुछ निम्नलिखित अत्यन्त महत्व के हैं।

मुख्य स्थल

(1) राजा विशाल का गढ़ :– यह 8 फुट ऊँचा व लगभग 1.5 (डेढ़) किलोमीटर के क्षेत्र में फैला टीला है। यह किसी किले का खण्डहर प्रतीत होता है। यहाँ से एक भी बौद्ध अवशेष नहीं प्राप्त हुए हैं। जन मान्यतानुसार यहाँ पर वज्जि गणराज्य का सभागार था; जहाँ उनके 7707 प्रतिनिधि प्रतिदिन एकत्र होते थे और राज्य के विषय में विचार-विमर्श किया करते थे।

(2) **अशोक स्तंभ व स्तूप** :– टीले से लगभग साढ़े तीन कि० मी० उत्तर पश्चिम में कोलहौ नामक स्थान पर एक अशोक स्तंभ है जिसकी ऊँचाई 50-60 फुट है। इसके शीर्ष पर कमल की उल्टी आकृति व उस पर सिंह की प्रतिमा स्थित है। हालांकि इस स्तंभ पर अशोक का कोई अभिलेख नहीं है, फिर भी शैली व बनावट के अनुसार इसके मौर्य युग के होने पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। इस स्तंभ के उत्तर की ओर ईंटों का एक विशाल स्तूप है, जो संभवतः अशोक द्वारा बनवाया गया था। स्तूप के शीर्ष पर पाल काल के बाद की एक बुद्ध प्रतिमा स्थापित थी, जो उत्खनन के समय समीप के खेत से मिली है। युवान-च्वांग के वर्णन के अनुसार अनुमान लगाया जा सकता है कि स्तूप का केन्द्र अशोक-कालीन रहा होगा।

(3) **मरकट-हृद ताल** :– स्तंभ के दक्षिण की ओर एक प्राचीन तालाब है, जिसे आजकल रामकुण्ड के नाम से जाना जाता है। युवान-च्वांग के अनुसार यह तालाब ही मरकट-हृद है, जिसके किनारे अशोक ने स्तंभ व स्तूप बनवाया था। परंपरानुसार यह तालाब बन्दरों द्वारा भगवान बुद्ध के प्रयोग के लिए खोदा गया था। महावन-कूटागार-शाला के विषय में भी माना जाता है कि वह भी मरकट-हृद के समीप ही थी, परन्तु उसके अवशेष अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं।

(4) **लिच्छवि स्तूप** :– टीले से उत्तर पश्चिम में लगभग ढाई किलोमीटर पर एक स्तूप मिला है, जिसके उत्खनन से रोचक परिणाम सामने आये हैं। मूल रूप में यह स्तूप मिट्टी का था, जिस पर मिट्टी की ही पतली परत थी। इसका व्यास 25 (पच्चीस) फुट था। चार बार स्तूप का पुनरोद्धार (विस्तार) होना प्रतीत होता है और प्रत्येक बार पकी हुई ईंटों का प्रयोग हुआ है। तीसरे पुनरोद्धार से स्तूप का व्यास 40 फुट हो गया था। चौथा विस्तार आधार के रूप में है और तीसरे को सहारा देने का कार्य करता है। ऐसा लगता है कि मूल स्तूप के मध्य को प्राचीन काल में ही छेड़ा गया था और एक खंभा घुसाया गया था। यहाँ से अवशेष रखने का एक प्रस्तर पात्र (Relic casket) प्राप्त हुआ है, जिसमें राख वाली मिट्टी का थोड़ा अंश, सोने के वर्क का एक टुकड़ा, शीशे के दो मनके, एक छोटा शंख (घोंघा) और एक ताँबे का आहत (Punch marked) सिक्का मिला है। इस स्तूप के विषय में एक अन्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसकी चारों दिशाओं में आयकनुमा (प्रक्षेपित) भाग

आगे निकला है। यह विशेषता कृष्णा नदी घाटी के निचले भाग से प्राप्त स्तूपों में मिलती है और दक्षिण भारतीय स्तूपों की विशेपताओं में प्रमुख है।

मूल स्तूप निस्सदेह अत्यन्त प्राचीन है, संभवतः पूर्व मौर्य काल का है। इसके प्राचीन स्वरूप और इस तथ्य से कि इसके केन्द्र में प्राचीन काल में एक खंभा घुसेड़ा गया था, ऐसा समझा जाता है कि यह वही स्तूप है जो लिच्छवियों ने बुद्ध के अवशेपों के अपने अंश पर वनवाया था। इसके साथ यह खंभा वही है, जो अवशेषों तक पहुँचने के लिए अशोक ने स्तूप के मध्य में घुसाया था। युवान-च्वांग के अनुसार अशोक ने कुछ भाग अपनी मूल अवस्था में छोड़ शेष को यहाँ से निकाल लिया था और उन पर अनेकों स्तूपों को वनवाया था। इसके अलावा स्तूप की स्थिति भी युवान-च्वांग के वर्णन के अनुसार लिच्छवियों द्वारा निर्मित स्तूप के स्थान के वर्णन से मेल खाती है। यदि यह पहचान ठीक है, तो यह स्तूप अव तक खोजे गये स्तूपों में सबसे प्राचीन स्तूप है, परन्तु इसकी पहचान अभी तक पूरी तरह निश्चित नहीं मानी गयी है।

(5) **अन्य स्मारकः**– मौर्य स्तूप के समीप उत्तर-दक्षिण की पंक्ति में दो टीले हैं, जो क्रमशः 183 व 179 फुट व्यास के और 25 व 23 फुट ऊँचे हैं। खुदाई से पता चला है कि वे मिट्टी के स्तूपों के खण्डहर हैं। उत्तरी स्तूप से अनेकों ताँबे के पात्र मिले हैं, जिनमें से एक में अवशेप भी हैं। संभवतः ये किसी वौद्ध आचार्य की स्मृति में बने शारीरिक व पारिभोगिक स्तूप हैं।

उपरोक्त स्मारकों के अलावा भी वौद्ध साहित्य और चीनी यात्रियों के यात्रा वृत्तान्तों में अनेकों ऐसे स्थलों का वर्णन है, जिनका उत्खनन व पहचान अभी नहीं हो पाई है। इनमें मुख्य महावन का कूटागार-शाला (विहार) है जो युवान-च्वांग के अनुसार मरकट-हृद ताल के समीप ही था। दो अन्य प्रमुख विहारों के विषय में भी अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो पाया है। ये हैं अम्वपालि आम्रवन विहार और बालुकाराम विहार, जहाँ द्वितीय वौद्ध संगीति हुई थी। इनके अतिरिक्त यहाँ और भी अनेक चैत्यों के होने का भी वर्णन मिलता है। ये चैत्य हैं –उदयन चैत्य, गोतमक चैत्य, सप्ताम्रक चैत्य, वहुपुत्रक चैत्य, सारन्दद चैत्य, चापाल चैत्य, मरकट-हृद चैत्य इत्यादि।

वैशाली का महत्व भगवान बुद्ध के जीवन से संवंधित आठ स्थलों में से एक होने के अतिरिक्त भी है। यह तत्कालीन दो प्रमुख विचारधाराओं का केन्द्र भी था, जो जैन व वौद्ध धर्म के नाम से जानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस प्राचीन नगर को संभवतः विश्व के प्रथम गणराज्य की राजधानी होने का भी गौरव प्राप्त है। इस दृष्टि से विश्व भर के पर्यटकों व तीर्थ यात्रियों का यहाँ आना लगा रहता है। प्राचीन स्मारकों की खोज के कार्य का अभी आगे भी चलते रहना आवश्यक है, जिससे इतिहास के पन्नों को खोला जा सके और वैशाली को विश्व के समक्ष पूर्ण रूप से लाया जा सके।

श्रावस्ती

प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थ स्थल श्रावस्ती, जो बौद्धों और जैनों द्वारा समान रूप से पूज्यनीय है, आज सहेथ-महेथ के नाम से जाना जाता है। यह उत्तर प्रदेश के गोण्डा व बहराईच जिलों के मध्य स्थित है। सहेथ-महेथ खण्डहरों के दो अलग-अलग समूह हैं। सहेथ प्रसिद्ध बौद्ध विहार जेतवन है। यहाँ विहारों, मंदिरों व स्तूपों की नींवें मात्र ही शेष हैं। महेथ प्राचीन श्रावस्ती नगर है। यह राप्ती (अचिरावती) नदी के दक्षिण में स्थित है। नगर की रूपरेखा इसके चारों ओर बनी दीवार व द्वारों के खण्डहरों से स्पष्ट होती है। शहर के खण्डहरों में बौद्ध, ब्राह्मण व जैन स्मारक और कुछ मध्यकालीन मकबरों के अवशेष हैं।

श्रावस्ती नगर का वर्णन रामायण व महाभारत में कोशल राज्य के समृद्ध नगर के रूप में भी मिलता है। पुराणों में इसका वर्णन उत्तरी कोसल की राजधानी के रूप में हुआ है। इसके नाम के बारे में एक स्रोत महाभारत में मिलता है, जिसमें पौराणिक राजा श्रावस्त द्वारा इस नगर की स्थापना और इसे अपना नाम दिये जाने का वर्णन है। आगे चल कर श्रावस्ती को अन्य दो नाम दिये गये। वे हैं– चम्पकपुरी व चन्द्रिकापुरी। आधुनिक नाम सहेथ-महेथ को सावत्थी (पालि) का विकसित रूप माना जा सकता है।

भगवान बुद्ध के काल से पहले की श्रावस्ती के इतिहास के विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। भगवान द्वारा यहाँ पर प्रसिद्ध चमत्कार प्रदर्शित किये जाने से यह नगर प्रमुख आठ बौद्ध तीर्थ-स्थलों में से एक बन गया था। इसकी प्रसिद्धि के अन्य कारणों में से एक यह भी था कि यहाँ पर भगवान बुद्ध ने अपने जीवन के 45 वर्षावासों में से 25 वर्षावास बिताये थे। उनके द्वारा इतने ज्यादा वर्षावास यहाँ व्यतीत किये जाने के कारण त्रिपिटक में संग्रहीत उपदेशों में यहाँ दिये गये उपदेशों की संख्या सबसे अधिक है। मज्झिम निकाय के 152 (एक सौ बावन) सुत्तों में से 65 (पैंसठ) जेतवन में ही दिये गये थे। संयुक्त व अंगुत्तर निकायों के तीन-चौथाई से अधिक सुत्त यहीं दिये गये हैं। इसी प्रकार भिक्षुओं के विनय संबंधी नियमों में से अधिकतर का निर्देश श्रावस्ती के जेतवन या पूर्वाराम में ही हुआ था।

श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित (पालि-पसेनदि), जिनका जैन ग्रन्थों में जितशत्रु नाम मिलता है, भगवान बुद्ध के आने से पहले जैन आचार्य व तीर्थंकर महावीर से प्रभावित थे। उस समय श्रावस्ती एक शक्तिशाली राज्य की राजधानी ही न था, बल्कि दार्शनिक मतों का प्रसिद्ध केन्द्र भी था। श्रावस्ती जैनों के 24वें तीर्थंकर महावीर की भी कार्यस्थली था और अनेक समृद्ध व्यापारी व सेठ-साहूकार उनके अनुयायी थे। श्रावस्ती में भगवान बुद्ध की गतिविधियों से जैनों के धर्म-प्रसार में कुछ अवरोध उत्पन्न हुआ, परन्तु वह धर्म यहाँ पर सुरक्षित वचा रहा और बौद्ध धर्म के यहाँ से प्रायः लुप्त हो जाने के बाद भी फलता-फूलता रहा है। इस स्थल के प्रति जैनों के आकर्पण का एक अन्य कारण भी रहा होगा। जैनों के दो तीर्थंकरों–संभवनाथ व चन्द्रप्रभ, का जन्मस्थल यहीं पर माना जाता है।

जैनों के अतिरिक्त श्रावस्ती आजीवकों का केन्द्र भी थी। उनके प्रमुख आचार्य मक्खलिपुत्त गोसाल इसी नगर में पैदा हुए थे और उन्होंने अपना समस्त जीवन नगर के कुम्हारों के मध्य विताया था, जो उनके प्रवल समर्थक थे। एक अन्य आजीवक आचार्य पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप) के संवंध में वर्णन मिलता है कि बुद्ध से धार्मिक विवादों में हुई पराजय को न सहन कर पाने के कारण उन्होंने यहाँ आत्महत्या कर ली थी।

भगवान बुद्ध की प्रसिद्धि अधिक दिनों तक श्रावस्ती से दूर न रह सकी। शीघ्र ही श्रावस्ती के समृद्ध व्यापारी सुदत्त द्वारा उनकी प्रसिद्धि यहाँ पहुँच गयी। सुदत्त की दानशीलता अनुकरणीय होने के कारण वे अनाथ-पिण्डिक (अनाथों के पोषक) के नाम से भी जाने जाते थे। वे भगवान से अपनी प्रथम भेंट में ही उनके अनुयायी वन गये थे। उन्होंने श्रावस्ती में भगवान को आमंत्रित करने के लिए उपयुक्त विहार वनवाया और इस प्रकार जेतवन विहार की नींव पड़ी।

चीनी यात्री युवान-च्वांग के अनुसार गौतम बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र सुदत्त के साथ श्रावस्ती आये ओर विहार की नींव डालने में सहायता की। श्रावस्ती के निकट एक मात्र उपयुक्त स्थल राजकुमार जेत (प्रसेनजित का पुत्र) का वन ही था। अतः उसे खरीदने का प्रयास हुआ। राजकुमार जेत ने उस जगह का मुँह-माँगा मूल्य माँगा और कहा कि पूरे वन को स्वर्ण-मुद्राओं से ढँक दिया जाए। भगवान बुद्ध के प्रति सुदत्त की श्रद्धा अतुलनीय थी। वे इस पर भी तैयार हो गये। स्वर्ण-मुद्राओं से उस स्थल को ढँकते वक्त जव थोड़ी सी जगह शेप रह गई, तो जेत ने उन्हें रोक दिया। उन्होंने यहाँ एक मंदिर का निर्माण कराया। भगवान बुद्ध ने इस पवित्र दान की स्मृति में और उन दोनों के सम्मान के लिए कहा कि इस विहार का नाम 'जेतवन विहार का अनाथपिण्डक आराम' होगा। प्रारंभिक बौद्ध ग्रन्थों में इस घटना के अनेक

रूप मिलते हैं। कुछ अन्य विवरणों के अनुसार सुदत्त ने 18 (अठारह) करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं से पूरे वन को ढँक दिया, राजकुमार जेत ने जिनका उपयोग राज-प्रासाद के निर्माण में किया। इसके अतिरिक्त अनाथपिण्डक ने यहाँ अनेकों स्मारक, विहार, भण्डार व कुँयें आदि बनवाने के लिए और भी 18 (अठारह) करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें खर्च कीं। भरहुत के स्तूप पर बनी चित्रकारी में इस दृश्य को स्पष्ट दर्शाया गया है।

बोधि-प्राप्ति के बाद के चौदहवें वर्षाकाल में भगवान बुद्ध जेतवन विहार गये। अपने पुत्र जेत के उदाहरण से प्रेरित हो कर राजा प्रसेनजित स्वयं भगवान से मिलने जेतवन गये और धर्मोपदेश सुन कर उनके अनुयायी बन गये। भगवान बुद्ध व प्रसेनजित के वार्तालाप का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। भरहुत के एक चित्र में इस दृश्य को बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है। चीनी यात्री युवान-च्वांग के अनुसार राजा ने अपने महल के निकट भगवान बुद्ध के उपयोग के लिए 'पुण्य साल' का निर्माण करवाया था। प्रसेनजित प्रायः भगवान बुद्ध के दर्शन करने उनके पास आया करते थे। इसे देख कर राजा के अन्य सहयोगियों ने, जो जैन व आजीवक धर्मों के अनुयायी थे, भगवान बुद्ध को चमत्कार दिखाने की चुनौती दी। भगवान बुद्ध ने चुनौती को स्वीकार किया। उन्होंने सबके सामने एक ही दिन में एक आम के पेड़ को अँकुरित कर बड़ा किया और उसके नीचे अपना बृहद् रूप (कमल पर बैठी व खड़ी अवस्था में) दिखलाया तथा अपने शरीर से आग व जल उत्पन्न करके दिखाया। बौद्ध ग्रन्थों में इस घटना को महान चमत्कार (प्रातिहार्य) के नाम से वर्णित किया गया है। बौद्ध कला में भी इस चमत्कार का चित्रण बार-बार मिलता है। युवान-च्वांग ने श्रावस्ती में बने एक ऐसे स्तूप का वर्णन किया है, जो भगवान बुद्ध द्वारा अपने विरोधियों को हराये जाने के स्थल पर निर्मित था।

राजा प्रसेनजित व सुदत्त के अतिरिक्त श्रावस्ती की अन्य एक उपासिका का नाम भी बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण है। उसका नाम था विशाखा और उसे मिगारमाता के नाम से भी जाना जाता था। उसने भगवान बुद्ध के उपयोग के लिये जेतवन के पूर्व में एक विहार की स्थापना की थी, जिसे पूर्वाराम के नाम से जाना जाता था। फा-ह्यान व युवान-च्वांग दोनों ने इसका वर्णन किया है। उनके अनुसार यह जेतवन से थोड़ी दूर पर काठ व पत्थर से बना था और उसके निर्माण पर 27 (सत्ताइस) करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें खर्च की गई थीं। इन विहारों के अतिरिक्त श्रावस्ती के एक अन्य विहार राजकाराम का वर्णन भी मिलता है।

श्रावस्ती में भगवान बुद्ध के जीवन से संबंधित एक अन्य प्रमुख घटना घटी थी। वह घटना थी अँगुलिमाल नामक दस्यु के हृदय-परिवर्तन की। अँगुलिमाल एक

दुष्ट मनुष्य था जो मनुष्यों का वध कर उनकी एक अँगुली काट कर माला में पिरोया करता था। उसने लोगों को भयभीत कर रखा था। अँगुलियों की एक ईच्छित संख्या 1000 (एक हजार) को पूरा करने के लिए वह अपनी माँ तक का वध करने जा ही रहा था कि भगवान बुद्ध ने उसे रोका और उपाय-कौशल्य से उसका हृदय-परिवर्तन किया। तत्पश्चात उस दस्यु को संघ में शामिल कर लिया गया। कालान्तर में उसने अर्हत्व-पद प्राप्त किया था।

भगवान बुद्ध और भगवान महावीर के काल से लेकर अशोक के काल तक का श्रावस्ती का इतिहास अभी तक अन्धकार में है। अनेकों स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं के अनुसार अशोक अपनी बौद्ध तीर्थ-यात्राओं के दौरान श्रावस्ती व जेतवन भी आये थे। युवान-च्वांग के अनुसार अशोक ने अपनी यात्रा की स्मृति में जेतवन के पूर्वी द्वार पर 21 (इक्कीस) मीटर ऊँचे दो स्तंभ बनवाये थे। उनमें से एक के शीर्ष पर 'धर्म-चक्र' और दूसरे के ऊपर 'वृषभ' बना था। अशोक ने भगवान बुद्ध की अस्थियों को स्थापित करने के लिए एक स्तूप भी बनवाया था, जो भगवान द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले कुँयें व चंक्रमण स्थल के समीप था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार सम्राट अशोक ने यहाँ पर सारिपुत्र, मोद्गल्यायन, महाकाश्यप व आनन्द के स्तूपों की पूजा की थी। वह काल श्रावस्ती के गौरव के उत्कर्ष का था। अभिलेखीय साक्ष्यों के अनुसार नगर महामात्रों की समिति के द्वारा शासित था और नगर के मुख्य मार्गों पर बड़े संग्रह-गृहों का निर्माण किया गया था।

इसके बाद कुषाण काल में राजकीय समर्थन मिलने के कारण बौद्ध धर्म उस युग का प्रसिद्ध धर्म बना रहा। जेतवन के स्मारकों व विहारों का पुनरोद्धार हुआ। इस समय सर्वास्तिवादियों का एक संप्रदाय यहाँ फल-फूल रहा था। नये स्तूप व स्मारकों के निर्माण के साथ ही साथ बुद्ध-प्रतिमायें भी स्थापित की गई थीं। इन प्रतिमाओं में बोधिसत्व की बैठी हुई मुद्रा वाली एक मूर्ति भी है, जो दो क्षत्रिय भाइयों की भेंट थी। बोधिसत्व की खड़ी अवस्था वाली एक अन्य प्रतिमा भी थी जिसे त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल ने जेतवन की कोसम्बकुटी में स्थापित किया था और जो कुषाण राजा कनिष्क या हुविष्क के शासनकाल की है। बुद्ध की अभय मुद्रा वाली सिंहासन पर बैठी एक अन्य प्रतिमा साकेत (अयोध्या) के एक प्रावरिक सीहदेव की भेंट है। सभी प्रतिमाओं पर अभिलेख उत्कीर्ण हैं, जो दानकर्ताओं के नामों का उल्लेख करते हैं।

गुप्त वंशीय शासन में पूरे देश में ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ गया था, परन्तु जेतवन के बौद्ध प्रतिष्ठान पहले की तरह समृद्ध ही रहे। श्रावस्ती के प्राचीन नगर की कुछ बौद्ध इमारतें अवश्य नष्ट हुई या की गई और उनके स्थान पर ब्राह्मणों के मंदिर

वन गये। पाँचवी शताब्दी के प्रारंभ में आये चीनी यात्री फा-ह्यान ने सुदत्त व अँगुलिमाल के स्तूपों और श्रावस्ती नगर में महाप्रजापति (गौतमी) के विहार के खण्डहरों को भी देखा था। उनके अनुसार ब्राह्मण-धर्मावलंबियों ने इन इमारतों को नष्ट करने का असफल प्रयास किया था। श्रावस्ती नगर के खण्डहरों से मिट्टी के अनेक फलक प्राप्त हुए हैं, जिनमें रामायण के चित्र प्रदर्शित हैं, जो इस स्थल पर बौद्धों के स्थान पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व को दर्शाते हैं। युवान-च्वांग ने श्रावस्ती के एक राजा विक्रमादित्य का भी वर्णन किया है, जो अत्यन्त प्रसिद्ध था, किन्तु श्रमणों के प्रतिकूल था। चीनी यात्री ने उस जेतवन विहार को भी देखा था, जहाँ भगवान ने अपने जीवन के 25 (पचीस) वर्षावास व्यतीत किये थे। उनके अनुसार यह सात मंजिला था, किन्तु बाद में दुर्घटना में जल जाने के कारण दो मंजिली इमारत ने उसका स्थान ले लिया था। फा-ह्यान ने पूर्वाराम, चंक्रमण-स्थल, धर्मोपदेश-स्थल और महा प्रातिहार्य-स्थल (महान चमत्कार का स्थान) पर बनी इमारतों को भी देखा था।

उपरोक्त चीनी यात्रियों के विवरण और लगभग सभी खण्डहरों से प्राप्त तत्कालीन निर्माण की शैली व सजावट गुप्तों के शासन में जेतवन की समृद्ध अवस्था को दर्शाते हैं। सभी इमारतों से गुप्त काल के अवशेष मिले हैं। उन में अनेकों मिट्टी की मुहरें व फलक हैं, जिन पर बौद्ध धर्मसार उत्कीर्ण हैं।

दूसरे चीनी यात्री युवान-च्वांग राजा हर्ष (A.D. 606-647) के शासनकाल में श्रावस्ती आये थे। उस समय यह नगर राजनीतिक दृष्टि से राजा हर्ष के आधिपत्य में था। यह यहाँ से प्राप्त ताम्र-फलक पर उत्कीर्ण घोषणा-पत्र से स्पष्ट होता है। युवान-च्वांग ने उन सभी इमारतों को खण्डहर के रूप में देखा था, जिन्हें फा-ह्यान ने वर्णित किया है। दोनों यात्रियों के मध्य की दो शताब्दियों में जेतवन का इतना अपकर्ष हुआ कि युवान-च्वांग के समय में विहारों में कोई निवास नहीं करता था।

युंवान-च्वांग के स्वदेश लौटने के बाद जेतवन में पुनः कुछ पुनरोद्धार का कार्य हुआ था। इसके साक्ष्य के रूप में यहाँ 8वीं-9वीं शताब्दियों की अनेकों उत्कीर्ण मुहरें व बौद्ध चित्र प्राप्त हुए हैं। प्राप्त प्रतिमायें लोकनाथ, त्रैलोक्यविजय, अवलोकितेश्वर, सिंहनाद लोकेश्वर व जंभल की हैं, जिनमें से कुछ पर नागरी लिपि के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

इसके बाद के कुछ समय तक के श्रावस्ती के इतिहास से संबंधित प्रामाणिक सूचनायें नहीं प्राप्त होती हैं। कुछ साहित्यिक रचनाओं में यहाँ के कुछ राजाओं का वर्णन मिलता है। दंडी के दशकुमारचरित में धर्मवर्धन को नगर का शासक बताया गया है। एक अन्य मध्यकालीन रचना 'जैमिनि-भारत' में ध्वज शब्द से समाप्त होने

वाले नामों के कई राजाओं का वर्णन है, जिनकी राजधानी चन्द्रिकापुरी थी। इन राजाओं में से अन्तिम राजा सुहृद्ध्वज ने गज़नी के सुल्तान महमूद और उनके सेनापति सलार मसूद से 11वीं शताब्दी के प्रारंभ में लड़ाई की थी। यहाँ से प्राप्त इस काल की जैन प्रतिमाओं के आधार पर इस वंश को जैनों के पुनरोद्धार का श्रेय दिया जाता है।

जेतवन में बौद्ध धर्म के 12वीं शताब्दी के मध्य तक होने के साक्ष्य मिले हैं। इसमें मुख्यतया कन्नौज के गाहड़वाल राजाओं, मदनपाल व उसके पुत्र गोविन्दचन्द्र के प्रश्रय का हाथ रहा है। जेतवन के एक विहार से उनके शासनकाल के अभिलेख मिले हैं। मदनपाल के अभिलेख (A.D. 1119) में उनके मंत्री विद्याधर द्वारा शैव मत त्यागने और जेतवन में एक विहार के निर्माण के लिए सम्पत्ति दान देने का वर्णन है। दूसरा अभिलेख गोविन्दचन्द्र (A.D. 1129-30) के समय का है और जेतवन विहार के बुद्धभट्टारक व अन्य भिक्षुओं को श्रावस्ती के समीप के 6 (छः) गाँवों को राजकीय भेंट के रूप में देने का वर्णन करता है। यह भेंट निस्संदेह राजा गोविन्दचन्द्र की बौद्ध रानी कुमारदेवी के प्रभाव को दर्शाती है, जिसने सारनाथ के बौद्ध विहारों की भी सहायता की थी।

इसके बाद का और आजकल श्रावस्ती के प्रकाश में आने तक का श्रावस्ती का इतिहास लुप्त है या अन्धकार में है। इस क्षेत्र में मुस्लिम शासन के कुछ अवशेष अवश्य मिले हैं। उनमें से एक मकबरा है जो यहाँ के प्रथम मुस्लिम राज्यपाल सैय्यद मीरान का है। सर्वप्रथम सन् 1863 में सर अलेग्जेण्डर कनिंघम ने इस स्थल को श्रावस्ती के रूप में दुनिया के सामने उजागर किया। इसके बाद खुदाई का कार्य वोगेल, मार्शल व दयाराम साहनी द्वारा सन् 1907-1908 व सन् 1910-1911 में हुआ।

आज के युग में यहाँ पर बर्मी व चीनी बौद्धों द्वारा मंदिरों व स्तूपों का निर्माण कराया गया है। भारत सरकार ने भी सन् 1956 में यहाँ पर थोड़ा कार्य कराया। परन्तु एक बार फिर श्रावस्ती का भाग्य भदन्त संघरतन नायक-महाथेर (जो महाबोधि सोसायटी के संयुक्त सचिव के रूप में कार्यमुक्त हुए थे) के प्रयासों से चमक उठा और सन् 1969 में भारत सरकार ने इसके उद्धार के कार्य को अपने हाथ में लिया। भदन्त संघरतन ने श्रीलंका सरकार व वहाँ के बौद्धों के सहयोग से यहाँ पर श्रीलंका-रामय विहार व मठ का निर्माण कराया। आज यह मठ दुनिया के बौद्धों का आकर्षण केन्द्र बना हुआ है। इस स्थल के महत्व को देखते हुए जापानी पुरातत्वविदों का एक दल पिछले कई वर्षों से यहाँ उत्खनन कार्य कर रहा है तथा उसने कई प्राचीन स्मारकों को प्रकाश में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

उनका कार्य आजकल भी चल रहा है। इसके अतिरिक्त भिक्षु प्रज्ञानन्द और भिक्षु चंदरतन जैसे लोग यहाँ स्कूल इत्यादि चलाकर समीपस्थ स्थानीय निवासियों के शैक्षणिक व सामाजिक विकास का कार्य पूर्ण लगन के साथ कर रहे हैं।

जेतवन (सहेथ)

जेतवन के खण्डहरों को वर्तमान में इस प्रकार बाँटा गया है। संख्या 1,19—मंदिर व विहार; संख्या 2, 3, 6, 7, 11 व 12—मंदिर; संख्या 5, 8, 9, 17, 18, **H**—स्तूप तथा संख्या **G,F**–विहार। इनमें से कुछ प्रमुख इमारतें निम्नलिखित हैं:-

(1) मंदिर व विहार संख्या 19 :– यह जेतवन की बड़ी इमारतों में से एक है। इसके प्राँगण में एक स्तूप व कुँआ है और चारों ओर भिक्षुओं के लिए 21 (इक्कीस) कक्ष व एक ड्योढ़ी है। यह कम से कम तीन बार पुनर्निर्मित हुआ था। सर्वप्रथम छठी शताब्दी में, क्योंकि इसकी दीवार गुप्त शैली की है और एक कक्ष से मिट्टी की फलक पर धर्मचक्र मुद्रा में वैठे बुद्ध का चित्र व गुप्त लिपि में तीन पंक्तियों में वौद्ध धर्मसार लिखा हुआ प्राप्त हुआ है। दूसरी इमारत दसवीं शताब्दी की है। इस काल की प्राप्त वस्तुओं में अनेकों बुद्ध-प्रतिमायें हैं। विशेषकर नौवीं-दसवीं शताब्दी की अभिलेख उत्कीर्ण दो प्रतिमायें हैं, जिनमें से एक भूमि-स्पर्श मुद्रा में है जिसमें दोनों तरफ मैत्रेय व अवलोकितेश्वर हैं और दूसरे में वैशाली में भगवान बुद्ध को वन्दर द्वारा शहद की भेंट स्वीकारते हुए दर्शाया गया है। अन्तिम निर्माण कार्य ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों का है और परंपरागत विहार के नक्शे पर वना है। यह विहार संभवतः अनाथपिण्डक का जेतवन विहार था।

(2) आठ स्तूप :- विहार संख्या 19 के पूर्व व उत्तर-पूर्व का क्षेत्र मुख्यतया स्तूप निर्माण के कार्य में ही प्रयुक्त हुआ है। इनमें से आठ स्तूप अव भी दिखाई पड़ते हैं। इनमें से एक स्तूप के पुनरोद्धार के साक्ष्य मिलते हैं और उसमें से 5 वीं शताब्दी के अक्षरों में बुद्धदेव का नाम लिखित एक मुहर प्राप्त हुई है।

(3) स्तूप संख्या **17** और **18** :– स्तूप संख्या 17, 3.5 (तीन दशमलव पाँच) मीटर वर्गाकार नींव पर 6.7 (छः दशमलव सात) मीटर व्यास के अण्ड से वना है। स्तूप का बाहरी भाग मध्यकालीन है, परन्तु स्तूप के भीतर से प्राप्त सामग्री कुषाण काल की है। स्तूप का भीतरी भाग भी संभवतः उसी काल का है अर्थात प्रथम शताब्दी ईसवी का।

स्तूप संख्या 18 पहले वाले स्तूप से कुछ छोटा है। इसमें से एक अभिलिखित

अस्थि-पात्र मिला है जिसमें कुछ हड्डी के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। पात्र पर कुषाण कालीन अक्षरों में भदन्त बुद्धदेव का नाम उत्कीर्ण है।

(4) **बोधि-वृक्ष** :– जेतवन विहार की एक अन्य महत्वपूर्ण वस्तु बोधि वृक्ष है। ऐसा माना जाता है कि वृक्ष उसी जगह पर है जहाँ अनाथपिण्डक ने बोधि वृक्ष की शाखा लगाई थी। सिंहली साहित्यिक ग्रन्थ पूजावलिय में इस घटना की कथा दी हुई है।

(5) **मंदिर संख्या 3** :– बोधिवृक्ष से थोड़ी दूर पर स्थित यह स्मारक यहाँ के सबसे अधिक पूजनीय स्थलों में से एक है। यहाँ अनाथपिण्डक द्वारा बनाई गई कोसम्बकुटी थी, जिसका भगवान उपयोग किया करते थे। मंदिर के सामने चंक्रमण स्थल भी बना है। यह इमारत पहले की बनी इमारत पर पुनर्निर्मित है।

(6) **मंदिर संख्या 2** :– मंदिर संख्या 3 के पूर्व में स्थित यह इमारत गन्धकुटी के वास्तविक स्थल को प्रकट करती है। वर्तमान इमारत पुनर्निर्माण है। यह माना जाता है कि गन्धकुटी लकड़ी की बनी सात मंजिली इमारत थी और उसमें एक चन्दन की बुद्ध प्रतिमा स्थापित थी। फा-ह्यान ने दो मंजिली ईंटों की इमारत ही देखी थी। उनकी सूचना के अनुसार लकड़ी की इमारत जल गयी थी। युवान-च्वांग ने तो उस ईंटों की इमारत के अवशेष मात्र देखे थे। मंदिर के अवशेष व एक सभागृह (जिसका द्वार पूर्व की ओर था) इस अवशेष के मुख्य भाग हैं। जेतवन की इमारतों में यह सबसे अधिक सुन्दर है।

(7) **स्तूप संख्या H** :– इस स्तूप का महत्व इसके कई बार पुनरोद्धार होने से प्रतीत होता है। स्तूप गन्धकुटी के ठीक सामने मार्ग के बीचों-बीच बना है। स्तूप के बाहरी भाग गुप्त काल के हैं, लेकिन उसके भीतरी भाग संभवतः और भी पुराने हैं। यह स्तूप उस स्थल पर निर्मित है, जहाँ भगवान बुद्ध बैठ कर बौद्ध भिक्षुओं और उपासकों को धर्मोपदेश दिया करते थे।

(8) **विहार संख्या F व G** :– इनके प्रवेश द्वार दक्षिण दिशा की तरफ हैं। विहार संख्या G आयताकार है और उसमें 26 (छब्बीस) कक्ष हैं। विहार संख्या F वर्गाकार है और उसमें 22 (बाईस) कक्ष हैं। यहाँ एक कक्ष से एक पात्र में कुषाण काल के अनेकों सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन में कनिष्क, हुविष्क व वासुदेव के सिक्के हैं। ये विहार गुप्त काल में भी उपयोग में लाये गये थे, क्योंकि यहाँ से बड़ी मात्रा में तत्कालीन मुहरें व मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं।

(9) स्तूप संख्या 8 :– विहार संख्या G के पश्चिम में यह स्तूप है, जो दो विभिन्न

कालों में एक के ऊपर एक स्तूप के रूप में वना है। यहाँ से वोधिसत्व की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिस पर खुदे अभिलेखों से पता चलता है कि यह दो भाइयों द्वारा स्थापित की गई थी जिनमें से एक का नाम शिवधर था।

श्रावस्ती नगर (महेथ)

जेतवन के उत्तर दिशा की ओर प्राचीन श्रावस्ती नगर के खण्डहर हैं। नगर के चारों ओर मिट्टी की 5.2 (पाँच दशमलव दो) कि० मी० लंबी चारदीवारी है, जिसमें कई प्रवेश द्वार हैं। इनके नाम हैं – इमली दरवाजा, राजगढ़ दरवाजा, नौसहरा दरवाजा, काण्ड भारि दरवाजा व सोमनाथ दरवाजा।

(1) **सोमनाथ मंदिर** :– पश्चिमी प्रवेश अर्थात सोमनाथ दरवाजे से प्रवेश करने पर सर्वप्रथम एक ऊँचे टीले पर सोमनाथ मंदिर स्थित है। यह स्थल तीसरे जैन तीर्थंकर सम्भवनाथ की जन्मस्थली था।

(2) **पक्की कुटी** :– इस नगर में उपलब्ध बौद्ध स्मारकों में केवल दो स्तूपों के अवशेष हैं। इनमें से एक है पक्की कुटी, जो नगर के सवसे बड़े दो टीलों में से एक है। कनिंघम के अनुसार यह चीनी यात्रियों द्वारा देखा गया अँगुलिमाल का स्तूप ही है।

(3) **कच्ची कुटी** :– पक्की कुटी के दक्षिण-पूर्व में थोड़ी दूर पर ही दूसरा टीला है, जो कच्ची कुटी के नाम से जाना जाता है। यह भी चीनी यात्रियों द्वारा वर्णित सुदत्त (अनाथपिण्डक) का स्तूप है।

इनके अतिरिक्त अभी तक अन्य कोई वौद्ध स्मारक श्रावस्ती नगर के खण्डहरों में प्राप्त नहीं हुए हैं। संभव है कि खण्डहरों में प्रसेनजित निर्मित 'पुण्य साल' व पूर्वाराम विहार आदि के खण्डहर कहीं दबे पड़े हों और प्रकाश में आने की राह देख रहे हों।

इस प्रकार श्रावस्ती नगर व जेतवन विहार भगवान वुद्ध, भगवान महावीर व आजीवकों की कर्म स्थली रहे हैं। ये स्मारक समय के अनेकों उतार-चढ़ाव देख कर भी अविचलित रहते हुए, समय के थपेड़े सहते हुए, अव तक हमारी प्राचीन सभ्यता व संस्कृति के अवशेषों को संजोये हुए हैं। विश्व के, देश देश के, दूर व निकट से, अनेकों बौद्ध तीर्थ यात्री, सैलानी व शोधार्थी यहाँ दर्शन को आते हैं और इस स्थल को देखते हैं, जो भगवान को इतना प्रिय था कि उन्होंने अपने जीवन के अधिकांश वर्षाकाल यहाँ व्यतीत किये थे।

साँची

साँची विदिशा से लगभग 9 (नौ) किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में बीना और भोपाल के मध्य स्थित है। कला और शिल्पकारी की दृष्टि से भारतीय वौद्ध तीर्थो में इसका आज भी उतना ही महत्व है, जितना तव था जबकि यह बौद्ध धर्मावलंवियों का प्रमुख केन्द्र था। सदियों तक यह बौद्ध स्मारकों में अपनी बुलन्दियों के लिए विश्वविख्यात था। यहाँ से प्राप्त पुराने अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस स्थल का प्राचीन नाम काकणाय या काकणाव था। मुख्य स्तूप की वेदिका (चारदीवारी) पर 412 -13 ईसवी तथा 450-51 ईसवी के अभिलेखों में इसका नाम काकनादबोट मिलता है। सातवीं शताब्दी ईसवी के एक अन्य अभिलेख में बोट-श्री-पर्वत नाम दिया है। इस प्राचीन नाम के अवशेष के रूप में कनखेद नामक एक गाँव इस स्थल के निकट आज भी स्थित है। इसका साँची नाम कब और कैसे अस्तित्व में आया कहना कठिन है। चीनी वौद्ध तीर्थ यात्री युवान-च्वांग ने, जिन्होंने अपने यात्रा-विवरणों में अधिकतर वौद्ध स्मारकों का वर्णन किया है, इसके विषय में कुछ भी नहीं लिखा है।

भगवान बुद्ध के जीवन या बौद्धों के प्रारंभिक क्रिया-कलापों से इस स्थल का कोई संवंध न होने पर भी इसके इतना महत्वपूर्ण हो जाने का कोई स्पष्ट कारण दिखाई नहीं पड़ता है। केवल एक संवंध यही हो सकता है कि श्रीलंका की परंपरानुसार राजा अशोक के पुत्र भिक्षु महिन्द अपनी माँ देवी से मिलने यहाँ आये थे, जो कि विदिशा के एक व्यापारी की सुपुत्री थीं। राजा अशोक से उनका विवाह उस समय हुआ था जव अशोक उज्जैन के वाइसरॉय (राज-प्रतिनिधि) के रूप में विदिशा से गुजर रहे थे। श्रीलंका में धर्म प्रचार के लिए जाने से पहले भिक्षु महिन्द अपनी माँ द्वारा निर्मित वेदिसागिरि या चेतियागिरि विहार में, 240 ईसा पूर्व के लगभग, एक महीना यहाँ रुके थे।

यहाँ बने धार्मिक स्मारकों की नींव सर्वप्रथम महान मौर्य शासक अशोक के हाथों पड़ी थी, जव उन्होंने यहाँ एक स्तूप और एक स्तंभ का निर्माण कराया था। अशोक द्वारा इस निर्माण कार्य के लिए साँची की पहाड़ी को चुनने का कारण

विदिशा की एक संभ्रान्त महिला से उनका विवाह रहा होगा। इसके अतिरिक्त शायद स्वयं द्वारा नये-नये अपनाये गये बौद्ध धर्म के उत्साह को साकार करना और इस स्थल को आदर्श स्थल बनाना भी रहा होगा। यहाँ की शान्ति और एकान्त, जो साधना, समाधि आदि के लिए आवश्यक हैं, इस स्थल के चुने जाने में सहायक रहे होंगे। विदिशा जैसे प्रसिद्ध व धनी शहर के निकट होना भी आदर्श विहार होने की शर्तों को पूरा करता है। यहाँ से प्राप्त अनेकों अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि इस बौद्ध तीर्थ की उन्नति के पीछे विदिशा के श्रेष्ठि-समुदाय का बड़ा सहयोग रहा होगा।

मौर्य काल के कुछ समय बाद जब अशोक द्वारा बनवाया गया स्तूप धर्म के विरोधियों के हाथों काफी क्षतिग्रस्त हो चुका था, भिक्षु तथा उपासकों ने यहाँ के बौद्ध स्मारकों के निर्माण व पुनरोद्धार का कार्य नये उत्साह से अपने हाथों में लिया। यह धार्मिक चेतना लगभग 150 ईसा पूर्व में शुंगों के राज्य-काल में आयी। स्तूप की वेदिका में उत्कीर्ण व्रतानुष्ठित (Votive) अभिलेख उन समस्त व्यक्तियों के नामों को दर्शाते हैं। इस समय राजा अशोक के ईंटों के बने मूल स्तूप को आकार में दुगना किया गया और प्रस्तर फलकों का आवरण किया गया। स्तूप के चारों ओर वेदिका, सीढ़ी व हर्मिका का निर्माण हुआ। स्तूप सं० 2 व 3 के निर्माण कार्य के साथ मंदिर सं० 40 का पुनर्निर्माण भी इसी समय हुआ। यही धार्मिक प्रेरणा तथा शक्ति अगली शताब्दी में सातवाहनों के शासन में भी देखने को मिलती है, जब कि स्तूप सं० 1 व 3 के तोरणों का निर्माण हुआ।

इसके बाद राजनीतिक उतार चढ़ाव के कारण इस स्थल पर निर्माण कार्य आदि तब तक न हो सके जब तक कि चौथी शताब्दी ईसवी में गुप्त वंशीय राजाओं ने शान्ति का ऐसा माहौल (वातावरण) न बना दिया, जो कलात्मक प्रवृत्ति के लिए सहायक होता है। इसी समय स्तूप सं० 1 में चारों तरफ के दरवाजों के ठीक सामने स्तूप की दीवार से पीठ सटाये हुए और चंदोवा (Canopy) के नीचे चार बुद्ध प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। कुछ अन्य निर्माण कार्य भी इस काल में हुए जिनमें मंदिर सं० 17 प्रमुख है।

पुनः राजा हर्ष के शासन से पहले की राजनीतिक स्थितियों के अनुकूल न होने के कारण यहाँ कोई निर्माण कार्य न हो सका। हर्ष द्वारा बौद्ध धर्म के उत्थान में रुचि लेने के कारण सांची में सातवीं-आठवीं ईसवी में अनेकों विहार, मंदिर आदि बनें। इसके बाद 12वीं शताब्दी तक यहाँ थोड़ा बहुत निर्माण कार्य होता ही रहा। साँची से प्राप्त वज्रसत्व और मारीची की प्रतिमाओं से इस स्थल पर वज्रयान के प्रभाव को देखा जा सकता है। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से 12वीं शताब्दी ईसवी

तक फलने-फूलने के बाद साँची में बौद्ध निर्माण कार्य कैसे अपने अन्त पर पहुँचा, इसके कारण अज्ञात ही हैं। 13वीं शताब्दी से संबंधित कोई भी बुद्ध प्रतिमा या स्मारक आदि यहाँ नहीं मिलते है, जबकि इस काल में बनी विष्णु, गणेश आदि ब्राह्मण देवताओं की प्रतिमायें यहाँ से प्राप्त हुई हैं। इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता कि बौद्धों ने स्वयं इस स्थल को छोड़ दिया या वे ब्राह्मणवाद के बढ़ते प्रभाव से अपनी ताकत खो बैठे थे। वस्तुतः यही ब्राह्मणवाद बौद्ध धर्म के ह्रास का प्रधान कारण बना जो आज अपनी ही जन्मभूमि में मृत-प्राय हो चुका है।

इस प्रकार 14वीं शताब्दी के बाद से सन् 1818 में जनरल तैय्लॉर (Taylor) द्वारा इस स्थल को खोजे जाने तक का साँची का इतिहास पूरी तरह अन्धकार में रहा है। इसके वाद साँची को खजाना-खोजियों व पुरातात्विकों द्वारा काफी नुकसान उठाना पड़ा। सन् 1822 में भोपाल के सहायक राजनीतिक प्रतिनिधि कैप्टन जॉनसन ने स्तूप सं० 1 को एक तरफ से खोला, जिसके कारण एक बड़ी दरार पड़ गयी, जिससे तोरण तथा वेदिका का एक भाग गिर गया। स्तूप सं० 2 को भी थोड़ा नुकसान हुआ। सन् 1851 में कैप्टन एफ० सी० मैसी (Maisey) के साथ अलेक्जेण्डर कनिंघम ने स्तूप सं०2और3की खुदाई कराई और स्मृतिशेष-मँजूषा (Relic-casket) प्राप्त कीं। उन्होंने स्तूप सं० 1 के केन्द्र में भी एक दण्ड डाला, परन्तु यहाँ कोई भी स्मृतिशेष नहीं मिला। इसी बीच अशोक का स्तंभ भी एक स्थानीय जमींदार द्वारा गन्ना पेरने के लिए खण्डित कर दिया गया।

सन् 1881 में मेजर कोल द्वारा इसकी मरम्मत तथा पुनरोद्धार का कार्य हाथ में लिया गया। उन्होंने स्तूप सं० 1 की दरार को भरा तथा गिरे हुए तोरण व वेदिका को ठीक कराया। शेष स्मारक उसी स्थिति में अनछुये ही रहे। उनकी खुदाई करने व संभालने का कार्य तब तक नहीं हुआ जब तक कि सन् 1912 से 1919 तक भारतीय पुरातत्व विभाग के महानिदेशक सर जॉन मार्शल ने इस कार्य को हाथ में नहीं लिया। उस समय फैले हुए पुरावशेषों (Antiquities) को रखने के लिए एक संग्रहालय भी बनवाया गया। इसके वाद मोहम्मद हमीद ने सन् 1936 में स्तूप सं० 1 और 2 के वीच पहाड़ी की ढलान पर खुदाई की और विहार सं० 51 को खोजा। तब से अब तक अन्य कोई खुदाई का कार्य नहीं हुआ है और साँची अपने उसी रूप में विद्यमान है।

साँची में मुख्य स्तूप के अतिरिक्त लगभग 50 (पचास) अन्य स्तूप, स्तंभ, मंदिर व विहार प्राप्त हुए हैं। ये स्मारक मुख्यतया पहाड़ी के ऊपर या पहाड़ी की पश्चिमी ढलान पर स्थित हैं। पहाड़ी के ऊपर के स्मारक लगभग 384 (तीन सौ चौरासी) मीटर उत्तर से दक्षिण और लगभग 201 (दो सौ एक) मीटर पूर्व से पश्चिम में फैले

हुए हैं और 11वीं या 12वीं शताब्दी में बनी पत्थर की आयताकार दीवार से घिरे हैं। स्मारकों में से अधिकतर अर्थात सं० 1 से 50 तक इसी दीवार के भीतर हैं। इनके अतिरिक्त केवल स्तूप सं० 2 और विहार सं० 51 ही हैं जो कि पहाड़ी की पश्चिमी ढलान पर हैं और एक पुराने रास्ते द्वारा मुख्य अवशेषों से मिलते हैं। साँची के मुख्य अवशेष निम्नलिखित है :-

मुख्य स्थल

(1) महान स्तूप सं० 1 :- साँची का मुख्य आकर्षण महान स्तूप आज भी अपने अण्डाकार रूप में सही-सलामत उपलब्ध है। भारतीय स्तूप निर्माण कला के उदाहरण के रूप में इससे अच्छा कोई स्तूप आज तक नहीं मिल पाया है। चोटी के पास यह कुछ समतल सा है और यहाँ हर्मिका के मध्य छत्रावलि स्थापित है। स्तूप के चारों तरफ एक ऊँचा चबूतरा या मेधि है जो प्रदक्षिणा के प्रयोजन से बनी है और जिस तक जाने के लिए दक्षिण की तरफ दोहरी सीढ़ियाँ बनी हैं। एक दूसरा प्रदक्षिणा पथ धरातल पर बना है, जो चारों तरफ से वेदिका से घिरा है। इसमें प्रवेश का मार्ग चारों मुख्य दिशाओं में बने तोरणों से है, जो शिल्पकारी के अद्‌भुत नमूने हैं। इस स्तूप का व्यास 36.60 (छत्तीस दसमलव साठ) मीटर और छत्रावलि व हर्मिका को छोड़कर केवल अण्ड की ऊँचाई 16.46 (सोलह दशमलव छियालीस) मीटर है।

वेदिका अष्टभुजाकार स्तंभों के छेदों में सूचियों को फँसा कर बनाई गई है और उन पर ऊपर से गोल मुँडेर या उष्णीप बनी हुई है। इन सूचियों पर यहाँ होने वाले निर्माण में सहयोग देने वाले भारत के विभिन्न भागों के उपासकों आदि का नाम उत्कीर्ण मिलता है।

स्तूप का मुख्य आकर्पण इसके नक्काशीदार तोरण हैं, जो पहली शताब्दी ईसा पूर्व में सातवाहनों के शासन-काल में बने थे। इस तथ्य की जानकारी दक्षिणी तोरण के ऊपरी प्रस्तरपाद (Architraves) पर उत्कीर्ण एक अभिलेख से मिलती है, जो सातवाहन वंश के राजा शातकर्णि के शिल्पियों के मुखिया किसी आनन्द की भेंट का वर्णन करता है। वेदिका को तोरणों से जोड़ने वाले अतिरिक्त जंगले भी इसी काल में बने थे। स्तूप की आखिरी वृद्धि लगभग पाँचवी शताब्दी के बाद हुई, जब चार सौ पचास (450) ईसवी में गुप्त वंशीय राजाओं के शासन में चार बुद्ध प्रतिमायें, स्तंभदार चंदोवा (Canopy) के नीचे, स्तूप की दीवार के साथ चारों प्रवेश द्वारों की तरफ मुँह किये हुए बनाई गई थीं। ये बुद्ध प्रतिमायें ध्यान मुद्रा में हैं, और उनके प्रभामण्डल पर विस्तार से नक्काशी की गई है तथा दोनों तरफ एक-एक सेवक बने हैं।

(2) तोरण :– चारों तोरणों में से दक्षिणी तोरण का मुख्य प्रवेश द्वार होना यहाँ स्थापित अशोक के स्तंभ के अतिरिक्त प्रदक्षिणा पथ की सीढ़ियों के भी इसी तरफ होने से प्रतीत होता है। तोरणों पर उनके भेंटकर्ता के नाम भी उत्कीर्ण हैं। पश्चिमी तोरण का दक्षिणी स्तंभ तथा दक्षिणी तोरण का मध्य प्रस्तरपाद आर्य-चूड के शिष्य वलमित्र की भेंट हैं। इसी प्रकार कुरार (Kurara) के वासी श्री नागपिय पूर्वी तोरण के दक्षिणी स्तंभ और पश्चिमी तोरण के उत्तरी स्तंभ के दानकर्ता थे। समय का प्रभाव दक्षिणी तोरण पर सबसे अधिक पड़ा, जबकि उत्तरी तोरण सबसे अच्छी हालात में है। उनके मूल अलंकारिक गुण तोरणों की प्राचीन सुन्दरता का यथेष्ट आभास देते हैं। इनके शिल्पी मुख्यतया हाथीदाँत आदि का काम करने वाले कारीगर थे। यह तथ्य दक्षिणी तोरण के पश्चिमी स्तंभ पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है, जो बताता है कि तोरणों का अलंकरण (Decoration) विदिशा के हाथीदाँत के कारीगरों का किया है।

प्रत्येक तोरण में दो चौकोर स्तंभ हैं, जो चार शेर, हाथी या तोंदल बौनों के समूह से अभिषिक्त हैं, जिन्होंने तीन वक्राकार प्रस्तरपादों, जिनके किनारे कुण्डलित हैं, को सहारा दिया हुआ है। स्तंभों की ऊँचाई लगभग 8.53 (आठ दशमलव तिरपन) मीटर है। प्रस्तरपादों के मध्य, जो कि एक दूसरे से चार चौकोर शिलाखण्डों द्वारा अलग हैं, तीन नक्काशीदार छोटे स्तंभ घुसेड़े गये हैं। उनके बीच का खाली स्थान दोनों तरफ को मुँह किये हुए हाथी या घुड़सवारों से भरा हुआ है। स्तंभों के शीर्षफलक से बहिर्विष्ट (Projecting, बाहर निकलते हुए) तथा सबसे निचले प्रस्तरपाद के किनारों को सहारा देते हुए शालभञ्जिकाओं की मूर्तियाँ बनी हैं। प्रस्तरपाद के किनारों के मध्य के खाली स्थान को इसी प्रकार की परन्तु कुछ छोटी मूर्तियों से भरा गया है, जबकि मरगोल (Scrolls) पर सिंह या हाथी सवार खड़े हैं। ऊपरी प्रस्तरपाद के मध्य में एक धर्मचक्र है जिसके बगल में चाँमर लिए हुए यक्ष और सूक्ष्मता से नक्काशी किये हुए त्रिरत्न बने हैं, जो बुद्ध, धर्म और संघ के प्रतीक हैं। निचले प्रस्तरपाद के अधोभाग (निचले भाग) में कमल की कतार उत्कीर्ण की गई है। देहलीज का ऊपरी भाग गोलाकर चित्र द्वारा मध्य में और दो अर्ध-गोलाकर चित्रों द्वारा किनारे पर सजाया गया है। इन चित्रों के बीच में फलिकायें बनी हैं।

तोरण की पूरी सतह विभिन्न दृश्य व अलंकारों की नक्काशी से भरी है। शिल्पकारी काफी उन्नत व उच्च कोटि की और सजीव प्रतीत होती है। समस्त तोरणों व वेदिका पर लाल रंग किया हुआ था जिसका कुछ अंश पूर्वी तोरण व साथ की वेदिका पर अब भी देखा जा सकता है।

तोरणों की नक्काशी के विषय को मोटे तौर पर निम्नलिखित भागों में बाँटा

जा सकता है। (1) जातकों के दृश्य (2) भगवान बुद्ध के जीवन के दृश्य (3) बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन इतिहास की घटनायें (4) मानुषी बुद्धों से संबंधित दृश्य तथा (5) विभिन्न दृश्य तथा सजावट।

1. जातकों के दृश्य :– जातकों की कहानियाँ गौतम बुद्ध के पूर्वजन्मों से संबंधित हैं जब बोधिसत्व की अवस्था में उन्होंने पशु-पक्षी व मनुष्य के रूप में अनेकों जन्म लेकर दान, शील आदि पारमिताओं का पालन करके बुद्धत्व प्राप्त किया था। यहाँ केवल पाँच जातकों के ही दृश्य मिलते हैं, लेकिन विस्तार से मिलते हैं, जिससे समस्त कथा स्पष्ट हो जाती है। वे पाँच जातक हैं – छद्दन्त जातक (514), महाकपि जातक (407), महावेस्सन्तर जातक (547), अलम्बुस जातक (523) और साम जातक (540)।

2. भगवान बुद्ध के जीवन के दृश्य :– भगवान बुद्ध के जीवन से संबंधित दृश्यों को तोरणों की नक्काशी में मुख्य स्थान मिला है। इन सभी दृश्यों में भगवान बुद्ध कहीं भी मानुषिक रूप में नहीं दर्शाये गये हैं। उनकी उपस्थिति को प्रतीक रूप में दिखाया गया है, जैसे कि धर्मचक्र, पदचिन्ह, बोधिवृक्ष आदि।

उनके जीवन की निम्नलिखित 29 (उन्तीस) घटनायें तोरणों पर दर्शायी गयी हैं– जन्म, बोधि प्राप्ति, प्रथम धर्मोपदेश, महापरिनिर्वाण, माता महामाया का स्वप्न व अवधारणा, चार सैरें (यात्रायें) जिनमें उन्होंने बूढ़े, रोगी, शव तथा सन्यासी को देखा, महाभिनिष्क्रमण, भगवान के केशों की देवता द्वारा पूजा, सुजाता द्वारा खीर भेंट, घसियारे स्वास्तिक द्वारा घास की भेंट, मार द्वारा प्रलोभन व आक्रमण, बोध-गया में चंक्रमण, रत्न गर्भ का दृश्य, नागराज मुचिलिन्द द्वारा वर्षा से बचाव, तपस्सु व भल्लिक का उरूवेला से गुजरना, उनके द्वारा भिक्षा पात्र भेंट करना, अध्येषणा, उरूवेला के अग्नि-मंदिर में सर्प का चमत्कार, उरूवेला में आग व लकड़ी का चमत्कार, उरूवेला में भगवान बुद्ध का नदी पर चलना, कपिलवस्तु में आगमन, न्यग्रोधाराम में शाक्यों को बुद्ध देशना, जेतवन में बुद्ध का निवास, श्रावस्ती का चमत्कार, श्रावस्ती में आम्र वृक्ष के नीचे बुद्ध देशना, साँकाश्य का चमत्कार, कपि द्वारा शहद की भेंट, शक्र का आगमन और शाही शोभा-यात्रा।

3. बौद्ध-धर्म के उत्तरकालीन इतिहास के दृश्य या घटनायें :- केवल निम्नलिखित तीन घटनाओं को ही पहचाना जा सका है– कुशीनगर का विवाद तथा स्मृतिशेषों का बँटवारा, रामग्राम का स्तूप और अशोक की बोधि-वृक्ष-दर्शन-यात्रा।

4. मानुषिक बुद्धों से संबंधित दृश्य :– साँची के शिल्पकारों का गौतम बुद्ध सहित

पहले के छः मानुषी बुद्धों को प्रतीकात्मक रूप में दर्शाना मुख्य विषय रहा है, क्योंकि लगभग प्रत्येक तोरण के प्रस्तरपादों पर उन्हें मुख्य स्थान मिला है। वे स्तूप या बोधि-वृक्ष के द्वारा दर्शाये गये हैं। बोधि-वृक्ष प्रत्येक बुद्ध के लिए भिन्न-भिन्न हैं, जिससे उनको पहचाना जा सकता है। पाटिल, पुण्डरीक, शाल, शिरीष, उदुम्बर तथा न्यग्रोध वृक्ष क्रमशः विपश्यीन, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि और काश्यप मानुषी बुद्धों को दर्शाते हैं। पश्चिमी तोरण के ऊपरी प्रस्तरपाद के सामने की तरफ अन्य बोधि-वृक्षों के साथ नागपुष्प बोधि-वृक्ष भी दर्शाया गया है, जो कि भावी बुद्ध मैत्रेय का प्रतीक है।

5. विभिन्न दृश्य व सजावट :– उपरोक्त दृश्यों के अतिरिक्त ऐसी अनेकों नक्काशियाँ हैं जो भगवान बुद्ध के जीवन की ज्ञात घटनाओं पर किसी प्रकार आरोपित नहीं की जा सकती हैं, लेकिन उनका उद्देश्य धार्मिक ही है। उदाहरण के रूप में बुद्ध की न केवल मनुष्यों और दिव्य व्यक्तियों द्वारा बल्कि वन्य प्राणियों द्वारा पूजा के दृश्य या स्वर्गीय जीवन के दृश्यों को प्रदर्शित किया गया है, जो कि मनुष्य को अच्छे कृत्य करने की प्रेरणा देते हैं।

(3) स्तूप सं० 2 :– यह स्तूप पहाड़ी की ढलान पर लगभग 320 (तीन सौ बीस) मीटर नीचे एक चबूतरे पर बना है और आकार व रूपरेखा में स्तूप सं० 3 से साम्य रखता है। दोनों में जो भिन्नता है, वह केवल तोरण की है। तोरण, अण्ड के ऊपरी भाग, सीढ़ियों की चारदीवारी से रहित होने के कारण इसका दर्शन असज्जित सा लगता है। अब केवल धरातल पर बनी वेदिका ही सुरक्षित है। इसकी दोहरी सीढ़ियाँ पूर्व की तरफ हैं। वेदिका पर मिले अभिलेखों और नक्काशी की शैली द्वारा इसके निर्माण का काल दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का प्रतीत होता है।

वेदिका के स्तंभ एक पूर्ण और दो अर्ध गोलाकार चित्रों द्वारा सज्जित हैं। प्रवेश द्वार के निकट के केवल कुछ स्तंभ पूरी तरह नक्काशी किये हुए हैं। बुद्ध के जीवन के कुछ दृश्य जैसे जन्म, महाभिनिष्क्रमण आदि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त नक्काशी के विषय अलंकारिक उद्देश्य वाले हैं जैसे पुष्प, पशु, पक्षी या पौराणिक जीव। पौराणिक जीवों में मनुष्य के चेहरे वाले सिंह, अश्वमुखी यक्षी, यक्ष, नाग आदि हैं। पक्षी व पशुओं में चिड़ियाँ, हाथी व सिंह आदि ज्यादा हैं। पुष्पों के विषय में कमल की अधिकता है, जो प्रत्येक एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इसके शिल्पकारों की कला उतनी उन्नत नहीं है जितनी कि स्तूप सं० 1 में, लेकिन वे समकालीन कला के वास्तविक उदाहरण हैं।

स्तूप का अधिक महत्व इसकी कला से नहीं बल्कि इसमें से प्राप्त बौद्ध आचार्यों

के शारीरिक स्मृतिशेषों के कारण है। चबूतरे से लगभग 2.13 (दो दशमलव तेरह) मीटर की ऊँचाई पर, केन्द्र से .61 (दशमलव इकसठ) मीटर पश्चिम की तरफ जनरल कनिंघम ने स्मृतिशेष-प्रकोष्ठ के भीतर पत्थर की एक स्मृतिशेष-मँजूपा पायी थी। ढक्कन सहित इसका आकार .28×.24×.24 मीटर है। इसकी पूर्वी सतह पर लिखा है– "सविन विनायकान अरं कासप-गोतं उपादय अरं च वाछि-सुविजयितं विनायक," अर्थात- आचार्य (अर्हत) कासप गोत (काश्यप गोत्र) तथा अर्हत वाछि (वात्सी) सुविजयित सहित सभी आचार्यों के (स्मृतिशेष)। मँजूषा के भीतर चार चित्तीदार सेलखड़ी (Mottled Steatite) की मँजूपा मिली हैं, जिन पर दस आचार्यों के नाम लिखे हैं, जिनकी जली हुई हड्डियाँ इनमें मिली हैं। वे आचार्य हैं– कासप-गोत (सभी हेमवतों के आचार्य), मज्झिम, हारितिपुत्त, वाछिय-सुविजयत (गोत का शिष्य), महवनाय, आपगिर, कोडिनिपुत्त, कोसिकिपुत्त, गोतिपुत्त तथा मोगलिपुत्त। ये सभी आचार्य समकालीन नहीं थे। इस प्रकार स्तूप से प्राप्त स्मृतिशेप आचार्यों की कम से कम तीन पीढ़ियों के हैं, और यहाँ रखने के पूर्व कहीं और रखे गये होंगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्तूप के निर्माताओं ने जानवूझ कर इन स्मृतिशेषों को रखने के लिए मुख्य अवशेषों की अपेक्षा नीची जगह चुनी, क्योंकि वे शास्ता व उनके मुख्य शिष्यों के स्मृतिशेषों के साथ इन आचार्यों के स्मृतिशेषों को रखने से झिझकते रहे होंगे।

(4) स्तूप सं० 3 :- यह स्तूप मुख्य स्तूप से उत्तर-पूर्व में लगभग 45 (पैंतालिस) मीटर की दूरी पर स्थित है। इसका प्रारूप विल्कुल मुख्य स्तूप जैसा ही है, केवल आकार में यह उससे काफी छोटा है। इसका व्यास 15 (पन्द्रह) मीटर और ऊपरी भाग को छोड़कर ऊँचाई 8.23 (आठ दशमलव तेईस) मीटर है। इसमें केवल एक ही तोरण है और धरातल की वेदिका के चार स्तंभ ही केवल उपलब्ध हैं। स्तंभों पर मध्य में एक गोलाकार चित्र और किनारे पर दो अर्धगोलाकार चित्र बने हैं, जिनके मध्य तीन फलिकायें बनी हैं।

यह स्तूप, जिस पर केवल एक छत्र है, अपनी सीढ़ियों, हर्मिका, वेदिका आदि सहित दूसरी शताव्दी ईसा पूर्व में बनवाया गया, जव स्तूप सं० 1 का पुनरोद्धार किया गया था। इस तथ्य का पता इससे चलता है कि किसी एक व्यक्ति ने दोनों ही स्तूपों की सीढ़ियों की वेदिका के निर्माण के दान में भाग लिया था। उसका नाम अभिलेखों में उत्कीर्ण है। धरातल की वेदिका लगभग एक शताव्दी वाद बनी और तोरण तो पहली शताव्दी ईसवी में बना। इसी वक्त प्रदक्षिणा-पथ के तल को 3 मीटर के लगभग ऊँचा किया गया, जिससे कि सीढ़ियों के निचले कदम उससे ढँक गये। तोरण की ऊँचाई लगभग 5 (पाँच) मीटर है और उसका प्रारूप मुख्य तोरणों के समान ही है, किन्तु शिल्प कला उतनी उन्नत नहीं है।

इस स्तूप का महत्व यहाँ से प्राप्त सारिपुत्र व मौद्गल्यायन के स्मृतिशेषों के कारण है, जो कनिंघम ने अण्ड के मध्य में चबूतरे के धरातल के बराबर में प्राप्त किये थे। स्मृतिशेष प्रकोष्ठ के, जो 1.5 (डेढ़) मीटर के लगभग बड़े शिलाफलक से ढँका था, भीतर दो प्रस्तर मँजूषा मिलीं हैं जिनके ढक्कनों पर क्रमशः 'सारिपुतस' व 'महा-मोगलानस' लिखा मिला है। सारिपुत्र की मँजूषा में .152 (दशमलव एक पाँच दो) मीटर चौड़ी व .076 (दशमलव शून्य सात छः) मीटर ऊँची सफेद सेलखड़ी की स्मृतिशेष मँजूषा (Casket) है जो चमकदार काली मिट्टी की तश्तरी से ढँकी है और चन्दन की लकड़ी के दो टुकड़े भी मिले हैं। मँजूषा के भीतर अस्थि (हड्डी) का एक छोटा टुकड़ा व सात मणिकायें मिली हैं। ढक्कन के आन्तरिक भाग पर स्याही से 'सा' लिखा है जो सारिपुत्र के नाम का अग्रभाग (Initial) है।

मौद्गल्यायन की मँजूषा में दूसरी मँजूषा मिली है, जो थोड़ी छोटी है। इसमें अस्थि (हड्डी) के दो छोटे टुकड़े रखे हैं। ढक्कन पर 'मा' शब्द लिखा है।

इन उपरोक्त स्मारकों के अतिरिक्त यहाँ अनेकों अन्य स्तूप, स्तंभ, मंदिर व विहार मिले हैं, जो इस स्थल के बौद्ध संप्रदाय की गतिविधियों के केन्द्र होने और बौद्धधर्म के यहाँ पर सक्रिय होने का यथेष्ट प्रमाण देते हैं। स्थापत्य कला या शिल्पकारी आदि की दृष्टि से उन स्मारकों का कुछ विशेष महत्व न होने के कारण उनकी चर्चा अनावश्यक है।

(5) नया चैत्यगिरी विहार :– महाबोधि सोसायटी द्वारा पहाड़ी की उत्तरी ढलान पर सन् 1952 में सारिपुत्त व मोग्गल्लान की अस्थियों को रखने के लिए इसका निर्माण कराया गया था। ये स्मृतिशेष सन् 1851 में लंदन ले जाये गये थे और जनवरी 1949 ईसवी में भारत की महाबोधि सोसायटी की प्रार्थना पर भारत को लौटाए गए थे।

स्तूप सं० 2 से प्राप्त दस बौद्ध आचार्यों के स्मृतिशेष भी ब्रिटिश म्यूजियम से सन् 1956 में भारत को लौटाए गए। इनमें से पहली मँजूपा जिसमें मौग्गलिपुत्त तिस्स, कासिकिपुत्त व गोतिपुत्त के अवशेष थे, भारत सरकार द्वारा श्रीलंका सरकार को भेंट कर दी गयी और दूसरी मँजूपा महाबोधि सोसायटी को भेंट की गई जो नये चैत्यगिरी विहार में रखी गई है।

इस प्रकार साँची का महत्व प्राचीन स्मारकों, स्तूपों के बेहतरीन उदाहरणों, अत्यन्त उन्नत शिल्पकला व बौद्ध आचार्यों के स्मृतिशेषों के कारण इतना अधिक है कि दूर-दूर से बौद्ध अनुयायी यहाँ आते हैं और अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

भरहुत

मौर्यों के शासनकाल के वाद सत्ता में आने वाले शुंग शासकों के शासनकाल में फलने-फूलने वाले स्मारकों में साँची व भरहुत ही ऐसे दो स्मारक हैं, जो न केवल बौद्ध संसार में बल्कि भारतीय कला के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखते हैं। ये स्मारक मौर्यकाल के स्मारकों से भिन्न हैं, क्योंकि ये राजसी सहायता द्वारा नहीं अपितु जन सामान्य द्वारा निर्मित हैं। इन दो महाचैत्य रूपी जगमगाते नेत्रों के माध्यम से हम प्राचीन भारत की सांस्कृतिक संस्थाओं की विपुल परंपरा तक पहुँच पाते हैं, जो लाखों लोगों की संस्कृति, समाज व कला के काव्यात्मक संस्मरण के रूप में आज हमारे पास विद्यमान हैं।

इनमें साँची का स्तूप प्राकृतिक ह्रास को झेलते हुए भी किसी विध्वंसक के हाथों में न पड़ने के कारण भारत के सवसे अच्छे ढंग से संजोये स्मारक के रूप में विद्यमान है। परन्तु भरहुत का स्तूप तो पूर्णतया लुप्त हो गया है। यहाँ तक कि नींव का मलवा भी गाँव वालों द्वारा अपने मकानों के निर्माण में प्रयुक्त कर लिया गया है। आज यहाँ एक गोल छिछला गड्ढा मात्र ही शेष रह गया है। इस प्राचीन प्रसिद्ध केन्द्र को देख कर धक्का सा लगता है। निरावृत्त स्थल पर ईंटों के रोड़े तथा गहरे-बैंगनी रंग के वलुआ पत्थरों के छोटे-छोटे टुकड़े चारों ओर बिखरे पड़े हैं। बुद्ध व बौद्ध देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के अनेकों टुकड़े गाँव में बने हनुमान के आधुनिक मंदिर की पिछली दीवार में जड़े हैं।

भरहुत मध्यप्रदेश के सतना जिले में उचेहरा नामक गाँव से 10 (दस) कि० मीटर उत्तर-पूर्व की ओर तथा सतना रेलवे स्टेशन से लगभग 15 (पंद्रह) कि० मीटर दक्षिण में स्थित है। इसे भड़ोद नाम से जाना जाता है और यह लाल-पहाड़ नामक पहाड़ी की तलहटी में स्थित है। स्वाधीनता से पहले यह नागोद की छोटी रियासत का भाग था। प्राप्त साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि यह तत्कालीन प्रमुख नगरों जैसे दक्षिण में उज्जैन और भिलसा (विदिशा), उत्तर में कौशाम्बी और श्रावस्ती तथा पूर्व में पाटलिपुत्र के मध्य में राजपथ पर पड़ता था तथा सुगण (श्रुघ्न) राज्य में स्थित था। इस स्थल के भरहुत नाम का कोई विशेष औचित्य स्पष्ट नहीं है और भड़ोद नाम संभवतः भरहुत का विकसित रूप है।

इस स्थल को खोजने और यथासंभव यहाँ की बेशकीमती कलाकृतियों इत्यादि को बचाने का श्रेय निस्सन्देह कनिंघम को जाता है, जिनकी भारतीय कला व संस्कृति के प्रति रुचि के अनेकों उदाहरण उपलब्ध हैं। नवम्बर 1873 ईसवी में कनिंघम यहाँ आये, तो उन्हें मुख्य स्तूप की अमूल्य वेदिका के कुछ अंश ही प्राप्त हुए। अपने अथक प्रयास व सहायक बेगलर की सहायता से उन्होंने खुदाई द्वारा स्तूप के बुनियादी नक्शे के अवशेषों को खोजने में सफलता पाई और वेदिका के कुछ अंश व पूर्वी प्रवेश द्वार को उबारने में सफल हुये। उन अवशेषों को यहाँ छोड़े जाने पर उनकी अवश्यंभावी नियति का अनुमान लगा कर उन्होंने उन कला-अवशेषों को कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में नगोद के राजा की भेंट के रूप में सुरक्षित भिजवा दिया। बाद में पंडित बृजमोहन व्यास द्वारा समीपस्थ गाँव के लोगों से इस वेदिका के 54 (चौवन) खण्ड प्राप्त कर इलाहाबाद संग्रहालय में ले जाये गये। तत्पश्चात कुछ खण्ड राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली द्वारा भी प्राप्त किये गये हैं।

प्राप्त अवशेषों व नक्शे से ज्ञात होता है कि मुख्य स्तूप सादी ईंटों (11×12×3.5) का बना था, पत्थरों की पक्की आधारशिला पर आधारित था और बाहर से उस पर प्लास्टर की एक पर्त थी। इसकी आकृति वृत्ताकार थी। कनिंघम द्वारा मेधि की दक्षिण-पूर्व दिशा के एक 6 (छः) फुट ऊँचे व 10 फुट लंबे अंश की प्राप्ति से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि मेधि का व्यास 67 (सरसठ) फुट 8.5 (साढ़े आठ) इंच था। इस प्राप्त अंश का निम्नार्ध भाग पूर्णतया समतल परन्तु उच्चार्ध भाग त्रिकोण रथिकाओं (आलों) की श्रृंखला से सुसज्जित था। ये रथिकायें नीचे से संकरी व ऊपर से चौड़ी थीं और सामने की ओर कुछ ईंटों को लगवा कर इनको बनवाया गया था। प्रत्येक रथिका का पार्श्व भाग दो चरणों में इस प्रकार विभक्त था कि प्रत्येक में पाँच दीप लग सकें। ऊपर से ये रथिकायें लगभग 13.2 (साढ़े तेरह) इंच व नीचे से 4.5 (साढ़े चार) इंच चौड़ी थीं और प्रत्येक एक दूसरे से 8.5 (साढ़े आठ) से 9 (नौ) इंच तक के अन्तर पर थीं। अतः 212.75 (दो सौ पौने तेरह) इंच की संपूर्ण मेधि पर 120 (एक सौ बीस) रथिकायें रही होंगी। प्रत्येक पंक्ति में दीपमाला के लिए 600 (छः सौ) दीप लगे हुए होंगे और रथिका की प्रत्येक पंक्ति में दीपों की तीन-तीन रेखायें रही होंगी। इस प्रकार रथिकाओं की अनेकों पंक्तियाँ थीं और दीपमाला से स्तूप का स्वरूप रत्न सदृश दिखाई पड़ता रहा होगा।

अधिरचना के अभाव में वेदिका में प्रदर्शित स्तूप की अनुकृतियों से ही इसके तत्कालीन स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। स्तूप गोलार्ध आकृति वाला तथा वर्तुलाकार आधार पर स्थित था, जो विभिन्न प्रकार की दीपमाला वाली छोटी-छोटी रथिकाओं से अलंकृत था। अण्ड के शिखर पर हर्मिका सहित छत्र

प्रदर्शित है और चारों ओर वेदिका वनी है। शिखर व वर्गाकार चबूतरे दोनों से ही बड़े-वड़े फूल निकल रहे हैं और एक लहरदार पट्टियों से युक्त वर्तुलाकार अलंकरण अण्ड (गोलार्ध) के चारों ओर लटक रहा है। स्थानीय निवासियों ने कनिंघम को स्तूप के मध्य में खोदे जाने पर एक डिबिया के प्राप्त होने के विपय में सूचित किया था, जो कि निस्सन्देह अस्थि (अवशेष) मँजूषा रही होगी। परन्तु उसके विपय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं होता है।

स्तूप का गोल प्रदक्षिणा-पथ 10 (दस) फुट 4 (चार) इंच चौड़ा था और धरातल चूने की मोटी पर्त का बना था। धरातल के किनारे पर पत्थरों की पंक्ति थी, जिसके साथ वेदिका के स्तंभ जुड़े थे। यह धरातल वेदिका के आगे वाहर भी कई फुट तक फैला था। इस विस्तार पर कुछ प्रस्तर व्रतानुर्ष्ठित स्तूप और उनके अवशेष इत्यादि ईंटों की दीवार के रूप में मिले हैं।

2 (दो) फुट 1 (एक) इंच ऊँचे व 7 (सात) इंच चौड़े दो स्तंभों की प्राप्ति से जिन पर खड़ी आकृतियाँ वनी थीं और नींव के वक्र प्रस्तर के चार टुकड़े व वक्र उष्णीष (मुण्डेर) प्रस्तर के कम से कम दस टुकड़ों की प्राप्ति से कनिंघम ने एक बाह्य वेदिका के अस्तित्व का अनुमान लगाया था, जो अपेक्षाकृत बाद में निर्मित हुई होगी। यह संभवतः आरंभिक वेदिका के चारों ओर हुए अनेकों निर्माण के कारण बनाई गयी होगी। उनके अनुसार आगन्तुक प्रदक्षिणा-पथ तक प्रस्तर सोपान द्वारा पहुँचते रहे होंगे। इस अनुमान का आधार यहाँ से प्राप्त एक 3 (तीन) फुट 1 इंच चौड़ी प्रस्तर सीढ़ी है, जिसमें सात पद (Steps) हैं और प्रत्येक पद 10 (दस) इंच का है। हालांकि यह असंभव नहीं है कि वेदिका के अंश ऊपरी प्रदक्षिणा-पथ की मुण्डेर का अंग रहे हों, जो मेधि के ऊपर थी और जहाँ तक जाने के लिए उपरोक्त सोपान का प्रयोग होता रहा हो। इन स्तंभों में उत्कीर्ण आकृतियों की कलात्मकता भी उनको अधिक बाद का नहीं सिद्ध करती है।

स्तूप के निर्माण का समय निश्चित न होने पर भी यह निश्चित है कि वेदिका के निर्माण के समय इसने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी कि विदिशा, करहकट, नासिक, कौसांवी, पाटलिपुत्र जैसे दूर-दराज के क्षेत्रों के दाता भी यहाँ बड़ी संख्या में आये और भरपूर दान द्वारा वेदिका के निर्माण में यथा-योग्य सहयोग दिया। इस प्रकार वेदिका स्पष्टतः द्वितीय शताब्दी ईसापूर्व के उत्तरार्ध के जनसामान्य व भिक्षु, भिक्षुणियों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। उनके नाम उनके द्वारा दी गई भेंटों (दान) में उत्कीर्ण हैं। स्तूप को आवृत्त करने वाली विशाल प्रस्तर वेदिका के चार प्रमुख बिन्दुओं की ओर चार द्वार थे। इस प्रकार यह वेदिका चार खण्डों में विभक्त थी और प्रत्येक में 16 (सोलह) स्तंभ लगे थे जो चार तिरछे-दण्डों से संयुक्त थे व

एक विशाल प्रस्तर उष्णीष से आवृत्त थे। प्रत्येक प्रवेश द्वार के बाँयीं ओर बाहर की तरफ दो स्तंभों के लिए स्थान छूटा हुआ था ताकि स्तूप का सीधा रास्ता ढँका रहे। प्रवेश द्वार की इन चार प्रतिगामी शाखाओं से पूर्ण वेदिका एक विशाल स्वस्तिक जैसी प्रतीत होती रही होगी। इस प्रकार वेदिका के प्रत्येक तोरणान्तर में 20 स्तंभ थे या यों कहें कि संपूर्ण वृत्त में 80 स्तंभ थे और इनमें चार प्रवेश द्वारों के वापसी स्तंभ भी सम्मिलित थे।

वेदिका के स्तंभों की ऊँचाई 7 (सात) फुट 1 (एक) इंच, पृष्ठ भाग 1 (एक) फुट 10.5 (साढ़े दस) इंच का मूर्ति के लिए और 1 (एक) फुट 2.5 (ढाई) इंच का पार्श्व वाला भाग वेदिका सूची और चूलों के लिए था। इस प्रकार उष्णीष सहित वेदिका की ऊँचाई लगभग 9 (नौ) फुट और भीतरी व्यास 88 (अट्ठासी) फुट 4.5 (साढ़े चार) इंच था। कोने के स्तंभों के अतिरिक्त सभी स्तंभों के किनारे दोनों ओर कुछ तिरछे हैं। स्तूप के मूल स्थल पर कुल मिलाकर 35 (पैंतीस) स्तंभ मिले हैं, जो लगभग पूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कई टुकड़े भी मिले हैं। निकट के गाँव भटनवाड़ा से 6 (छः) और पथौड़ा से 8 (आठ) स्तंभ मिले हैं, जिससे कुल 49 (उन्चास) स्तंभ हुए जो कुल संख्या 80 (अस्सी) के आधे से भी ज्यादा हैं।

प्रस्तर-सूची उसी प्रकार की है जैसी बोध-गया, मथुरा आदि की वेदिकाओं में हैं। उनकी लंबाई 1 (एक) फुट 11.25 (सवा ग्यारह) इंच, चौड़ाई 1 (एक) फुट 10.5 (साढ़े दस) इंच तथा मोटाई 6 (छः) इंच है। संपूर्ण वेदिका में सूचियों की संख्या 228 (दो सौ अट्ठाइस) थी। इनमें से लगभग 80 (अस्सी) प्राप्त हो चुकी हैं और जिनमें से 6 (छः) पास वाले उचेहरा नामक कस्बे में विद्यमान हैं। प्रत्येक सूची का वजन लगभग पचहत्तर किलोग्राम था।

वेदिका में नक्काशी प्रचुर मात्रा में उत्कीर्ण है, जो न केवल तत्कालीन बौद्ध धर्म, कला-परंपरा, मत व प्रचलन पर प्रकाश डालती है, बल्कि उस युग में जीवन कैसा था इसको भी दर्शाती है। वर्णन का विषय मुख्यतः जातक या बुद्ध के जीवन-संबंधी दृश्य हैं। इनके दो उद्देश्य हैं एक तो पूज्यनीय वस्तु की सुन्दरता में वृद्धि करना और दूसरा धार्मिक गाथाओं को जन सामान्य के दिमाग में स्थायी रूप से अंकित कर देना, क्योंकि ग्रंथों के वर्णन की अपेक्षा दृश्य प्रदर्शन अधिक विश्वासोत्पादक (युक्तियुक्त) होता है। इस प्रस्तुतीकरण का प्रभाव सीधा, तुरन्त और स्थायी होता है।

नक्काशियों में विशेषकर महत्वपूर्ण वे कलाकृतियाँ हैं, जो जातकों को दर्शाती हैं, उनमें 30 (तीस) से अधिक पहचानी गयी हैं। इनमें से अधिकतर के साथ उत्कीर्ण नाम इन जातकों को पहचानने में अत्यन्त सहायक हैं। इन कलाकृतियों में प्रथम

वार प्रदर्शित रूपान्तर कहीं-कहीं वर्तमान ग्रंथों से थोड़ा भेद रखता है। प्रदर्शित जातकों में विशेषतः उल्लेखनीय हैं– ससजातक, महाकपि-जातक, वेस्सन्तर-जातक आदि। वेदिका में उत्कीर्ण जीवन-दृश्यों में बुद्ध कहीं भी मानव आकार में नहीं दर्शाये गये हैं। जहाँ कहीं भी दृश्य में उनके चित्रण की आवश्यकता होती थी, तो उनकी उपस्थिति को किसी प्रतीक के रूप में दर्शाया गया है। उदाहरण के लिये बोधिवृक्ष के नीचे आसन, चक्र तथा स्तूप क्रमशः उनकी बोधि-प्राप्ति, उपदेश (प्रवचन) और महापरिनिर्वाण को दर्शाते थे।

अधिकतर स्तंभों में सामान्य बौद्ध वेदिकाओं के समान मध्य में एक पूर्ण पद्मक अलंकृत है और अर्ध-पद्मक आधार व शीर्ष में अलंकृत हैं। सूची पर भी प्रत्येक दिशा में वृत्ताकार पद्मक बने हैं और इन पर भी स्तंभों के पद्मकों के समान ही विभिन्न प्रकार के चित्र बने हैं जो जातकों व बुद्ध के जीवन-दृश्यों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, पुष्प व पौधों के चित्रण से परिपूर्ण हैं। प्रवेश द्वार के समीप के (कोने के) स्तंभों की रूप-सज्जा औरों से नितान्त भिन्न है। विषयवस्तु की दृष्टि से वे दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। पहले भाग में वेदिका के आन्तरिक कोणों के स्तंभ हैं, जिन पर विशालाकार लोक देवताओं जैसे यक्ष-यक्षिणी, नागराज आदि सहित खड़ी प्रतिमायें बनी हैं। दूसरे भाग में बाह्य कोणों के स्तंभ आते हैं जिनके मुख तीन भागों में विभक्त हैं या वेदिका की समतल पट्टियों द्वारा फलकों में विभक्त हैं। प्रत्येक फलक में बुद्ध के जीवन संबंधित किसी कथानक या ऐतिहासिक घटना को या जातक को चित्रित किया गया है।

वेदिका के ऊपर लगे उष्णीष की पूरी लंबाई 330 (तीन सौ तीस) फुट थी, जिस पर बाहर और भीतर बड़े विस्तार एवं सूक्ष्मता से संगतराशी की गई है। उष्णीष के दोनों ओर मुख्य चित्रवल्लरी के दो किनारे (Borders) हैं। ऊपरी किनारा नीले कमल के एकान्तरण सहित सीढ़ीनुमा कंगूरे वाला है तथा निचले में सिलसिलेवार घंटियों की कड़ी बनी है। आन्तरिक भाग (मुख) की चित्रवल्लरी में पत्तीदार लताओं की पत्तियाँ अनेकों प्रकार के विषयों से समृद्ध हैं। बाह्य भाग में लता की तरंगित लहर के मध्य पूर्ण खिले कमल की निरन्तर पंक्ति है, जो प्रायः हस्तिमुख से निकलती है।

संभवतः वेदिका के निर्माण के लगभग 50 (पचास) वर्ष बाद प्रवेश द्वारों (तोरणों) को उसमें जोड़ा गया था। कनिंघम को यहाँ सिर्फ एक ही प्रवेश द्वार मिल पाया, जो कि पूर्वी प्रवेश द्वार था। इस पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि यह शुंगों के शासनकाल में अंग राजा के पुत्र व राजा गार्गीपुत्र विश्वदेव के पौत्र वात्सीपुत्र धनभूति द्वारा बनवाया गया था। वेदिका के समान प्रवेश द्वार भी कत्थई-लाल रंग के बलुआ पत्थरों से निर्मित है। यह दो विचित्र आकृति वाले स्तंभों पर अवलंबित

था और ये स्तंभ चार अष्टभुजीय दण्ड के एक समूह से जुड़कर बने थे। स्पष्टतया ये चार घंटिकाकार स्तंभ शीर्षों से अलंकृत थे। ये चार स्तंभशीर्ष एक शिलाफलक से युक्त हैं, जिस पर दो पक्षधर वृषभ से निर्मित एक विशाल स्तंभशीर्ष अवलंबित है। प्रवेश द्वार के स्तंभ 1 (एक) फुट 4.5 (साढ़े चार) इंच मोटे और 9 (नौ) फुट 7.5 (साढ़े सात) इंच ऊँचे हैं। चार संगठित स्तंभशीर्ष और उनके शिलाफलक प्रत्येक 1 (एक) फुट 1.75 (पौने दो) इंच ऊँचे हैं और एक बड़ा स्तंभशीर्ष 1 (एक) फुट 3.25 (सवा तीन) इंच की ऊँचाई का है। इस प्रकार स्तंभों की पूरी ऊँचाई 12 (बारह) फुट 7.5 (साढ़े सात) इंच है। अलंकरण स्वरूप लगने वाले प्रतीकों के अतिरिक्त प्रत्येक प्रवेश द्वार अपने तीन तोरण-शहतीरों या प्रस्तरपादों से युक्त संभवतः 20 (बीस) फुट ऊँचा रहा होगा। तोरण शहतीरों के बहिर्विलंबी सिरे खुले मुँह वाले मगरमच्छों से बने हैं ओर उनकी पूछें घुमावदार हैं। घुमावदार मध्य व मगरमच्छ वाले सिरे के बीच का शहतीर का चौकोर भाग एक ओर तो स्तूप से अलंकृत है और दूसरी ओर एक मंदिर या विहार से। ऐसा लगता है कि तोरण शहतीरों के मध्यवर्ती वक्र खण्डों के बीच वाले लंबे फासले को कई लघु स्तंभों एवं मूर्ति-स्तंभों को वैकल्पिक रूप से स्थापित करके भर दिया गया होगा।

प्रवेश द्वार पर खरोष्ट्री लिपि के अक्षर स्पष्टतया देखे जा सकते हैं, जबकि वेदिका के अभिलेखों में सभी ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का ही प्रयोग हुआ है। इस आधार पर कनिंघम की मान्यता है कि प्रवेश द्वारों का निर्माण पाश्चात्य कलाकारों द्वारा हुआ है। उनके अनुसार प्रवेश द्वार के दाता सुगण के राजा ने अपने कार्यकर्त्ताओं के एक दल को उसके निर्माण के लिए भेजा होगा, जबकि लघुदान स्तंभों व वेदिका का कार्य संपादन यहाँ के स्थानीय कलाकारों द्वारा ही किया गया होगा। ऐसा संभव प्रतीत होता है कि प्रवेश द्वार के निर्माण के लिए शिल्पकार उत्तर-पश्चिमी भारते से आयात किये गये रहे होंगे। कुछ भी हो, स्तूप के वास्तुकारों ने चार मुख्य द्वार व इनके तीन समतल शहतीरों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया होगा, क्योंकि ये स्मारक कलात्मक सौंदर्य व सूक्ष्म अलंकार सज्जा से युक्त होने के साथ-साथ इस तथ्य की भी अनुभूति कराते हैं कि इनको तक्षित करने वाले कलाकारों की एक लंबी परंपरा रही होगी, भले ही उनके कार्य करने का माध्यम और परिस्थितियाँ कुछ भी रही हों।

संक्षेप में भरहुत की कला एक जन-आन्दोलन की प्रभावशाली अभिव्यक्ति थी। शास्त्रीय गुणों वाली मौर्य राजसी-कला की अपेक्षा यह देशी लोक-कला पुरातन प्रतीत होती है। आकृतियों की शैली अविकसित है। अधिकतर अग्रभाग दर्शाने वाली इन आकृतियों में अभिव्यक्ति का अभाव है, जिससे वे शुष्क प्रतीत होती हैं। उनमें लोच

व लचक का अभाव है और भंगिमायें अकुशल हैं। प्रतिमा विषयक अवधारणा अल्पविकसित है और शायद ही शरीर के विभिन्न अंगों को भिन्न गहनता के श्रेणीकरण में विभाजित करने का प्रयास किया गया हो। आकृतियों तथा प्रतिवेश को परिप्रेक्ष्य के बिना अंकित किया गया है। वर्णन का तरीका प्रायः अत्यधिक संक्षिप्त है। शायद ही स्थान व काल पर ध्यान दिया गया है, जैसे कि भिन्न स्थान व काल में हुई घटनाओं को भी इकट्ठे दर्शाया गया है। संयोजन भी असन्तोपजनक है। पृष्ठभूमि को कहीं भी आवश्यक नहीं समझा गया है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी यह देशीय कला लोगों को अपनी सच्चाई, अप्रभावित निष्कपटता, प्रफुल्लता तथा ताजगी के कारण प्रभावित करती है। यांजकीय (धार्मिक) गोष्ठी के नियंत्रण में न होने के कारण साधारण शिल्पकारों ने अपनी सीमित शिक्षा परन्तु अपनी नाड़ियों में स्पन्दित होने वाली सृजन की अक्षय स्फूर्ति से स्वयं और दाताओं की धार्मिक आकांक्षा को पत्थरों पर रूपांतरित किया है। इन शिल्पकारों की स्वाभाविक रुचि अलंकारिक सुन्दरता की ओर थी और उन्होंने लताओं व पुष्पों जैसे विषयों को विलक्षण विशिष्टता प्रदान की। श्रृंगारमय कलात्मक अभिव्यक्ति और दृष्टान्तगत विपयों की यह परियोजना पर्याप्त विचार-विमर्श के वाद तैयार की गई होगी, ताकि एक ओर तो बौद्ध विपयों व दूसरी ओर लोकगत-पूजा पद्धितियों के अलौकिक समन्वय का विकास हा सके। परिणामतः निप्पादन एवं समन्वय का ऐसा तालमेल बैठा है कि जिसमें दोनों को ही अपना अपना समुचित व निष्पक्ष स्थान प्राप्त हुआ है।

यह स्मारक कम से कम ग्यारहवीं शताव्दी तक परित्यक्त नहीं हुआ था। इस काल की अनेकों बौद्ध आकृतियों का मिलना इस तथ्य का प्रमाण है। कनिंघम ने भी स्तूप के समीप एक मध्यकालीन मंदिर के अवशेपों को पाया था, जिसमें विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठापित थी। इस मंदिर की छत के शीर्प प्रस्तर के एक टुकड़े के अतिरिक्त कुछ भी अब उपलव्ध नहीं है। भारत के अन्य वौद्ध तीर्थ-स्थलों के समान यह स्थल भी बौद्ध धर्म के पतन के साथ-साथ समय के अंधेरे में लुप्त हो गया। यहाँ तक कि अब स्वयं इसका नामो-निशान तक नहीं बचा है और इसे भारत के विभिन्न संग्रहालयों में संजोये कला-अवशेषों के रूप में ही देखा जा सकता है।

नागार्जुनकोण्डा

नागार्जुनकोण्डा घाटी आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले में स्थित है। हैदराबाद से दक्षिण-पूर्व में इसकी दूरी लगभग 166 (एक सौ छाछठ) कि० मीटर और गुण्टूर से 144 (एक सौ चौवालिस) कि० मीटर है। समीपस्थ रेलवे स्टेशन मछेर्ला (Macherla) लगभग 22 (बाईस) कि० मीटर की दूरी पर है। नागार्जुन बाँध के निकट बसे विजयपुरी कस्बे से सिर्फ 8 (आठ) किलो० मीटर दूर पर स्थित अनुपु (Anupu) घाट (Jetty Point) से लाँच/नाँव (Launch) द्वारा नागार्जुन पहुँचा जा सकता है। विजयपुरी हैदरावाद, गुण्टूर व मछेर्ला तीनों से बस-मार्ग से जुड़ा है।

आन्ध्र प्रदेश के प्राचीन बौद्ध केन्द्रों में नागार्जुनकोण्डा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नागार्जुनकोण्डा का अर्थ है नागार्जुन की पहाड़ी (कोण्डा)। परंपरानुसार यह स्थल द्वितीय शताब्दी ईसवी के सातवाहन राजा के समकालीन बौद्ध दर्शन के माध्यमिक (शून्यवाद) विचारधारा के संस्थापक प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन से संबंधित है। तिब्बती परंपरानुसार इस आचार्य ने अपने अन्तिम दिन श्रीपर्वत के एक विहार में गुजारे थे। चीनी बौद्ध तीर्थ-यात्री ने भी उस विहार का वर्णन किया है, जिसे सातवाहन राजा गौतमीपुत्र यज्ञ सातकर्णी (166-196 ईसवी) ने आचार्य नागार्जुन के लिए श्रीपर्वत (आधुनिक नागार्जुनकोण्डा) पर बनवाया था। इस आचार्य का इस स्थल से संबंध अभी तक किसी भी पुरातात्विक साक्ष्य से सिद्ध नहीं हुआ है।

इस स्थल का लिखित इतिहास सातवाहनों के समय से प्राप्त होता है। यहाँ से गौतमीपुत्र सातकर्णी, पुलुमावि, यज्ञ सातकर्णी इत्यादि के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं परन्तु ठोस साक्ष्य गौतमीपुत्र विजय सातकर्णी के शासनकाल के छठे वर्ष का एक स्तंभ अभिलेख है। संभवतः सातवाहनों के काल तक बौद्ध धर्म यहाँ अपनी जड़ें जमा चुका था। परन्तु विस्तृत पैमाने पर निर्माण कार्य का समय इक्ष्वाकुओं के शासन काल का ही है, विशेषतः द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ शासकों (तीसरी शताब्दी का उत्तरार्ध और चौथी शताब्दी का पूर्वार्ध) का शासन काल। इस प्रकार नागार्जुनकोण्डा की घाटी इक्ष्वाकु राजाओं व रानियों के संरक्षण के कारण तृतीय शताब्दी ईसवी में प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र बन चुकी थी। इक्ष्वाकु स्वयं को अयोध्या के

पौराणिक इक्ष्वाकुओं का वंशज मानते थे। चारों ओर से पहाड़ियों से घिरी इस घाटी के पश्चिम में कृष्णा नदी बहती है। सुरक्षा की दृष्टि से इसकी उत्तम स्थिति ही इक्ष्वाकुओं द्वारा इस स्थान को राजधानी के रूप में चुनने का मूल कारण रहा होगा। इक्ष्वाकु वंश की रानियों के विशेष योगदान के कारण इस काल में बौद्ध स्मारकों का निर्माण कार्य अपने शिखर पर पहुँच गया था।

नागार्जुनकोण्डा की प्रसिद्धि ने भारत के सभी भागों और विदेशों जैसे श्रीलंका, चीन इत्यादि के बौद्ध भिक्षुओं व विद्वानों को आकर्षित किया था। हीनयानो व महायानी दोनों परंपरायें एक साथ नागार्जुनकोण्डा में फली-फूलीं। उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार चौथी शताब्दी में इक्ष्वाकुओं के पतन के साथ यहाँ निर्माण प्रक्रिया लगभग समाप्त हो गयी थी। उनके पतन के वास्तविक कारण ज्ञात नहीं हैं। उसके बाद यह केन्द्र कुछ समय तक ही प्रकाश में रहा। पाँचवी शताब्दी के वाद की बौद्ध कलाकृतियों व प्रारंभिक बोधिसत्व प्रतिमाओं का यहाँ पूर्ण अभाव इस बात का महत्वपूर्ण साक्ष्य है।

नागार्जुनकोण्डा स्मारक, जो बौद्ध कला व संस्कृति का खज़ाना हैं, शताब्दियों तक अज्ञात रहे। मार्च 1926 ईसवी में भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग के पुरालेखशास्त्र (Epigraphy) के पुरातात्विक सुपरिटेंडेन्ट के तेलुगु सहायक, श्री ए० आर० सरस्वती द्वारा ये सर्वप्रथम प्रकाश में आये। भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग के दक्षिणी क्षेत्र के सुपरिटेंडेन्ट, ए० एच० लौंगहर्स्ट (Longhurst) ने प्रथम उत्खनन कार्य सन् 1927 में प्रारंभ किया, जो फरवरी 1931 ईसवी तक चला, जिससे अनेकों बौद्ध विहार प्रकाश में आये। एक अन्य छोटा उत्खनन अभियान सन् 1938 में टी० एन० रामचन्द्रन द्वारा भी हुआ था।

नागार्जुनकोण्डा का महत्व सन् 1950 में नागार्जुनकोण्डा जल परियोजना के निर्माण का निर्णय लेने के बाद विशेष तौर पर पहचाना गया। इक्ष्वाकुओं द्वारा निर्मित कला की अमूल्य धरोहर को बाँध-परियोजना द्वारा घाटी में डूबने से बचाने के लिए अगस्त 1954 ईसवी में विस्तृत पैमाने पर उत्खनन की एक विशेष योजना बनायी गयी। भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग के सुपरिटेंडेंट आर० सुब्रहमन्यम् के निरीक्षण में पूर्ण घाटी का उत्खनन 6 (छः) वर्षों तक चला, जिसमें 120 (एक सौ बीस) स्थलों (Sites) को खोजा गया। वे सभी स्थल आज नागार्जुनकोण्डा बाँध के भीतर समाहित हैं। यह विश्व का मानव निर्मित सबसे ऊँचा लगभग 124 (एक सौ चौबीस) मीटर अर्थात 409 (चार सौ नौ) फुट का बाँध है। इसका जलाशय भी विश्व की मानव निर्मित झीलों में तीसरे स्थान पर है।

सैकड़ों कलाकृतियों तथा कुछ स्मारकों को पहाड़ी के शिखर पर पहुँचा कर पुनः निर्मित किया गया है। यह पहाड़ी का शिखर जलाशय के मध्य एक द्वीप की भाँति है। स्मारकों का इस प्रकार एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर बनाना विश्व में अपने प्रकार का प्रथम प्रयास था। इसी प्रयास को देखते हुए विश्व में अनेक अन्य कला व संस्कृति की धरोहरों को प्रगति के पथ में आने से बचाने के प्रयास हुए हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण नील नदी घाटी में बाँध से डूबने से वहाँ के प्राचीन पिरामिडों को बचाना है।

नागार्जुनकोण्डा की मुख्य विशेषता यह थी कि यहाँ विभिन्न स्मारकों का इस प्रकार निर्माण हुआ कि वे एक समूह (इकाई) के रूप में बन गये थे। इस ईकाई के निम्नलिखित अंग थे– एक स्तूप (चैत्य), एक या दो चैत्यगृह जिनमें प्रतिमा या स्तूप प्रतिष्ठित थे और एक मण्डप जो चतुर्भुजीय विहार के मध्य निर्मित था। यहाँ पर शायद ही कोई स्तूप बिना विहार के रहा होगा। लगभग सभी स्मारक (समूह) आत्म-निर्भर थे अर्थात प्रत्येक समूह में पूजा के लिए अपना स्तूप था और महत्वपूर्ण समूहों में अपने चैत्य-गृह भी थे। इसका कारण संभवतः यहाँ विभिन्न संप्रदायों का एक साथ फलना-फूलना रहा होगा। अभिलेखों में केवल कुछ संप्रदायों के नाम मिलते हैं। ये हैं– अपरमहाविनसेलिय, बहुश्रुतिय, महीशासक व महाविहारवासिन। प्रथम दो संप्रदाय महासांघिकों के उप-संप्रदाय थे तथा अन्य दो थेरवादी परंपरा का प्रतिनिधित्व करते थे।

महाचैत्य समूह, जिसमें एक विशाल स्तूप, एक प्रस्तर पृष्ठावरण वाले स्तूप का अर्धवृत्ताकार चैत्यगृह और तीन भुजाओं वाले विहार के मध्य 36 (छत्तीस) स्तंभों वाला मण्डप समाहित था। यह अपरमहाविनसेलिय संप्रदाय को राजा वीरपुरुषदत्त के शासनकाल में चांतश्री (ChÂètaêri) द्वारा भेंट किया गया था। चांतश्री पहले इक्ष्वाकु राजा चांतमूल (ChÂètamÊla) की बहन तथा द्वितीय राजा वीरपुरुषदत्त की बुआ व सास थीं। इसी संप्रदाय का एक अन्य समूह (Site No. 9) पर भी अधिकार था। एक उपासिका बोधिश्री द्वारा केवल श्रीलंका के थेरवादी आचार्यों के प्रयोग के लिए श्रीपर्वत पर चूलधम्मगिरि (स्थानीय नाम नहरल्लबोदु) विहार में एक चैत्यगृह भी वीरपुरुषदत्त के शासनकाल के 14वें वर्ष में भेंट किया गया था।

एक अन्य स्मारक, जो नागार्जुकोण्डा पहाड़ी के नीचे था, भट्टिदेव वीरपुरुषदत्त की रानी द्वारा वहुश्रुतीय संप्रदाय के आचार्यों को अपने पुत्र एहुवुल चांतमूल (Ehuvula ChÂètamÊla) के शासनकाल में भेंट दिया गया था। वनवासक (बनवसि) के महाराजा की रानी तथा राजा एहुवुल चांतमूल की बहन रानी कोदबलिश्री ने भी अपने भाई के शासन के 11वें वर्ष में एक स्तूप तथा चतुर्भुजीय विहार महीशासक संप्रदाय के आचार्यों को भेंट किया था।

बुद्ध के पदचिन्हों सहित एक प्रस्तर अभिलेख एक अन्य समूह के विभज्जवादी (श्रीलंका का एक प्रमुख संप्रदाय) महाविहारवासी आचार्यों के लिए वनाये जाने का वर्णन करता है। एक अन्य स्मारक स्तंभ जो स्तूप व विहार के मध्य अर्धवृत्ताकार चैत्यगृह के सामने मिला है, उस समूह को वम्मभटा, राजा रुद्रपुरुपदत्त की माता तथा एक महाक्षत्रप की पत्नी, द्वारा निर्मित सिद्ध करता है। इस प्रकार अधिकतर समूह इक्ष्वाकु वंश की रानियों (स्त्रियों) द्वारा वौद्ध धर्म के प्रति रुझान को दर्शाति हैं।

नागार्जुकोण्डा में 30 (तीस) से अधिक बौद्ध स्मारकों के अवशेष प्रकाश में आये हैं, जिनमें से अधिकतर पूर्ण आत्म-निर्भर थे। लगभग सभी मुख्य स्तूपों में आयक विद्यमान थे। आयकों के स्तंभों की शैली लगभग एक ही थी, नीचे से चौकोर तथा ऊपर अष्टभुजाकार। अष्टभुज के किनारे उत्तल (Convex) शिखर के शीर्ष पर मिलते थे। कहीं-कहीं चौकोर भाग की भुजाओं पर वुद्ध प्रतिमा वनी हुई मिली हैं।

स्तूपों का निर्माण ईंटों या मलवे द्वारा होता था और मिट्टी को ही मसाले (गारे) के रूप में प्रयोग किया जाता था। स्तूप का नक्शा चक्र समान होता था, जिन पर दीवारें बना कर स्तूप का निर्माण होता था। चक्र में बाहरी घेरे के अतिरिक्त 4,6,8 या 10 अर (Spokes) होते थे, जो मुख्य केन्द्र से जुड़ते थे। बड़े स्तूपों में वजन को संभालने के लिए एक के भीतर एक कई चक्र भी बनाए जाते थे। उदाहरण के रूप में सवसे विशाल स्तूप महाचैत्य में एक के उपरान्त एक 3 चक्र हैं। इस प्रकार इस स्तूप में मुख्य केन्द्र के चारों ओर कक्षों की तीन धारियाँ वनी थीं, जिससे मध्य वाले चक्र में 8 (आठ) और द्वितीय व तृतीय चक्र में 16-16 कक्ष बने थे। तीन स्तूप ऐसे भी प्राप्त हुए हैं, जिनके केन्द्र में ईंटों के स्वस्तिक बने मिले हैं। सभी स्तूप चूने से पोते जाते थे। कुछ स्तूपों में तो चूने के अलंकृत प्रस्तरों का पृष्ठावरण भी था, जो न केवल मेधि वल्कि अण्ड के मुड़े भागों को भी अलंकृत करता था। किसी भी स्तूप में वेदिका अपने मूल स्थान पर नहीं प्राप्त हुई है तथा उसके केवल कुछ अवशेष मात्र ही मिले हैं। महाचैत्य में ईंटों की छोटी वेदिका और चार प्रवेश द्वार थे, जो प्रदक्षिणा-पथ के चारों ओर बने थे। स्तूपों में मेधि के नीचे एक विस्तृत चवूतरे का होना सामान्य था। तत्कालीन स्तूप के पूर्ण रूप को केवल कलाकृति में देखा जा सकता है, क्योंकि यहाँ कोई भी स्तूप अपने पूर्ण रूप में नहीं प्राप्त हुआ है।

चैत्यगृह मुख्यतः तीन प्रकार के वनाये जाते थे– अर्धवृत्ताकार, वृत्ताकार तथा आयताकार। पहला प्रकार ही अधिकतर प्रयोग में लाया जाता था। ये ईंटों से निर्मित होते थे और इनके चारों ओर एक चवूतरा होता था। चैत्य गृहों में स्तूप या वुद्ध प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती थी। मुख्य चैत्य-गृहों में स्तूप पर प्रस्तर पृष्ठावरण

होता था और प्रवेश द्वार के सम्मुख एक या अधिक सीढ़ियाँ होती थीं, जिनके सामने चन्द्रशिला हुआ करती थी। यह शैली श्रीलंका में अधिक प्रचलित थी। वृत्ताकार व आयताकार चैत्यगृह बहुत ही कम उपलब्ध हैं।

विहार एक, दो, तीन या चार भुजाओं वाले मिले हैं। सबसे अधिक तीन भुजाओं वाले विहार निर्मित हुए थे। प्रत्येक भुजा का अपना अलग वरामदा होता था। भुजायें सामान्यतः केन्द्रीय मण्डप के चारों ओर बनती थीं। सामान्य विहारों में रसोई, भोजनालय, इत्यादि विहार के भीतर ही होते थे। मुख्य विहारों में वे बाहर अलग बने होते थे, परन्तु दरवाजों द्वारा जुड़े होते थे। प्रवेश मार्ग के बगल की दीवारों को प्लास्टर से अलंकृत किया जाता था। कक्षों की अगली दीवारों में पत्थर की पृष्ठावरण वाली शैय्या (Bench) होती थीं। प्रत्येक विहार के पास चूना बनाने के लिए अपना प्रस्तर द्रोण (Trough) होता था। इससे चूने के उस काल में अत्यधिक प्रयोग का प्रमाण मिलता है। विहारों की जल-निकासी प्रणाली भी भली-भाँति विकसित थी।

मण्डपों में सामान्य लकड़ी के स्तंभों का भी प्रयोग होता था, परन्तु बड़े पत्थरों के स्तंभों वाले मण्डप अधिक प्रचलन में थे। सामान्यतया इसकी चारों दिशायें खुली होती थीं और छत स्तंभों पर टिकी होती थी। स्तंभों में खाँचे बने मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इन खाँचों में लकड़ी के शहतीर घुसेड़े जाते थे जिन पर लंबी पत्थर की पट्टिकाओं से छत बनाई जाती थी। पत्थर स्तंभ अलंकृत और सादे दोनों प्रकार के मिलते हैं।

उपरोक्त सभी स्मारकों में सवसे प्रमुख और नागार्जुनकोण्डा का मुख्य आकर्षण महास्तूप अर्थात महाचैत्य है। इस स्तूप का नक्शा भी यहाँ के अन्य स्तूपों के समान चक्र-रूपी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह निर्माण शैली नागार्जुनकोण्डा के वास्तुकलाविदों की विशेषता रही है। इसमें न केवल निर्माण कला की उन्नति, वल्कि बौद्ध प्रतीकों का वास्तुकला में प्रयोग भी देखा जा सकता है। इस स्तूप का व्यास 27.5 मीटर था और चार प्रमुख दिशाओं में आयक चबूतरे थे जिनमें आयक स्तंभ लगे थे। यह स्तूप वास्तव में एक शारीरिक स्तूप था। इसके भीतर एक स्वर्ण तबरूक-पात्र (Reliquary) व अभिलेख मिले हैं। स्वर्ण-पात्र में अस्थि अवशेष थे और अभिलेख यह संकेत देता है कि ये भगवान बुद्ध के हैं। अभिलेख में निम्नलिखित संकेत हैं– 'सम्मासम्बुद्धस्स धातुवर परिगहित'। यह स्वर्ण-पात्र, कुछ स्वर्ण पुष्प, मोती, कुछ अन्य मूल्यवान रत्नों सहित एक स्तूपाकार रजत मँजूपा में रखा था। रजत मँजूपा, तीन बड़ मनकों व कानों की फुलियों (Ear-Studs) सहित मिट्टी के पात्र में रखी थी।

महाचैत्य के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कलाकृतियाँ संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जो मूल (Key) दीर्घा तथा मुख्य दीर्घा में रखी हैं। मूल दीर्घा में मुख्यतः जवाहरात, मनके, सिक्के, अस्थि मँजूपायें तथा बुद्ध की विशाल प्रतिमा अन्य कलाकृतियों सहित हैं। सभी महत्वपूर्ण स्तूपों से प्राप्त विभिन्न प्रकार के स्मृति-शेष पात्र जो स्वर्ण, रजत, काँस्य व मिट्टी के हैं, यहीं हैं। भगवान बुद्ध की 3 (तीन) मीटर ऊँची विशाल प्रतिमा अनेक खण्डों में प्राप्त हुई थी। अन्य अनेकों कलाकृतियाँ यहाँ उपलब्ध हैं, जिनमें स्तूप के तत्कालीन पूर्ण-रूप को दर्शाने वाली मेधि-पट्टिका भी है। इन कलाकृतियों के विषय अनेकों हैं जो स्पष्टतया बुद्ध के जीवन से संबंधित हैं।

मुख्य-दीर्घा में जो अवशेष हैं उनमें मुख्यतः जातक कथाओं व बुद्ध के जीवन-दृश्यों को दर्शाने वाली कलाकृतियाँ हैं। नागार्जुनकोण्डा से प्राप्त सभी अभिलेख भी यहीं संग्रहित हैं। आठ जातक कथायें ही यहाँ की जातक कथाओं के चित्रण का विषय रही हैं। जीवन के दृश्यों में जन्म से महापरिनिर्वाण तक की समस्त घटनाओं का नागार्जुनकोण्डा के उत्तम कलाकारों ने अपने विषय के रूप में प्रयोग किया है।

इस प्रकार नागार्जुनकोण्डा आन्ध्र प्रदेश का महत्वपूर्ण बौद्ध केन्द्र होने के साथ-साथ भारतीय बौद्ध कला व वास्तुकला की भी महत्वपूर्ण धरोहर है। विश्व भर के बौद्ध यात्री यहाँ आते हैं और इस प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र को देख कर पुण्य-लाभ प्राप्त करते हैं। पर्यटक तो यहाँ की कलाकृतियों को देख कर मुग्ध रह जाते हैं।

अमरावती

कृष्णा नदी के किनारे स्थित अमरावती एक प्रमुख बौद्ध तीर्थस्थल होने के साथ-साथ भारतीय कला के इतिहास में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह स्थल आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले के उत्तर में लगभग 35 (पैंतिस) कि० मी० की दूरी पर है। यहाँ का मुख्य आकर्षण महा-चैत्य स्तूप और पुरातत्व संग्रहालय हैं। यह स्थल अमरेश्वर मंदिर के लिए भी प्रसिद्ध है, जिसके कारण इसका नाम अमरावती पड़ा है। इसका समीपवर्ती गाँव धरनिकोट सातवाहन राजाओं की राजधानी प्राचीन धान्यकटक था। अमरावती का स्थानीय नाम दीपालदिन्ने (दीपों की पहाड़ी) है।

अमरावती और धरनिकोट के अवशेषों का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से प्रारंभ होता है। प्रारंभिक प्रस्तर युग में प्रयोग होने वाले पत्थरों के औजार धरनिकोट से प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नवप्रस्तर युग के लोगों को भी इस स्थल ने आकर्षित किया था। यहाँ महापाषाण संस्कृति के अवशेषों के बहुतायत से मिलने से यह स्पष्ट आभास होता है कि यह संपूर्ण क्षेत्र महापाषाण संस्कृति निर्माताओं द्वारा प्रयुक्त हुआ होगा और बौद्ध धर्म के यहाँ आगमन से पहले वे बड़ी संख्या में यहाँ निवास करते थे।

अमरावती का ज्ञात इतिहास डेढ़ सहस्राब्दि में फैला हुआ है। इस अवधि में स्तूप-क्षेत्र अनेकों (प्रमुख) पुनरोद्धारों व परिवर्धनों से गुजरा है। इस समय को मुख्यतया पाँच मुख्य भागों या कालों में बाँटा जा सकता है। परंपरा व पुरातात्विक साक्ष्य, दोनों के अनुसार महाचैत्य का केन्द्र तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आया, जव मौर्य सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार व प्रसार का कार्य प्रारंभ किया। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने इस दिशा में भिक्षु महादेव को धर्म प्रचारक के रूप में भेजा था, जिन्होंने इस स्तूप की नींव डाली। समय के साथ-साथ यह स्तूप एक अतिविशाल आकार व स्थायित्व वाला स्मारक वन गया। पुरातात्विक अवशेषों में सवसे महत्वपूर्ण अशोक के पॉलिशदार स्तंभों के अभिलिखित अंश हैं। ऐसा लगता है कि स्तंभ व स्तूप वास्तुकला के एक ही ढाँचे के अंग थे। अशोक के समय स्तूप सामान्य आकार का था जिसके चारों ओर वेदिका और कुछ अभिलिखित स्तंभ भी थे।

अशोक के बाद दो-तीन शताब्दियों तक का समय आन्ध्र-प्रदेश में विहारों के आश्चर्यजनक विकास का साक्षी है। यह स्थल पहली शताव्दी ईसा पूर्व में मेघवाहन वंश के कलिंग शासक खारवेल के राज्य का भाग था, जिनका राज्य उत्तरी गोदावरी क्षेत्र तक फैला था। इस तथ्य को यहाँ से प्राप्त कुछ अभिलेखों द्वारा जाना जाता है। इसके अतिरिक्त संभवतः यहाँ कुछ स्थानीय राजाओं ने भी राज किया। गुण्टूर के भत्तिप्रोलु स्तूप से मिले दो अभिलेख किसी राजा कुविरक का वर्णन करते हैं, जिन्होंने संभवतः द्वितीय-प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में कृष्णा घाटी के निचले भाग पर राज किया था। अशोक का अनुकरण करते हुए अनेकों स्थानीय राजाओं ने भी वौद्ध धर्म को अपनाया। निस्सन्देह यह एक महान धार्मिक लहर का काल (युग) था, जिसका पता आन्ध्र प्रदेश के अनेकों स्तूप-स्थलों से प्राप्त दातव्य (दान देने के) प्रलेखों से चलता है। कुछ अन्य राजवंशों जैसे ऐर (Aira) राजवंश इत्यादि ने प्रथम-द्वितीय शताव्दी ईसवी में इस क्षेत्र पर राज किया। उनके अभिलेख गुण्टूर जिले के वेल्पुरू से मिलते हैं। ऐर राजा संभवतः महामेघवाहन के वंशज थे, क्योंकि खारवेल स्वयं भी एक ऐर होने का दावा करते हैं। इस काल के अनेकों वास्तुकला व मूर्तिकला के अभिलिखित नमूने अमरावती में मिले हैं। स्तूप का विस्तार किये जाने के विषय में कुछ निश्चित नहीं है, परन्तु वेदिका को अवश्य ही ग्रेनाईट (कणाश्म) पत्थर के स्थान पर चूना-पत्थर से बदला गया था। इसके स्तंभों की ऊँचाई 1.9 (एक दशमलव नौ) मीटर थी और उन पर वैशाली, श्रावस्ती आदि में घटित वुद्ध के जीवन के दृश्यों को दर्शाया गया था। संभवतः ये स्तंभ द्वार के अंग थे। अनेकों सूचियों (Cross-bars) में द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के दान प्रलेख हैं। स्तूप के तत्कालीन स्वरूप को यहाँ से प्राप्त एक अभिलिखित सूची में देखा जा सकता है। इस प्रकार इस काल में मुख्यतः वेदिका व प्रवेश द्वारों को ही वदला गया और स्तूप का स्वरूप वैसा ही रहा।

इस क्षेत्र का अपेक्षाकृत निश्चित इतिहास द्वितीय शताव्दी ईसवी से ज्ञात होता है, जो कि इस स्थल के विकास का तीसरा काल है। उस समय परवर्ती सातवाहन राजाओं ने धान्यकटक को अपनी राजधानी बनाया। संभवतः उन्होंने ऐर राजाओं को हरा कर आन्ध्र-देश पर शासन किया, क्योंकि उनके प्रारंभिक अभिलेख साक्ष्य के रूप में पश्चिमी भारत तक ही सीमित हैं। हालांकि वे बौद्ध नहीं थे, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रति उनका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण था। धान्यकटक से शासन करने वाले प्रथम सातवाहन राजा वशिष्ठीपुत्र पुलुमावि थे। पुराणों में दी गई सूची से उनके पश्चात के छः सातवाहन राजाओं का ज्ञान होता है, जिनमें से पाँच के विषय में अभिलेखों द्वारा भी जाना जाता है। अमरावती से सातवाहन राजाओं के तीन अभिलेख मिले हैं। प्रथम अभिलेख वशिष्ठीपुत्र पुलुमावि (130-159 ईसवी) के

समय का है, जिसमें महाचैत्य के पश्चिमी द्वार के धर्मचक्र को दान में देने का वर्णन है। द्वितीय अभिलेख वेदिका के एक भाग के पुनरोद्धार का वर्णन करता है और सिंवमक सदा या सिवस्कन्द सातकर्णी (159-166 ईसवी) के समय का है। तृतीय अभिलेख सातवाहन वंश के अन्तिम महत्वपूर्ण राजा गौतमीपुत्र यज्ञ सातकर्णी (166-196 ईसवी) के शासनकाल का है। परंपरानुसार ऐसी मान्यता है कि यज्ञ सातकर्णी प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान भिक्षु नागार्जुन के मित्र व संरक्षक थे। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार अमरावती में अलंकृत वेदिका का निर्माण कार्य भिक्षु नागार्जुन के निर्देश पर हुआ था। परन्तु एक अभिलेख वेदिका का निर्माण (पुनरोद्धार) बुद्धरक्षित नामक एक भिक्षु की निगरानी में होने का वर्णन करता है। संभवतः यह कार्य आचार्य नागार्जुन के निर्देश पर और भिक्षु बुद्धरक्षित की निगरानी में हुआ रहा हो। दान देने वालों में भिक्षु बुद्धरक्षित की एक शिष्या भिक्षुणी लक्खित, पाटलिपुत्र के एक भिक्षु, तीन तमिल तीर्थयात्री, आन्ध्र-देश के घण्टशाल स्थान का एक परिवार और धान्यकटक के कई लोगों का वर्णन है।

इस स्थल के विकास के चौथे काल और इससे पहले के तृतीय काल के मध्य कोई विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है। सातवाहनों को हरा कर नागार्जुनकोण्डा के इक्ष्वाकु वंश के राजाओं ने यहाँ लगभग एक शताब्दी तक शासन किया। उनके समृद्ध राज्यकाल के कुछ अभिलेख व कला की आलंकारिक शैली दर्शाती है कि इस काल में महाचैत्य में कुछ परिवर्धन व पुनरोद्धार कार्य हुए और कुछ छोटे व्रतानुष्ठित स्तूप भी अस्तित्व में आये।

इक्ष्वाकुओं के पतन के साथ अन्तिम काल प्रारंभ हुआ, जो लगभग एक सहस्राब्दि अर्थात चौथी से चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक चला। इस काल में आन्ध्र-देश में बौद्ध धर्म के सक्रिय संरक्षण में कमी आयी। प्रारंभिक पल्लव राजा बौद्ध धर्म के अच्छे संरक्षक नहीं थे। एक पल्लव राजा महाराजाधिराज शिवस्कन्दनवर्मा की राजधानी धान्यकटक थी। इस क्षेत्र से पल्लव शासन परवर्ती शालण्कायनों द्वारा हटाया गया, जो स्वयं विष्णुकुण्डिनों द्वारा हटा दिये गये थे। किन्तु इन वंशों का कोई भी साक्ष्य अमरावती क्षेत्र से नहीं मिलता है, हालांकि विष्णुकुण्डिन अमरावती (इन्द्रपाल-नगर) को अपनी राजधानी कहते हैं। धरनिकोट के एक प्रस्तर अभिलेख में विष्णुवर्धन महाराजा के नाम का वर्णन है जो संभवतः वेन्गि के चालुक्यों से संबंधित हैं और जिन्होंने आन्ध्र-देश में विष्णुकुण्डिनों को पराजित किया था। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी ईसवी में कोटा सरदारों ने धरनिकोट से शासन किया और उनके बाद क्रमशः कोण्डुवीडु के रेड्डि राजाओं व विजयनगर शासकों ने यहाँ राज किया।

इस राजनीतिक उथलपुथल के लंबे काल में भी महा-चैत्य बौद्ध धर्म का केन्द्र बना रहा, परन्तु उसका महत्व धीरे-धीरे घटता गया। चौथी से छठी शताब्दी ईसवी के मध्य की कुछ धातु-प्रतिमायें यहाँ से प्राप्त हुई हैं। इसके बाद शीघ्र ही यहाँ महायान छा गया, जिसकी साक्षी यहाँ से प्राप्त चूना-पत्थर की बनी तारा व अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमायें हैं। अमरेश्वर मदिर के अभिलेख, जिनमें से कुछ धरनिकोट के कोटा सरदारों, कोण्डवीडु के रेड्डि राजाओं और विजयनगर शासकों के भी हैं, यहाँ की बौद्ध गतिविधियों की अविच्छिन्नता को दर्शाते हैं। यहाँ अनेकों विहारों के अस्तित्व में होने का वर्णन सातवीं शताब्दी ईसवी में आये चीनी यात्री युवान-च्वांग अपने यात्रा-वृत्तान्त में करते हैं। परन्तु उनके अनुसार अधिकांश विहार वीरान थे। प्राप्त मूर्तियों के आधार पर दसवीं शताब्दी तक इसका बौद्ध धर्म का केन्द्र होना सिद्ध है। इनके अतिरिक्त अमरेश्वर मंदिर के कोटा सरदारों के ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी ईसवी के अभिलेख भी महाचैत्य को भेंट देने का वर्णन करते हैं। अन्तिम साक्ष्य के रूप में 1344 (तेरह सौ चौवालिस) ईसवी का धर्मकीर्ति का अभिलेख यहाँ की गई मरम्मत का वर्णन करता है। यह अभिलेख श्रीलंका के कैनडी जिले के गदलदेनिय (Gadaladeniya) नामक स्थल से मिला है। इसमें महाचैत्य के दो-मंजिले मंदिर की मरम्मत का कार्य कराये जाने का वर्णन है। इन सब साक्ष्यों की सहायता से स्पष्ट हो जाता है कि महाचैत्य अवश्य ही चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक बौद्ध धर्म का केन्द्र रहा, परन्तु उसका महत्व धीरे-धीरे खत्म हो रहा था।

महाचैत्य संभवतः अपने पूरे जीवन-काल में बौद्ध धर्म के महासांघिक संप्रदाय और उसकी प्रशाखाओं के नियन्त्रण में रहा है। हालांकि सैद्धान्तिक मतभेदों ने महासांघिकों में समय-समय पर अनेकों संप्रदायों और उपसंप्रदायों को जन्म दिया था। वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीति के पश्चात महासांघिक पारंपरिक थेरवादियों से अलग हो गये और मौर्यों द्वारा इस क्षेत्र पर अधिकार के साथ ही साथ यहाँ फैल गये थे।

महासांघिकों की प्रशाखाओं में से एक शाखा, चैत्यक अमरावती क्षेत्र में द्वितीय शताब्दी ईसवी में ताकत में थी। वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि का अभिलेख उनके यहाँ प्रभुत्व में होने का स्पष्ट प्रमाण है। चैत्यकों ने चैत्य या स्तूप की पूजा को प्रधान स्थान दिया था। संभवतः इसी सिद्धान्त के कारण महाचैत्य क्षेत्र से अनेकों दान अभिलेख मिले हैं। अमरावती का एक अन्य अभिलेख महावन-सेलिय नामक संप्रदाय का वर्णन करता है, जिसकी एक शाखा अपर-महाविन-सेलिय का नागार्जुनकोण्डा में आधिपत्य था। एक अन्य संप्रदाय पूर्व-सेलियों का भी धान्यकटक में वास था, जिनके विषय में अमरावती के स्तंभ अभिलेख से ज्ञात होता है। युवान-च्वांग के आगमन के समय यहाँ अपर-सेलिय और पूर्व-सेलिय संप्रदाय के विहार थे।

किसी अन्य बौद्ध संप्रदाय का नाम अमरावती से नहीं मिलता है। परन्तु यहाँ से प्राप्त पाँचवी-छठी शताब्दी ईसवी की तारा की प्रतिमाओं से इस स्थल पर पूर्ण-विकसित महायान के होने का पता चलता है। युवान-च्वांग के अनुसार महासांघिक संप्रदाय को मानने वाले ही यहाँ बहुतायत में थे। वज्रयान और अन्य तान्त्रिक साधनाओं के भी यहाँ प्रचलित होने का आभास मिलता है।

अमरावती का महाचैत्य भी अधिकतर बौद्ध स्थलों के समान यूरोपिय विद्वानों के प्रयासों से ही संसार के सामने आ सका है। इसके अस्तित्व का ज्ञान सर्वप्रथम कर्नल कोलिन मैकेनजी (Collin Mackenzie) को सन् 1797 (सत्तरह सौ सतानवे) ईसवी में हुआ। इससे लगभग एक वर्ष पहले एक स्थानीय जमींदार राजा वसु रेड्डि नायडु ने अपना निवास स्थान चिन्तापल्ली से अमरावती में बदला और अमरेश्वर मंदिर के चारों ओर एक नगर की नींव डाली। दीपालदिन्ने (महाचैत्य) जमींदार की नजर से बच न सका और बड़े आकार की अनेकों ईटों, चूना पत्थर की पट्टियों (Slabs) आदि का प्रयोग यहाँ निर्माण सामग्री के रूप में हुआ। उत्खनन के समय कुछ अलंकृत पट्टियाँ मिलीं जिसकी सूचना कर्नल मैकेनजी तक पहुँची और वे तुरन्त इस स्थल पर आये। उन्होंने यहाँ ईटों व पत्थर की पट्टियों से ढँका 90 (नब्वे) फुट व्यास का और 20 (वीस) फुट ऊँचा एक टीला पाया। परन्तु वे इसके महत्व को पूरी तरह समझ नहीं पाये। फिर लगभग 20 (वीस) वर्ष वाद सन् 1818 (अट्ठारह सौ अट्ठारह) ईसवी में सहायकों के एक दल के साथ वे इस स्थल पर आये और स्तूप व इस क्षेत्र का नक्शा (चित्र) बनाया। उस समय उनको यहाँ से कुछ अलंकृत अवशेष भी प्राप्त हुये थे।

कर्नल मैकेनजी द्वारा महाचैत्य की खोज के पश्चात अनेकों यूरोपीय अधिकारियों ने अमरावती की मूर्तियों आदि को एकत्रित करने में रुचि ली। सन् 1845 (अट्ठारह सौ पैंतालिस) में सर वाल्टर स्मिथ ने, सन् 1877 (अट्ठारह सौ सत्तहतर) में रौबर्ट सेंवैल ने, सन् 1881 (अट्ठारह सौ इक्यासी) में जेम्स वर्गस ने और तीन वार [1888-89 (अट्ठारह सौ अट्ठासी-उन्नासी), 1905-06 (उन्नीस सौ पाँच-छः), 1908-09 (उन्नीस सौ आठ-नौ)] अलेक्जैण्डर रिये ने उत्खनन कार्य किया और क्रमवद्ध इतिहास को सामने लाने का प्रयास किया। सन् 1958-59 (उन्नीस सौ अट्ठावन-उनसठ) में भारतीय पुरातत्व विभाग के के० सुब्रह्मण्यम और के० कृष्णमूर्ति ने बड़े पैमाने पर उत्खनन कार्य करके अनेकों वास्तुकला के टुकड़ों, मूर्तिकला के अवशेषों, तवर्रूक-पात्रों (Reliquaries) और अन्य प्राचीन पुरावशेषों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया। सन् 1973-74 (उन्नीस सौ तिहत्तर-चौहत्तर) में ई० के० शर्मा द्वारा किये गये उत्खनन से भी कुछ अवशेष मिले हैं। सातवाहनों की किलेबन्द राजधानी धान्यकटक में भी

सन् 1962-65 (उन्नीस सौ वासठ-पैंसठ) में एम० वेंकटरमय्या और के० रघुवचरी द्वारा खुदाई का कार्य हुआ और उन्होंने इस स्थान के पाँच कालों को अनावृत्त किया जिनमें सबसे प्राचीन काल पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व का है।

महाचैत्य से पाप्त मूर्तियाँ, अभिलिखित व अलंकृत पट्टियाँ इत्यादि विभिन्न संग्रहालयों में विभक्त (संग्रहित) हैं। यहाँ के स्थानीय संग्रहालय में भी कुछ अवशेष रखे हैं जो मुख्यतः या तो जेम्स वर्गस और अलेक्जैण्डर रिये द्वारा यहाँ छोड़ दिये गये थे या फिर सन् 1958-59 (उन्नीस सौ अट्ठावन-उनसठ) की यहाँ की खुदाई से निकले थे।

अमरावती के स्तूप को अभिलेखों में सदैव महाचैत्य के नाम से उल्लिखित किया गया है। इसके वर्तमान अवशेषों में ईटों का बना स्तूप व उसकी मेधि, प्रदक्षिणा पथ और वेदिका का गोल सरेखण है। स्तूप की मेधि की ऊँचाई 1.55 (एक दशमलव पचपन) मीटर और व्यास 49.30 (उन्चास दशमलव तीस) मीटर है। मूलतः गोल मेधि के ऊपर अण्ड था, जिस पर वेदिका युक्त हर्मिका व छत्र था! अण्ड बड़ी आकार की ईटों (57×28×7.6, सत्तावन×अट्ठाइस× सात दशमलव छः सेंटीमीटर) से ठोस बना हुआ था।

महाचैत्य पूर्ण रूप में अपनी विशिष्टता रखता था। उसकी मेधि से चार प्रमुख दिशाओं की ओर प्रक्षेपित (बाहर निकले हुए) आयक चबूतरे [7.20 (सात दशमलव बीस) ×2.10 (दो दशमलव दस) मीटर] थे। ये चबूतरे आन्ध्र-देश की स्तूप-निर्माण वास्तुकला के विशेष लक्षण हैं। चबूतरे मूलतः पाँच आयक स्तंभों वाले होते थे। ये स्तंभ प्रतीकात्मक रूप में बुद्ध के जीवन की पाँच महत्वपूर्ण घटनाओं को दर्शाते हैं– जन्म, महाभिनिष्क्रमण, बोधि-प्राप्ति, धर्म-चक्र-प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण। मेधि और आयक चबूतरे, दोनों ही अलंकृत पट्टियों से ढँके थे। दक्षिणी चबूतरे के आयक स्तंभों की आधार फलक के छेदों में से स्फटिक (Crystal) की पाँच अवशेष मँजूषायें मिली हैं, जिनमें अस्थि-अवशेष व सोने के फूल रखे हुए थे। स्तूप के अण्ड का व्यास अनुमानतः 42 (बयालिस) मीटर था और उसकी ऊँचाई व्यास की नाप के अनुसार कम से कम आधी अवश्य थी। अण्ड, मेधि के किनारों पर बना था जिससे कि चारों ओर लगभग 7.1 (सात दशमलव एक) मीटर का निप्रवण (Batter) छूटता रहा होगा। लगभग 2.32 (दो दशमलव बत्तीस) मीटर लंबी पट्टियों से अण्ड का निचला भाग ढँका था। इन पट्टियों पर त्रिरत्न, पूर्ण कुंभ आदि उत्कीर्ण थे। अण्ड के ऊपरी भाग पर संभवतः गचकारी (Stucco) का अलंकरण था।

वेदिका का व्यास लगभग 54 (चौवन) मीटर व ऊँचाई 4 (चार) मीटर थी। उसमें चारों दिशाओं में प्रवेश द्वार बने हुए थे। वेदिका के स्तंभ ईटों से बनी नींव में जड़ हुए थे और तीन चूलों में फँसी हुई सूचियाँ स्तंभों के प्रत्येक जोड़े को जोड़ती थीं। इन स्तंभों के शिखर पर जोड़ थे जिनमें गोल शीर्ष वाले उष्णीष जड़े जाते थे। एक अनुमान के अनुसार वेदिका को लगभग 800 (आठ सौ) फुट लंबी मुण्डेर (Coping) की आवश्यकता रही होगी जो कि 136 (एक सौ छत्तीस) स्तंभों व 348 (तीन सौ अड़तालिस) सूचियों पर टिकी रही होगी। प्रत्येक चार प्रमुख द्वारों पर 26 (छब्बीस) फुट जगह छोड़ती हुई वेदिका लगभग 16 (सोलह) फुट त्रिज्यीय (Radially) मुड़ती है। फिर अन्दर की ओर 6.5 (साढ़े छः) फुट जगह छोड़ती हुई यह समकोण पर मुड़ती है और पुनः समकोण पर 8 (आठ) फुट बाहर निकलती है। अपने उत्कर्ष के काल में वेदिका का स्वरूप संभवतः यही रहा होगा।

स्तूप की मेधि व वेदिका के मध्य प्रदक्षिणा-पथ था, जिसकी चौड़ाई लगभग 4 (चार) मीटर थी। इसके अतिरिक्त यहाँ से अनेकों ग्रेनाईट और चूना-पत्थर के अभिलिखित स्तंभों के अवशेष भी मिले हैं। अनेकों व्रतानुष्ठित स्तूपों और उत्तरकालीन विहारों के खण्डहर भी चारों ओर देखे जा सकते हैं।

स्थानीय संग्रहालय में संग्रहित अवशेषों को कालक्रमानुसार तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से बारहवीं शताब्दी ईसवी के मध्य का माना जाता है। संग्रहालय मुख्य रूप से तीन भागों में बंटा है। पहले भाग, मुख्य दीर्घा, में विशेष आकर्षण का केन्द्र द्वितीय शताब्दी ईसवी का गोलाकार फलक है, जिस पर कमल का फूल अंकित है। दूसरे भाग, प्रथम दीर्घा, में बुद्ध की आदमकद प्रतिमा प्रमुख है। अन्य विशेष वस्तुयें मेधि-पट्टियाँ, अभिलिखित व अलंकृत स्तंभ हैं, जो कि बुद्ध के जीवन-वृत्त, जातक कथाओं व दाताओं के विषय में बताते हैं।

संग्रहालय के अहाते में महाचैत्य के तत्कालीन पूर्ण उत्कर्ष के स्वरूप की एक अनुकृति रखी गई है। भारत में बौद्ध धर्म का पुनः प्रचार करने वाले डॉ० भीमराव अम्बेडकर की एक आदमकद प्रतिमा संग्रहालय के बाहर बनी है। इस प्रकार दक्षिण भारत में विशालाकार स्तूपों के विषय में जानने के लिए अमरावती के अवशेषों का विशेष महत्व है।

नालन्दा

विश्व के सवसे प्राचीन बौद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा के अवशेष बरगाँव नामक गाँव के समीप हैं। यह स्थान पटना नगर से लगभग 90 (नब्बे) किलो मीटर दक्षिण-पूर्ण की ओर और प्राचीन राजगृह (वर्तमान राजगीर) से सिर्फ 10 (दस) किलो मीटर उत्तर की ओर स्थित है। नालन्दा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। 5वीं - 6ठी शताव्दी ईसा पूर्व भगवान बुद्ध व भगवान महावीर के जीवन काल में भी इसका अत्यन्त महत्व था। भगवान महावीर ने अपने जीवन के 14 (चौदह) वर्षावास यहाँ व्यतीत किये थे। बौद्ध साहित्य के अनुसार भगवान बुद्ध इस स्थान पर अनेकों बार आये थे। यहाँ का पावारिक आम्रवन उनका प्रिय विश्राम-स्थल था।

भगवान के धर्मसेनापति सारिपुत्र का जन्मस्थल भी नालन्दा ही माना जाता है। विभिन्न बौद्ध ग्रन्थों में इस स्थल के भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं, जैसे नाल, नालक, नालक-ग्राम तथा नालन्दा। नालन्दा नाम प्राचीन समय से ही प्रचलित था, यहाँ से प्राप्त अभिलेखों में इसी नाम के प्रयोग में आने से ऐसा प्रतीत होता है। इस नाम की उत्पत्ति के विषय में कई मत हैं। नालन्दा के विषय में एक मतानुसार प्राचीन समय में यहाँ नाल या कमल का फूल बहुतायत में पाये जाने के कारण (नालं ददातीति नालन्दा) इसका नालन्दा नाम पड़ा। कुछ अन्य विद्धानों का विचार था कि 'न अलं ददाति इति नालन्दा' अर्थात जहाँ विद्या के क्षेत्र में अलं (समाप्ति) नहीं होता था, अतः यह नालन्दा है। कहा जाता है कि यहाँ विद्यार्थी और अध्यापक अपने स्वाध्यायी स्वभाव के कारण निरन्तर ज्ञान के सूक्ष्म तत्वों और गूढ़तम रहस्यों व समस्याओं का समाधान खोजते रहते थे। युवान-च्वांग ने वर्णन किया है कि परंपरानुसार यहाँ के स्थानीय तालाब में वास करने वाले नाग के नाम के कारण इसका यह नाम पड़ा। परन्तु उनके अपने मतानुसार भगवान बुद्ध अपने एक पूर्व-जन्म में बोधिसत्व के रूप में यहाँ के राजा के घर जन्मे थे और यह स्थल उनकी राजधानी था। उनकी दानशीलता के कारण इस स्थान का नाम नालन्दा या 'न-अलम्-दा' (निरन्तर दान) पड़ा था।

तारानाथ के अनुसार तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के महान मौर्य सम्राट अशोक ने सारिपुत्र के चैत्य में पूजा की थी और यहाँ पर एक मंदिर का निर्माण करवाया था। उनके अनुसार दूसरी शताब्दी ईसवी के प्रसिद्ध महायान विद्वान नागार्जुन नालन्दा के प्रमुख पण्डित थे और इसी समय सुविष्णु नामक एक ब्राह्मण ने यहाँ 108 मंदिरों का निर्माण करवाया था। इस स्थल के विषय में भारत में आने वाले सबसे पहले चीनी यात्री फा-ह्यान की खामोशी को देखते हुए तिब्बती इतिहासकार के कथन की सत्यता पर शंका होती है। फा-ह्यान ने सारिपुत्र के स्तूप मात्र का ही वर्णन किया है।

नालन्दा का वास्तविक महत्व 5वीं शताब्दी ईसवी में गुप्त वंशीय राजाओं के शासनकाल से प्रकाश में आता है, जब यहाँ भारत के प्रथम विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इससे पहले भारतीय शिक्षा व्यवस्था के दो ही रूप थे– एक तो यह कि शिक्षा समाज के उच्च वर्णों के लिए ही सीमित थी और दूसरा यह कि जाने-माने आचार्य अपने घर पर ही शिष्यों के एक समूह को शिक्षा देते थे, जिसे 'गुरूगृह' कहा जाता था। बौद्धों ने शिक्षा को जन सामान्य के लिए उपलब्ध कराया और विहारों में सामूहिक शिक्षा प्रणाली को जन्म दिया। इन्हीं विहारों ने कालान्तर में बौद्ध विश्वविद्यालयों का रूप प्राप्त कर लिया, जिनमें सबसे प्रथम नालन्दा ही था।

नालन्दा से प्राप्त सबसे प्राचीन पुरातात्विक साक्ष्य कुमारगुप्त (प्रथम) के काल के सिक्के हैं। युवान-च्वांग के अनुसार भी गुप्त वंश के पाँच राजाओं ने यहाँ क्रमशः पाँच विहारों का निर्माण करवाया था। इनके अतिरिक्त बालादित्य ने यहाँ एक मंदिर का निर्माण करवाया और छठे विहार का निर्माण मध्य भारत के एक शासक द्वारा हुआ था। गुप्त शासकों की इस स्थान के प्रति रुचि नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (द्वितीय), बुद्धगुप्त व विष्णुगुप्त की यहाँ से प्राप्त सीलों से स्पष्ट होती है। इनके अतिरिक्त यशोवर्मनदेव के समय के एक अभिलेख (8वीं शताब्दी ईसवी) द्वारा भी इस मत की पुष्टि होती है, जिसमें बालादित्य द्वारा निर्मित मंदिर में बुद्ध-प्रतिमा को स्थायी दान देने और अनेकों अन्य भेंटों का वर्णन है।

युवान-च्वांग ने यहाँ पर देखे अनेकों ऊँचे मंदिरों का वर्णन किया है, जिनमें एक छः मंज़िले मंदिर का भी वर्णन है। पूर्णवर्मा ने उसमें 80 फुट ऊँची ताम्र बुद्ध-प्रतिमा स्थापित की थी। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन की नालन्दा के प्रति असीम श्रद्धा का ज्ञान भी हमें युवान-च्वांग के वर्णनों से मिलता है। उन्होंने हर्षवर्धन (A.D. 606-47) द्वारा निर्माणाधीन काँस्य मंदिर को भी देखा था। इस मंदिर के निर्माण के अतिरिक्त, हर्षवर्धन ने नालन्दा विश्वविद्यालय के संरक्षण के लिए 100 गाँवों का कर देने का भी प्रावधान किया था। हर्ष नालन्दा के भिक्षुओं का बड़ा सम्मान करते

थे और स्वयं को उनका सेवक मानते थे। कन्नौज में आयोजित धर्मसभा में नालन्दा के लगभग एक हजार भिक्षु उपस्थित हुए थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय उस समय तक अत्यधिक महत्वपूर्ण शिक्षा-केन्द्र बन चुका था और पूरे बौद्ध जगत में जाना जाता था। युवान-च्वांग ने स्वयं इस विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की थी और उनको भारतीय नाम मोक्षदेव दिया गया था। उनके चीन वापस जाने के 50 (पचास) वर्षों के भीतर ही अनेकों चीनी व कोरियाई यात्री यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आये थे।

चीनी यात्रियों युवान-च्वांग व इत्सिंग के अमूल्य वर्णनों से इस विश्वविद्यालय का सभी दृष्टि से पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। उन दोनों के वर्णन एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों ने ही विस्तार से इस महाविहार की महानता का वर्णन किया है। उन्होंने यहाँ के ज्ञान की असाधारण ऊँचाई (बुलन्दी), भिक्षुओं का अनुशासित जीवन और अन्तराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त शिक्षकों की विलक्षण उपलब्धियों के विषय में विशेष रूप से लिखा है। यहाँ के भिक्षुओं का आचरण आदर्श माना जाता था। इस विश्वविद्यालय का इतना अधिक आदर था कि यदि कोई झूठ भी कह देता था कि वह यहाँ का विद्यार्थी है, तो भी उसे जन सामान्य में सम्मान प्राप्त होता था। वास्तव में, प्रारंभ से ही, कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण महायान दार्शनिक नहीं था, जो किसी न किसी रूप में नालन्दा से न जुड़ा रहा हो। उच्च शिक्षा का केन्द्र होने के कारण यहाँ प्रवेश पाने के इच्छुकों का ताँता लगा रहता था। द्वार पर ही उनकी प्रवेश परीक्षा ली जाती थी, जिसको पास करने के लिए विद्यार्थी का कुशाग्र व ज्ञानवान होना अत्यन्त आवश्यक था। द्वार पण्डित द्वारा ली गई इस परीक्षा में 10 (दस) में से सिर्फ दो-तीन परीक्षार्थी ही उत्तीर्ण हो पाते थे और केवल उन्हें ही विश्वविद्यालय में प्रवेश मिलता था। इस केन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता यहाँ का निर्धारित पाठ्यक्रम था, जिसमें ज्ञान की लगभग सभी शाखाओं को सम्मिलित किया गया था। महायान व हीनयान (स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद, इत्यादि) के ग्रन्थों के अतिरिक्त, हेतुविद्या (तर्क-शास्त्र), शब्द-विद्या (व्याकरण), चिकित्सा-विद्या और यहाँ तक कि ब्राह्मण ग्रंथ वेद, आदि भी उसमें सम्मिलित थे। यही कारण है कि पूरे दिन का समय भी प्रश्नोत्तर तथा वाद-विवाद के लिए पर्याप्त नहीं होता था।

पूर्वी भारत के अगले महत्वपूर्ण राजनीतिक युग में, अर्थात पाल राजाओं के शासन में, नालन्दा अपनी बुलन्दियों पर चढ़ता ही गया था। राजकीय संरक्षण व प्रचुर दान के कारण यह महायान-वज्रयान बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया था। यहाँ के भिक्षुओं ने इसकी कीर्ति को दूर-दराज के क्षेत्रों (इलाकों) तक फैलाया था। नालन्दा के ही एक प्रतिभावान भिक्षु पद्मसंभव ने तिब्बत जाकर वहाँ बौद्ध धर्म का

प्रचार किया और तिब्वती वौद्ध धर्म (जिसे कुछ पश्चिमी विद्वानों ने भ्रमवश लामावाद कहा है) की नींव डाली थी। वौद्ध जगत में नालन्दा की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का प्रमाण यहाँ से प्राप्त इस काल के ताम्रपत्र अभिलेख से मिलता है, जिसमें सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) के शैलेन्द्र राजा वालपुत्र देव द्वारा यहाँ एक विहार के निर्माण और साथ ही उनके निवेदन पर राजा देवपाल (810-50 A.D.) द्वारा भिक्षुओं के खर्च व पाण्डुलिपियों की नकल के लिए पाँच गाँव भेंट किये जाने का वर्णन है।

इस ख्याति के पीछे यहाँ के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वानों का गंभीर ज्ञान, अथक परिश्रम और अनुशासित आचरण रहा है। तारानाथ के अनुसार नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुवन्धु आदि यहाँ के प्रधान पण्डित रहे हैं। इनके अतिरिक्त दिङ्‌नाग, धर्मपाल, शीलभद्र, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि महत्वपूर्ण आचार्यों का संवंध नालन्दा से रहा है, जिन्होंने इसके महत्व व गरिमा को 12वीं शताब्दी तक संजोये रखा था।

युवान-च्वांग के वर्णनों के अनुसार बौद्ध धर्म धीरे-धीरे अवनति की ओर अग्रसर हो रहा था। वह केवल विहारों तक ही सीमित होता जा रहा था और जन-सामान्य के बीच उसकी पकड़ ढीली हो रही थी। 8वीं शताब्दी के ब्राह्मण दार्शनिकों, जैसे कुमारिल, शंकराचार्य आदि ने इसकी प्रतिष्ठा को और भी धक्का लगाया था। अन्तिम चोट विदेशी (अफगान, तुर्क, आदि) आक्रमणकारियों द्वारा लगी। आज भारत के मैदानी व तटीय प्रदेशों से तो यह लुप्त हो गया है और इसका अस्तित्व केवल कुछ उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेशों में ही संकुचित होकर रह गया है।

नालन्दा मुहम्मद वख्तियार खिलजी द्वारा किये गये आक्रमण का शिकार बनने के कारण वुरी तरह तहस-नहस कर दिया गया था। 1235-36 ईसवी में नालन्दा आने वाले तिब्वती यात्री धर्मस्वामी ने यहाँ की वुरी अवस्था का दुखद वर्णन किया है। उनके अनुसार अधिकतर इमारतें नष्ट हो गई थीं और प्रधान पण्डित राहुलश्रीभद्र व उनके सिर्फ 70 (सत्तर) शिष्य यहाँ रह गये थे। इस प्रकार नालन्दा विश्वविद्यालय की गरिमा समाप्त हो गई। यहाँ तक कि नालन्दा नाम तक भी भुला दिया गया। कनिंघम द्वारा वड़गाँव नामक गाँव के पास इसकी पहचान ने इसे आधुनिक दुनिया के सामने प्राचीन दुनिया के महान विश्वविद्यालय के रूप में पुनः उजागर कर दिया है।

सर्वप्रथम इन खण्डहरों पर वुछनॉन हेमिल्टन (Buchanon Hamilton) की नजर पड़ी, जो 1811-12 ईसवी में यहाँ आये थे। उन्हें यहाँ कुछ वौद्ध व ब्राह्मण प्रतिमायें भी प्राप्त हुई थीं। परन्तु इस स्थल की वास्तविक पहचान लगभग 50 (पचास) वर्षों वाद अलेक्जेण्डर कनिंघम द्वारा हुई, जो उन्होंने चीनी यात्रियों के

वर्णनों और यहाँ से प्राप्त अभिलेखों के आधार पर की थी। सन् 1915 ईसवी में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा यहाँ पर पूर्ण खुदाई का कार्य प्रारंभ हुआ, जिसने भारत के इस पहले विश्वविद्यालय को दुनिया के सामने प्रकट किया और भारत में ज्ञान की प्राचीन परंपरा के इस महान केन्द्र की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया।

नालन्दा के खण्डहर दक्षिण से उत्तर की ओर लंबाई में फैले हुए हैं। पूर्वी दिशा की ओर विहारों की कतारें हैं और छोटे-छोटे स्तूपों से घिरे मंदिर पश्चिम की ओर हैं। अधिकतर इमारतें पाल काल की हैं, हालांकि कुछ पहले की भी हैं।

विहारों की कुल संख्या 11 (ग्यारह) है, जिनमें 9 (नौ) एक ही पंक्ति में वने हैं और उनका मुख पश्चिम की ओर है। शेष दो विहार इनसे दक्षिण की ओर समकोण पर बने हैं। सभी विहार सामान्य विहारों की शैली में ही वने हैं। इन्हें देखने से ऐसे लक्षणों का ज्ञान होता है, जिनसे ज्ञात होता है कि वे अपने इसी मूल स्थान पर विना किसी परिवर्तन के बार-बार बनाये गये थे। विहार संख्या एक (1), जो सबसे अच्छा है, कम से कम 9 (नौ) वार पुनर्निर्मित हुआ है। इन खंडहरों का बारीकी से अध्ययन करने पर पता चलता है कि कभी तो केवल पुराने फर्श पर नया फर्श वना कर ही काम चला लिया जाता था, परन्तु कभी समस्त कक्षों, वरामदों आदि के मलवे के ढेर पर नये विहार का निर्माण होता था। कहीं-कहीं कमरे की पुरानी दीवारों का भी नींव के रूप में प्रयोग कर लिया गया है। अधिकतर विहारों में कम से कम ऊपर एक मंजिल अवश्य बनी थी। सीढ़ियों को प्राकृतिक प्रकाश से ही आलोकित किया जाना इनकी विशेषता है। कुयें सामान्यतः आँगन के अन्दर खोदे जाते थे। इमारतें ईंटों की बनायी जाती थीं और मिट्टी से प्लास्तर होता था। केवल वरामदे के खंभों को ही पत्थर से बनाया जाता था।

मंदिरों में सवसे महत्वपूर्ण मुख्य मंदिर है, जो काफी ऊँचा और 6 (छः) क्रमिक पुनर्निर्माण का परिणाम है। अपनी पहली तीन अवस्थाओं में तो यह सामान्य आकार का ही था, किन्तु चौथी अवस्था में इसे विशेष आकार प्राप्त हुआ। पाँचवी व छठी अवस्थाओं में बुद्ध प्रतिमा को ऊँचे चबूतरे पर प्रतिष्ठापित किया गया, जहाँ सीढ़ियों द्वारा पहुँचा जा सकता था। मंदिर की एक अवस्था के मलवे के ढेर का प्रयोग अगली अवस्था के चबूतरे की नींव के रूप में होने से मंदिर की ऊँचाई वढ़ती गई और इस प्रकार इसने जमीन से 50 फुट तक की ऊँचाई प्राप्त कर ली थी।

इस मंदिर की पहली तीन अवस्थायें तो पूरी तरह नींव के नीचे दवी पड़ी हैं। आज तो इसकी पाँचवी अवस्था ही सबसे ठीक हालत में बची है। यह अवस्था 6ठी

शताब्दी की है और अलंकृत है। मंदिर के चारों कोनों पर स्तूप बने थे। स्तूपों, चबूतरों व सीढ़ियों आदि पर विभिन्न मुद्राओं में बुद्ध-प्रतिमाओं तथा पद्मपाणि, मैत्रेय आदि की मूर्तियों द्वारा अलंकरण किया गया है। मुख्य मंदिर का काफी बड़ा भाग मलवे में दबे होने के कारण स्पष्ट नहीं है, फिर भी ऐसा लगता है कि यह संभवतः महाबोधि मंदिर (बोध-गया) की शैली का ही रहा होगा। युवान-च्वांग के वर्णनों से भी ऐसा ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अलावा नालन्दा से ही प्राप्त नालन्दा संग्रहालय में सुरक्षित मंदिर की दो प्रस्तर प्रतिकृतियों से भी इसकी पुष्टि होती है।

इस मंदिर के अलावा मंदिर संख्या 12, 13 और 14 भी विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जो अनेकों मूर्तियों, आलों आदि से अलंकृत हैं तथा तत्कालीन कला को दर्शाते हैं। सभी मंदिर विभिन्न आकार के स्तूपों से घिरे हैं, जिनके भीतर धारणी/प्रतीत्य समुत्पाद सूत्र लिखी ईंटें रखी हैं। यहाँ से प्राप्त सभी स्तूप व्रतानुष्ठित (Votive) हैं जो तत्कालीन बौद्ध जगत में इसकी ख्याति का स्पष्ट प्रमाण हैं।

नालन्दा से प्राप्त मूर्तियाँ यहाँ के स्थानीय संग्रहालय और देश के अन्य संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। प्रतिमायें अधिकतर भगवान बुद्ध और बौद्ध धर्म के अन्य सभी देवी-देवताओं की हैं, जिनमें वज्रयान की प्रतिमायें भी शामिल हैं। पत्थर की बड़ी प्रतिमाओं की संख्या कम है, किन्तु पत्थर की छोटी प्रतिमायें पर्याप्त संख्या में हैं। काँस्य प्रतिमायें बहुतायत में हैं तथा प्रभावशाली हैं। इनसे पता चलता है कि यह स्थल धातु ढालने (Metal-Casting) का भी प्रमुख केन्द्र रहा होगा।

इस प्रकार नालन्दा विश्वविद्यालय न केवल ज्ञान, बल्कि अन्य कलाओं का भी केन्द्र था। आज के युग में नालन्दा विश्वविद्यालय के उस प्राचीन वैभव को पुनः उजागर करने के लिए यहाँ 'नव-नालन्दा-महाविहार' की स्थापना की गई है। इसकी स्थापना महान विद्वान व भिक्षु जगदीश काश्यप ने की थी। उन्होंने नालन्दा की गरिमा को वापस लाने का कार्य जीवन के अन्तिम क्षणों तक किया। इस प्रकार नालन्दा प्राचीन इतिहास के जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा की पूर्ति करने के साथ ही साथ बौद्ध धर्म से संबंधित आधुनिक ज्ञान के इच्छुकों का भी केन्द्र बन गया है। यही कारण है कि प्राचीन काल के समान आज भी नालन्दा में थाईलैण्ड, बर्मा (म्यान),श्रीलंका, जापान, आदि से भिक्षु व उपासक आते हैं और प्राचीन विश्वविद्यालय के समीप अतीत को जीवित करते हुए ज्ञान प्राप्त करते हैं।

विक्रमशील

विक्रमशील महाविहार पाल वंशीय राजाओं के काल में स्थापित हुआ था और नालन्दा का परवर्ती समकालीन था। यह नालन्दा महाविहार के अवनतिकाल में प्रमुख केन्द्र वन गया था। तिव्वती परंपरा में इसका वही आदरणीय स्थान है, जो कि चीनी यात्रा-वर्णनों में नालन्दा का है। इस विहार के नाम के विषय में कई श्रोतों से पता चलता है। 'अतिश की जीवनी' अनुसार यहाँ के भिक्षुओं के उच्च शील के कारण इसका यह नाम पड़ा था। इतिहासकार आर० सी० मजूमदार कहते हैं, "विहार का वर्णन 'श्रीमद-विक्रमशील-देव-महाविहार' के रूप में मिलने से ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमशील धर्मपाल (या देवपाल) का दूसरा नाम था।" रामचरित के निम्नलिखित गद्यांश से उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है, "युवराज हारवर्प बंगाल के पाल वंश से संवंधित थे....। ऐसा सुझाया गया है कि विक्रमशील, युवराज के पिता, धर्मपाल का दूसरा नाम था, जिन्होंने विक्रमशील महाविहार संस्थापित किया तथा हारवर्ष देवपाल (का नाम) था।" एक तिव्वती स्रोत में मिलता है कि "चूँकि यह वह स्थल था जहाँ विक्रम नामक यक्ष को कुचला (दमन) गया था, अतः यह विक्रमशील कहलाया।" इस प्रकार इसका नाम विक्रमशील, विक्रमशिला या विक्रमशीला था और इसके संस्थापक प्रसिद्ध पाल वंशीय राजा धर्मपाल थे।

विक्रमशील अपनी चरम उन्नति के काल में तिब्वतियों में वहुत प्रसिद्ध था और तिब्वत से विद्वानों व यात्रियों को आकर्षित करता रहता था। विक्रमशील व तिब्वती बौद्ध केन्द्रों के मध्य पारस्परिक संपर्क भी था। अतः महाविहार के विषय में तिब्वती परंपराओं की प्रामाणिकता को माना जा सकता है। इन परंपराओं के अनुसार यह महाविहार उत्तरी मगध में गंगा नदी के किनारे ऊँची पहाड़ी के कगार पर स्थित था। परंतु नदी व उसकी धाराओं के किनारे अनेकों स्थलों पर वौद्ध मूर्तियाँ व अन्य अवशेष मिले हैं। इस प्रकार यह महाविहार मगध के पूर्व में गंगा नदी के निचले मैदानों में नदी के मीलों लंबे वहु-धारीय क्षेत्र में कहीं भी स्थित रहा होगा।

कनिंघम ने वड़गाँव से लगभग 5 (पाँच) कि० मी० दूर आधुनिक गाँव सिलाव को इसका प्राचीन स्थान माना है। परन्तु अधिकतर विद्वान उनके इस मत से सहमत

नहीं हैं, क्योंकि यह तिव्वती विवरणों से मेल नहीं खाता है। एस० सी० दास के सुझाव के अनुसार यह भागलपुर के समीप आधुनिक सुलतानगंज में रहा होगा। उनके अनुसार, "इसकी परिस्थितियों व वैष्करन नाम की विक्रम नाम से एकरूपता किसी को भी भागलपुर के समीप आधुनिक सुलतानगंज की वैष्करण शीला से विक्रमशील की पहचान के लिए प्रेरित कर सकते हैं।" दूसरी ओर नन्दलाल डे की मान्यता है कि भागलपुर जिले में कोलोंग (Colgong/coloong) पर्वत श्रेणी का एक अंश पत्थरघाट, प्राचीन विक्रमशील था। पत्थरघाट से प्राप्त अवशेप, जो आठवीं शताव्दी से वारहवीं शताव्दी ईसवी के मध्य के हैं, इसके स्थल के निर्धारण के सबसे उपयुक्त कारण हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि यह भागलपुर से 32 (बत्तीस) कि०मी० दूर कोलगाँव रेलवे स्टेशन के समीप था। कोलगाँव से 5 (पाँच) कि०मी० पूर्व गंगा तट पर वंटेश्वरनाथ का टीला नामक एक स्थल है, जहाँ अनेक खण्डहर हैं। यहाँ से अनेक मूर्तियाँ भी मिली हैं। कुछ इतिहासज्ञों के मुताविक विक्रमशील भागलपुर जिला में पमर घाट के निकट बसा हुआ था। पुरातत्व विभाग ने कहलगाँव के पास वटेश्वर स्थान और पत्थर घट्टा में इसके स्थान का निर्धारण किया है।

सवसे पहले इसे पहचानने का श्रेय अंग्रेज पर्यटक फ्रांसिस वुचनन को जाता है जिन्होंने सन् 1811 में भागलपुर जिले के अपने यात्रा वृत्तांत में इस विश्वविद्यालय के टीले को देख कर राजा के महल की संभावना जाहिर की थी। सन् 1930 में सी०ई०डव्लू० ओल्डहम ने वुचनन की डायरी का संपादन किया और अपनी प्रस्तावना में लिखा कि वुचनन ने पत्थर-घट्टा के पास, जिस राजा के महल होने की संभावना बताई थी, शायद यही प्रसिद्ध विक्रमशील वौद्ध महाविहार का क्षेत्र है और इसका उत्खनन आवश्यक है। यहाँ के स्थानीय विद्वानों ने पुरातत्वेताओं का ध्यान खींचा जिससे 'अंतियक्र' के दूहया टीले में से विक्रमशील को दुनिया के सामने लाया जा सके। इसके वाद ही पूरे देश का ध्यान इस उपेक्षित पड़े ऐतिहासिक विश्वविद्यालय की तरफ गया है।

उत्खनन का कार्य सवसे पहले सन् 1960 में हुआ जो सन् 1969 तक चलता रहा। खुदाई के दौरान कई अवशेप प्राप्त हुए जिनसे इस स्थान की महत्ता का पता चला। 15 मीटर ऊँचे और 100 मीटर चौड़े 'स्वस्तिकाकार केन्द्रीय मंदिर' के भग्वनावशेप भी प्राप्त हुये हैं। यह 2 मीटर की ऊँचाई के अंतर पर वने दो प्रदक्षिणा पथों से घिरा हुआ है। इन प्रदक्षिणा पथों की दीवारें पक्की मिट्टी की मूर्तियों से अलंकृत है। खुदाई से वुद्ध की एक विशाल प्रतिमा भी मिली है। इसके अतिरिक्त पत्थर, ताँवे, सोने, लोहे और मिट्टी से वनी छोटी-वड़ी प्रतिमायें भी हैं। विश्वविद्यालय में कुल 263 (दो सौ तिरसठ) कमरे वने हुए हैं। ये वर्गाकार कमरे एक केन्द्रीय स्तूप

के चारों ओर हैं। इस घेरे के बाहर एक आयताकार सभागार है, जिसे इतिहासज्ञों ने भिक्षु उपासना/साधना ग्रह माना है। इस भवन के दक्षिण-पश्चिम की तरफ पुस्तकालय है। यह पुस्तकालय अपने युग में वातानुकूलित था। पुस्तकालय की दीवारों के बीच पानी का प्रवाह होता था ताकि तापमान नियंत्रित रहे और पुस्तकालय में किताबें भी सुरक्षित रह सकें।

इस स्थल की खुदाई का काम फिलहाल बंद है। अभी 120 एकड़ जमीन खुदाई की मोहताज पड़ी है। इस जमीन में कई ऐसे तथ्य छुपे हैं, जिनसे कई ऐतिहासिक भ्रांतियाँ दूर होंगी। खुदाई से निकली मूर्तियाँ पटना संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं। इस तरह एक ऐतिहासिक धरोहर नष्ट हो रही है।

तिब्बती स्रोतों, जैसे तारानाथ, सुम्पा इत्यादि से इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। उनके अनुसार विक्रमशील महाविहार किसी बुद्धज्ञान-प्रतिष्ठ नामक व्यक्ति ने बनवाया था। यह एक बाहरी दीवार से घिरा हुआ था। इस बाहरी दीवार के बाहर 107 (एक सौ सात) मंदिर थे। प्राँगण के भीतर 48 (अड़तालिस) संस्थायें थीं, जिनमें 108 (एक सौ आठ) पंडित निवास करते थे। इसके 6 (छः) प्रवेश द्वार थे, जिनमें से प्रत्येक की रक्षा एक-एक विद्वान के द्वारा होती थी। उपलब्ध वर्णन से इसकी आकृति या क्षेत्र के विस्तार के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती है, परन्तु इसके विस्तृत प्रतिष्ठान होने का आभास मिलता है। ऐसा माना जाता है कि राजा रामपाल के शासनकाल में (1080 ईसवी) जब अभयाकरगुप्त इसके अध्यक्ष थे, इसमें 160 (एक सौ साठ) पंडित (आचार्य) और 1000 (एक हजार) भिक्षु निवास करते थे। बाद में विद्यार्थियों की संख्या 10,000 (दस हजार) तक हो गई थी। इतनी बड़ी संख्या को संभालने के लिए ज्यादा जगह की जरूरत थी। परन्तु नग-त्सो (Nag-tsho) नामक तिब्वती विद्वान के अनुसार भिक्षुओं की संख्या घट कर एक सौ के लगभग ही रह गयी थी।

विक्रमशील में भी नालन्दा महाविहार के समान 'द्वारपाल' का पद था। नालन्दा में सिर्फ एक द्वारपाल होता था, जबकि विक्रमशील में इनकी संख्या 6 (छः) थी। तिब्बती किंवदन्तियों में प्राप्त सभी द्वारपाल उच्च श्रेणी व ख्याति के विद्वान थे और इस पद पर राजकीय आज्ञानुसार आरीन थे। चीनी ग्रंथों के अनुसार नालन्दा के द्वारपालों का कार्य किसी एक विषय में प्रवेश पाने के इच्छुक व्यक्तियों की योग्यता जाँचना था। परन्तु विक्रमशील के द्वारपालों के कार्यों के विपय में स्पप्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तारानाथ के इतिहास में हमें 6 (छः) द्वारपालों के नामों की सूची प्राप्त होती है

जो चनक के शासनकाल में कार्य करते थे। पाल वंश के इतिहास में चनक का नाम नहीं आता है। परन्तु पाल राजाओं के तिब्बती कालक्रम के अनुसार चनक का शासन 955-83 (नौ सौ पचपन से नौ सौ तिरासी) ईसवी तक था। इस विषय में तारानाथ लिखते हैं कि "हालांकि इस राजा चनक ने धर्म की विशेष सेवा की, परन्तु उसकी गिनती सात पाल राजाओं में नहीं होती, क्योंकि वह पाल वंश का नहीं था।" इस काल में विक्रमशील महाविहार के निम्नलिखित द्वारपाल थे – (1) आचार्य रत्नाकरशान्ति (पूर्वी द्वार) (2) वागीश्वरकीर्ति (पश्चिमी द्वार) (3) नरोप (उत्तरी द्वार) (4) प्रज्ञाकरमति (दक्षिणी द्वार) (5) रत्नवज्र (प्रथम केन्द्रीय द्वार) (6) ज्ञानश्रीमित्र (द्वितीय केन्द्रीय द्वार)। ये सभी श्रेष्ठ विद्वान थे, जिनके ग्रंथ तिब्बती कंजुर व तंजुर में संग्रहित हैं। द्वार-पाल (पण्डित) का यह पद अभी भी बंगाल में अवशिष्ट है। परन्तु यह पुजारी श्रेणी के विद्वान पण्डित पर ही लागू होता है, जो राजदरबार या जमींदारों के दरबार में कार्यरत रहते हों। यह पदवी अब समाप्त प्राय है।

महाविहार का प्रमुख 'अध्यक्ष' कहलाता था। उसकी व द्वारपालों की नियुक्ति राजा के आदेशानुसार होती थी। विक्रमशील के अध्यक्षों में से कुछ के नाम किंवदन्तियों में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, जो कि निम्नलिखित हैं– बुद्धज्ञानपाल (जो कि संस्थापक के समकालीन व प्रथम अध्यक्ष थे), जेतारि (पहले ये द्वारपाल थे और बाद में अध्यक्ष पद तक पहुँचे), अभयाकरगुप्त, दीपंकर श्रीज्ञान, शाक्य श्रीभद्र तथा अन्य। शैक्षिक उपाधि प्रदान करने का प्रचलन, जिसका हमें नालन्दा में कोई साक्ष्य नहीं मिलता, संभवतः यहाँ प्रारंभ हो गया था। पण्डित या महापण्डित के नाम से दी जाने वाली यह विशिष्ट उपाधि राजा द्वारा प्रदान की जाती थी। महाविहार के शिक्षक 'आचार्य' नाम से जाने जाते थे। विक्रमशील महाविहार के महान तान्त्रिक आचार्यों की क्रमिक सूची (धर्मपाल के शासनकाल से विदेशी आक्रमण के समय तक की) हमें तारानाथ के ग्रंथ में मिलती है। ऐसा समझा जाता है कि विक्रमशील के पण्डितों व महापण्डितों में सबसे प्रमुखों के चित्रों से महाविहार की दीवारों को सजाया जाता था।

यहाँ के अध्यक्ष पद पर आसीन होने वालों में सबसे प्रमुख दीपंकर श्रीज्ञान थे। राजा महीपाल के शासनकाल में उन्हें विक्रमशील महाविहार के प्रधान आचार्य (अध्यक्ष) के पद के लिए आमन्त्रित किया गया था। यहाँ आने से पहले उन्होंने ओदन्तपुर महाविहार की भी सेवा की थी, जहाँ कि उन्होंने ज्ञान अर्जित किया था। उनके अध्यक्ष बनने से महाविहार अत्यन्त समृद्ध हुआ। उनके निर्देश पर भिक्षुओं के लिए अधिक निवास की व्यवस्था की गई और अध्यापन व पठन-पाठन के लिए नये विषयों को लागू किया गया था। विहार में नये भिक्षुओं को बड़ी संख्या में आकर्षित कर उन्होंने उनके लिए अध्ययन के नये तरीके प्रारंभ किये। उनके जीवन

व कार्यों का सवसे सक्रिय व ऐतिहासिक भाग वह था जो उन्होंने तिव्वत में व्यतीत किया था।

राजकीय संरक्षण व समर्थन में दीपंकर श्रीज्ञान (अतिश/अतीश) ने अपने जीवन के अन्तिम 13 (तेरह) वर्ष इस प्रकार व्यतीत किये थे कि वौद्ध धर्म तिव्वत के राज धर्म के रूप में प्रतिष्ठापित हो पाया। उन्होंने पद्मसंभव द्वारा प्रारंभ किये गये तिव्वती वौद्धधर्म के पुरोहित-तंत्र के अनुक्रम को संगठित किया और उसे स्थायी रूप प्रदान किया। तिव्वती इतिहास के अनेकों पृष्ठ उनके जीवन-वृत्त व कार्यों से परिपूर्ण हैं। तिव्वत के लोगों के मस्तिष्क व कल्पना पर उनका इतना गहरा व स्थायी प्रभाव पड़ा कि उनको मँजुश्री का अवतार व देवत्व प्राप्त आदरणीय भगवान अतिश/अतीश माना गया और आज भी तिव्वती गुम्फाओं (मंदिरों) में उनकी पूजा होती है।

यह महान व प्रसिद्ध महाविहार तान्त्रिक बौद्ध धर्म के प्रचलन के काल में अस्तित्व में आया था जव कि तंत्र (गुह्य ज्ञान) व माया, ज्ञान के प्रिय विषय बन चुके थे। सुम्पा ने विक्रमशील की 48 (अड़तालीस) संस्थाओं का वर्णन किया है। ये संस्थायें नालन्दा के विभागों के समान ही कार्य करती थीं। यहाँ विद्याओं को पढ़ाने की व्यवस्था कैसी थी, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। विक्रमशील महाविहार को तांत्रिक बौद्ध धर्म को जन्म देने व समृद्ध करने वाले केन्द्र के रूप में माना जाता है। अतः यह तांत्रिक वौद्ध धर्म की शिक्षा व संवर्धन का समानार्थक हो गया था। इस विश्वविद्यालय ने ज्ञान के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया था। आचार्य वुद्धज्ञानपद ने 'मंत्र-वज्रयान' की पढ़ाई विकसित की थी। इसकी पढ़ाई सिर्फ यहीं होती थी। उन्होंने 'मंत्र-वज्रयान' पर नौ पुस्तकें संस्कृत में लिखीं थीं। ये कितावें अनुपलव्ध हैं किन्तु इनके तिव्वती भाषा में उपलव्ध होने की पुष्टि हुई है। यह विश्वविद्यालय वौद्धों की 'वज्रयान' शाखा की पीठ था। यहाँ वौद्ध धर्म से जुड़े विषयों के अलावा तर्कशास्त्र, तंत्र-मंत्र, व्याकरण और पराविज्ञान इत्यादि की भी पढ़ाई होती थी। तिव्वती किंवदन्तियाँ यहाँ के पदों आदि का विवरण देने के अतिरिक्त यहाँ के अन्दरूनी प्रबन्ध पर अधिक प्रकाश नहीं डालती हैं। परन्तु इतना तो निश्चित है कि यहाँ ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा दी जाती थी। इस महाविहार में, जो कि धीरे-धीरे विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो गया था, कहा जाता है कि 6 (छः) महाविद्यालय सम्मिलित थे। यह न केवल तांत्रिक विद्या का बल्कि न्याय व व्याकरण का भी केन्द्र बन गया था।

विक्रमशील विश्वविद्यालय (महाविहार) ने समय के साथ अपनी पाण्डुलिपियों

जो चनक के शासनकाल में कार्य करते थे। पाल वंश के इतिहास में चनक का नाम नहीं आता है। परन्तु पाल राजाओं के तिब्वती कालक्रम के अनुसार चनक का शासन 955-83 (नौ सौ पचपन से नौ सौ तिरासी) ईसवी तक था। इस विपय में तारानाथ लिखते हैं कि "हालांकि इस राजा चनक ने धर्म की विशेप सेवा की, परन्तु उसकी गिनती सात पाल राजाओं में नहीं होती, क्योंकि वह पाल वंश का नहीं था।" इस काल में विक्रमशील महाविहार के निम्नलिखित द्वारपाल थे – (1) आचार्य रत्नाकरशान्ति (पूर्वी द्वार) (2) वागीश्वरकीर्ति (पश्चिमी द्वार) (3) नरोप (उत्तरी द्वार) (4) प्रज्ञाकरमति (दक्षिणी द्वार) (5) रत्नवज्र (प्रथम केन्द्रीय द्वार) (6) ज्ञानश्रीमित्र (द्वितीय केन्द्रीय द्वार)। ये सभी श्रेष्ठ विद्वान थे, जिनके ग्रंथ तिब्वती कंजुर व तंजुर में संग्रहित हैं। द्वार-पाल (पण्डित) का यह पद अभी भी वंगाल में अवशिष्ट है। परन्तु यह पुजारी श्रेणी के विद्वान पण्डित पर ही लागू होता है, जो राजदरवार या जमींदारों के दरवार में कार्यरत रहते हों। यह पदवी अव समाप्त प्राय है।

महाविहार का प्रमुख 'अध्यक्ष' कहलाता था। उसकी व द्वारपालों की नियुक्ति राजा के आदेशानुसार होती थी। विक्रमशील के अध्यक्षों में से कुछ के नाम किंवदन्तियों में इधर-उधर विखरे पड़े हैं, जो कि निम्नलिखित हैं– बुद्धज्ञानपाल (जो कि संस्थापक के समकालीन व प्रथम अध्यक्ष थे), जेतारि (पहले ये द्वारपाल थे और बाद में अध्यक्ष पद तक पहुँचे), अभयाकरगुप्त, दीपंकर श्रीज्ञान, शाक्य श्रीभद्र तथा अन्य। शैक्षिक उपाधि प्रदान करने का प्रचलन, जिसका हमें नालन्दा में कोई साक्ष्य नहीं मिलता, संभवतः यहाँ प्रारंभ हो गया था। पण्डित या महापण्डित के नाम से दी जाने वाली यह विशिष्ट उपाधि राजा द्वारा प्रदान की जाती थी। महाविहार के शिक्षक 'आचार्य' नाम से जाने जाते थे। विक्रमशील महाविहार के महान तान्त्रिक आचार्यों की क्रमिक सूची (धर्मपाल के शासनकाल से विदेशी आक्रमण के समय तक की) हमें तारानाथ के ग्रंथ में मिलती है। ऐसा समझा जाता है कि विक्रमशील के पण्डितों व महापण्डितों में सवसे प्रमुखों के चित्रों से महाविहार की दीवारों को सजाया जाता था।

यहाँ के अध्यक्ष पद पर आसीन होने वालों में सवसे प्रमुख दीपंकर श्रीज्ञान थे। राजा महीपाल के शासनकाल में उन्हें विक्रमशील महाविहार के प्रधान आचार्य (अध्यक्ष) के पद के लिए आमन्त्रित किया गया था। यहाँ आने से पहले उन्होंने ओदन्तपुर महाविहार की भी सेवा की थी, जहाँ कि उन्होंने ज्ञान अर्जित किया था। उनके अध्यक्ष वनने से महाविहार अत्यन्त समृद्ध हुआ। उनके निर्देश पर भिक्षुओं के लिए अधिक निवास की व्यवस्था की गई और अध्यापन व पठन-पाठन के लिए नये विपयों को लागू किया गया था। विहार में नये भिक्षुओं को वड़ी संख्या में आकर्पित कर उन्होंने उनके लिए अध्ययन के नये तरीके प्रारंभ किये। उनके जीवन

व कार्यों का सवसे सक्रिय व ऐतिहासिक भाग वह था जो उन्होंने तिव्वत में व्यतीत किया था।

राजकीय संरक्षण व समर्थन में दीपंकर श्रीज्ञान (अतिश/अतीश) ने अपने जीवन के अन्तिम 13 (तेरह) वर्ष इस प्रकार व्यतीत किये थे कि वौद्ध धर्म तिव्वत के राज धर्म के रूप में प्रतिष्ठापित हो पाया। उन्होंने पद्मसंभव द्वारा प्रारंभ किये गये तिव्वती वौद्धधर्म के पुरोहित-तंत्र के अनुक्रम को संगठित किया और उसे स्थायी रूप प्रदान किया। तिव्वती इतिहास के अनेकों पृष्ठ उनके जीवन-वृत्त व कार्यों से परिपूर्ण हैं। तिव्वत के लोगों के मस्तिष्क व कल्पना पर उनका इतना गहरा व स्थायी प्रभाव पड़ा कि उनको मँजुश्री का अवतार व देवत्व प्राप्त आदरणीय भगवान अतिश/अतीश माना गया और आज भी तिव्वती गुम्फाओं (मंदिरों) में उनकी पूजा होती है।

यह महान व प्रसिद्ध महाविहार तान्त्रिक बौद्ध धर्म के प्रचलन के काल में अस्तित्व में आया था जव कि तंत्र (गुह्य ज्ञान) व माया, ज्ञान के प्रिय विषय वन चुके थे। सुम्पा ने विक्रमशील की 48 (अड़तालीस) संस्थाओं का वर्णन किया है। ये संस्थायें नालन्दा के विभागों के समान ही कार्य करती थीं। यहाँ विद्याओं को पढ़ाने की व्यवस्था कैसी थी, इस विपय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। विक्रमशील महाविहार को तांत्रिक वौद्ध धर्म को जन्म देने व समृद्ध करने वाले केन्द्र के रूप में माना जाता है। अतः यह तांत्रिक वौद्ध धर्म की शिक्षा व संवर्धन का समानार्थक हो गया था। इस विश्वविद्यालय ने ज्ञान के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया था। आचार्य वुद्धज्ञानपद ने 'मंत्र-वज्रयान' की पढ़ाई विकसित की थी। इसकी पढ़ाई सिर्फ यहीं होती थी। उन्होंने 'मंत्र-वज्रयान' पर नौ पुस्तकें संस्कृत में लिखीं थीं। ये किताबें अनुपलब्ध हैं किन्तु इनके तिव्वती भाषा में उपलब्ध होने की पुष्टि हुई है। यह विश्वविद्यालय वौद्धों की 'वज्रयान' शाखा की पीठ था। यहाँ वौद्ध धर्म से जुड़े विषयों के अलावा तर्कशास्त्र, तंत्र-मंत्र, व्याकरण और पराविज्ञान इत्यादि की भी पढ़ाई होती थी। तिव्वती किंवदन्तियाँ यहाँ के पदों आदि का विवरण देने के अतिरिक्त यहाँ के अन्दरूनी प्रबन्ध पर अधिक प्रकाश नहीं डालती हैं। परन्तु इतना तो निश्चित है कि यहाँ ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा दी जाती थी। इस महाविहार में, जो कि धीरे-धीरे विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो गया था, कहा जाता है कि 6 (छः) महाविद्यालय सम्मिलित थे। यह न केवल तांत्रिक विद्या का वल्कि न्याय व व्याकरण का भी केंद्र बन गया था।

विक्रमशील विश्वविद्यालय (महाविहार) ने समय के साथ अपनी पाण्डुलिपियों

के कारण विशाल व उच्च श्रेणी का 'पुस्तक संग्रह' एकत्रित कर लिया था। इसमें संग्रहित तंत्र, व्याकरण, तत्व-ज्ञान व न्याय के अनेकों दुर्लभ ग्रंथ पढ़ाने के लिये प्रयुक्त होते थे, जो इसके विख्यात होने के कारणों में से एक था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि विक्रमशील का तिव्वत के साथ घनिष्ठ संवंध रहा है। तिव्वतियों का यह प्रिय विश्वविद्यालय था। तिव्वत से विद्वानों, सैलानियों और छात्रों का लगातार आना-जाना लगा रहता था। यहाँ के अनेक विद्वान तिब्बत गये थे और इसने भी तिव्वत के अनेकों विद्वानों को अपनी ओर आकर्षित किया था। तिव्वती आगम संग्रहों में काफी मात्रा में ऐसे ग्रंथ समाहित हैं, जो विक्रमशील के आचार्यों के नाम से जुड़े हैं। वे या तो तिव्वती में मूलरूप में रच गये थे या फिर संस्कृत से तिव्वती में अनुदित थे। इन आचार्य-लेखकों के नामों व जीवन-वृत्तों के विषय में तिव्वती इतिहास में कहीं-कहीं थोड़ा बहुत ही वर्णन मिल पाता है। उन में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं – बुद्धज्ञानपाद, वैरोचनरक्षित, जेतरि, प्रज्ञाकरमति, वगीश्वरकीर्ति, रत्नवज्र, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकरशान्ति, वीर्यसिंह, दीपंकर श्रीज्ञान, अभयाकरगुप्त, तथागत रक्षित, धर्मकीर्न्ति इत्यादि। इसके अतिरिक्त इस विश्वविद्यालय में अनेक देशों के छात्र भी अध्ययन करने आते थे। लंका, जावा, सुमात्रा के भी सैलानी व छात्र भी यहाँ आया करते थे।

महाविहार की विद्वत्परिपद पर पुस्तकालय का भार था, जो पुस्तक संग्रह के साथ-साथ प्रतिलिपि करने का कार्य भी करती थी। आचार्यों व शिष्यों को पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि करने का काम भी सौंपा जाता था। पुस्तकालय की फटी-पुरानी व नष्ट होती हुई पाण्डुलिपियों को नया करने तथा अपने संग्रह की पुस्तकों के लिए बाहरी लोगों, विशेषकर तिव्वतियों, की निरन्तर मांग को पूरा करने की संपूर्ण व्यवस्था भी विद्वत्परिपद ही करती थी। कंजुर व तंजुर में विक्रमशील में संस्कृत ग्रंथों के तिव्वती अनुवादों की तैयार की गई प्रतिलिपियों का ढेर इसके अच्छे साक्ष्य हैं। तिब्बती अनुवाद का कार्य न केवल तिव्वतियों के द्वारा बल्कि भारतीय विद्वानों के द्वारा भी किया जाता था। आचार्य दीपंकर ने विक्रमशील में वीर्यसिंह नामक एक विद्वान भिक्षु की सहायता से अपने कई ग्रंथों का तिब्वती में अनुवाद किया था। यों तो कुछ हद तक प्रतिलिपि का कार्य भिक्षु-आचार्यों व विद्यार्थियों द्वारा किया जाता था, परन्तु वढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए लिपिकों को भी लगाया जाता था।

जहाँ तक सामान्य प्रवन्ध का संवंध है, महाविहार का प्रवन्ध अध्यक्ष के हाथों में था। इतिहासकारों का मानना है कि उस समय भी आज की तरह आचार्यों की परिपद होती थी, जिसका काम अधीनस्थ शिक्षकों को निर्देश देना था। प्रबन्धक परिपद के अन्य सदस्यों के सुपुर्द विभिन्न कार्य दिये गये थे, जैसे श्रामणेरों की

प्रव्रज्या, नौकरों की निगरानी, ईंधन व भोजन का वितरण, विहार-विषयक कार्य-कलापों का निर्धारण इत्यादि। भिक्षु आचार्य बहुत साधारण जीवन व्यतीत करते थे। उनके जीवनयापन पर व्यय चार सामान्य भिक्षुओं के बराबर ही था। नालन्दा और विक्रमशील दोनों की देख रेख एक संयुक्त समिति करती थी। दोनों विश्वविद्यालय के शिक्षक एक दूसरे के यहाँ आते-जाते रहते थे। यों तो नालन्दा व विक्रमशील महाविहार दोनों ही राजाओं द्वारा दी गई भेंटों से चलते थे, परन्तु नालन्दा में संपूर्ण व्यवस्था प्रजातांत्रिक ढंग की थी। वहाँ अत्यधिक प्रसिद्ध विद्वान सामान्यतया महाविहार के अध्यक्ष चुने जाते थे और इस प्रकार विश्वविद्यालय राजकीय प्रभुत्व से मुक्त रहता था, जबकि विक्रमशील में राजा महाविहार के मुख्य अधिकारी होते थे। महाविहार का कार्य उनके आदेश से होता था। कुलपति होने के कारण वे विद्वानों को उपाधियाँ, प्रमाणपत्र व पदकों का वितरण भी करते थे। इस प्रकार इसे राजकीय महाविहार या विश्वविद्यालय माना जाता था।

जिस तरह इस विश्वविद्यालय की स्थापना और स्थल के बारे में मतभेद है, वैसे ही इसके नष्ट होने के मुद्दे पर भी है। एक कारण यह भी बताया जाता है कि महाविहार में आपसी संघर्ष ने इसे नष्ट कर दिया, क्योंकि यहाँ अनेक धर्मों के मानने वाले एकत्र होते गये थे। परन्तु इतिहासकारों के अनुसार महाविहार का पतन 13वीं (तेरहवीं) शताब्दी में हुआ, जब विदेशी आक्रमणकारियों ने गलती से इसे किला समझ नष्ट कर दिया था। आक्रमण के समय, उन विद्वानों को छोड़कर जो यहाँ से भाग गये और अपने साथ कुछ ग्रंथ भी ले गये, यहाँ कुछ भी नहीं बचा था। ऐसा कहा जाता है कि शेष भिक्षु मार डाले गये और पुस्तकें आग की भेंट चढ़ा दी गयीं थीं। यह पतन 1206 (बारह सौ छः) से 1235 (बारह सौ पैंतीस) ईसवी के मध्य ही हुआ होगा, क्योंकि 1206 में कश्मीरी विद्वान शाक्यश्रीभद्र के यहाँ आगमन के समय इसका अस्तित्व था, परन्तु 1235 में आने वाले तिब्बती यात्री धर्मस्वामी के समय तक यह नष्ट हो चुका था। इस प्रकार यह महाविहार अपनी मूल्यवान पाण्डुलिपियों के संग्रह के साथ-साथ नष्ट हो गया। अन्त में यही कहा जा सकता है कि विक्रमशील महाविहार विश्वविद्यालय की उन दोनों परिभाषाओं को चरितार्थ करता था कि विश्वविद्यालय ज्ञान का ऐसा स्थान होता है जहाँ विभिन्न स्थलों के अनजान लोग एक स्थान पर मिलते हैं और यह कि एक वास्तविक विश्वविद्यालय पुस्तकों का विशेष संग्रह होने के साथ ही साथ विविध विषयों के पठन-पाठन का भी विशेष केन्द्र होता है।

ओदन्तपुर

पाल राजाओं के काल का प्रसिद्ध बौद्ध ज्ञान का केन्द्र ओदन्तपुर वर्तमान बिहार-शरीफ के समीप स्थित था। नालन्दा महाविहार से इसकी दूरी सिर्फ 10 कि० मी० है। बिहार-प्रदेश के नालन्दा जिले में पाल वंश के संस्थापक गोपाल द्वारा ओदन्तपुर नगर बसाया गया था, जहाँ ओदन्तपुर महाविहार गुप्त काल के नालन्दा महाविहार के समान ही एक जगत प्रसिद्ध विद्या का केन्द्र बन गया था। गोपाल बंगाल की गद्दी पर 730 (सात सौ तीस) ईसवी के लगभग बैठा था। दूसरी ओर इसके ही नक्शे पर प्रथम तिब्बती बौद्ध विहार 749 (सात सौ उन्नचास) ईसवी में बनाया गया था। अतः ऐसा लगता है कि यह महाविहार अपने पूर्ण आकार व स्वरूप में निश्चय ही 8वीं (आठवीं) शताव्दी ईसवी के पूर्वार्ध में विद्यमान रहा होगा।

पाल काल के अन्य बौद्ध विद्या केन्द्रों के समान ही इसकी नियति के भी होने के कारण आज इसके कुछ भी अवशेष उपलब्ध नहीं हैं और इसके स्थान का निर्धारण भी कठिन है। ओदन्तपुर के स्थल निर्धारण के विषय में एस० सी० दास, तिब्बती इतिहासकार सुम्पा के वर्णनों के आधार पर ऐसा अनुमान लगाते हैं कि "यह आधुनिक बेहर के कस्बे के समीप एक पहाड़ी पर बना था।" तिब्बती वर्णनों के आधार पर प्रसिद्ध तिब्बती विद्वान गे-दुन्-छोस्-फल (dG-dun-chos-phal) इसके स्थल के विषय में जो जानकारी देते हैं, वह इस प्रकार है – "पटना से राजगीर रेलवे मार्ग पर बिहार-शरीफ नामक एक स्टेशन है। यदि स्टेशन पहुँचने पर पश्चिम की ओर देखा जाए, तो एक छोटा टीला दिखाई देगा। ऐसा कहा जाता है कि इसमें ओदन्तपुर विहार के अवशेष समाहित हैं। इस स्थल पर भारत का एक प्रसिद्ध विहार था और हमारा सम-ये (प्रथम तिब्वती बौद्ध विहार) इसके आधार पर ही बना था। यह सिद्ध करने के लिए कि यही वह स्थल था लोकोक्तियों के अतिरिक्त कोई अन्य साक्ष्य नहीं है। फिर भी, यह टीला ही वह स्थल है जहाँ महाविहार में नरोपा (तिब्बती यात्री) रुके थे और इसका नाम फुल्लहरि था। अपने नम्-थर् (rNam-thar) नामक ग्रंथ में चग्-लो-त्सा-ब (Chag-lo-tsa-ba) ने कहा है कि नालन्दा से उत्तर की ओर पैदल आधे दिन की यात्रा की दूरी पर एक पहाड़ी है, जहाँ फुल्लहरि था। नालन्दा

के उत्तर की ओर इसके अतिरिक्त और कोई पहाड़ी नहीं है। इसके अतिरिक्त पहाड़ी का आकार तिब्बत की ओर झुका है जो कि मिलारपा (तिब्वती विद्वान) द्वारा दिये गये वर्णनों से मेल खाता है।" उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त ओदन्तपुर के स्थल निर्धारण के विषय में अन्य सामग्री उपलब्ध नहीं होती है।

तिव्वती परंपराओं से ओदन्तपुर का क्रमवद्ध इतिहास पुनर्निर्मित नहीं किया जा सकता है। वे मात्र सूचनाओं के स्रोत हैं और किंवदन्तियों से परिपूर्ण हैं। हालांकि अनुमान लगाया जा सकता है कि इसकी स्थापना कव व कैसे हुई और इसका स्वरूप कैसा व महत्व कितना था। इस संवंध में तारानाथ लिखते हैं, "गोपाल व देवपाल के मध्य श्री ओदन्तपुर मंदिर का निर्माण हुआ। एक तीर्थिक योगी ने चरित्र की शुद्धि से मगध के समीप कहीं चमत्कारी शक्ति प्राप्त की थी। उसका नाम नारद था। वह शव साधना करना चाहता था। इस उद्देश्य के लिए उसे ऐसे सहायक की आवश्यकता थी जो शारीरिक दृष्टि से वलवान, रोगमुक्त, वीरता के नौ लक्षणों से युक्त, सत्यवादी, वौद्धिक रूप से तेज, ईमानदार और ज्ञान की सभी शाखाओं व सभी कलाओं में निपुण हो। उसको एक वौद्ध उपासक के अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य व्यक्ति नहीं मिला। अतः उसने उपासक से शव-साधना में सहायता करने का निवेदन किया। उपासक ने कहा 'मैं एक तीर्थिक का सहायक नहीं बन सकता', इस पर नारद ने कहा 'तुम्हें तीर्थिक बनने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त मेरी सहायता करने से तुम्हें अनन्त धन प्राप्त होगा। उसकी सहायता से तुम अपने धर्म का प्रचार-प्रसार कर सकते हो'। यह सुन उपासक बोला 'तब मैं जाकर अपने गुरू से पूछ लूँ।' वह अपने गुरू के पास गया, उन्हें हर बात बता कर उनकी आज्ञा प्राप्त की और नारद का सहायक बन गया। जव साधना अपनी पूर्णता के समीप पहुँचने लगी, तो नारद ने कहा 'जैसे ही शव अपनी जीभ वाहर निकाले, तुम उसे अवश्य पकड़ लेना। यदि पहली बार बाहर निकलने पर ही तुम जीभ पकड़ लोगे, तो तुम्हें महा-सिद्धि प्राप्त होगी। दूसरी वार में पकड़ने पर मध्यम-सिद्धि और तीसरी या अन्तिम बार में पकड़ने पर लघु-सिद्धि प्राप्त होगी। यदि तुम जीभ को तीसरी बार में भी पकड़ने में सफल नहीं हो पाओगे, तो वह (शव) सबसे पहले हम दोनों का भक्षण करेगा और बाद में पूर्ण विश्व को रिक्त कर देगा।' उपासक जीभ को पहली व दूसरी बार में पकड़ने में असफल रहा। तब वह अपने दाँतों से उसकी जीभ पकड़ने के लिए तैयार होकर शव के मुँह के समीप मुँह ले जाकर बैठ गया और तीसरी वार जैसे ही शव ने अपनी जीभ निकाली, उसने उसे अपने दाँतों से पकड़ लिया। तब जीभ तलवार में वदल गयी और शव स्वर्ण में परिवर्तित हो गया। उपासक ने तलवार को पकड़े हुए शव का एक चक्कर लगाया। वह हाथ में तलवार सहित आसमान में उड़ने लगा। तीर्थिक ने कहा 'मैंने यह जगत के लिए किया है

अतः तलवार मुझे दे दो।' उपासक बोला 'हाँ, मैं कुछ सैर-सपाटा कर लूँ, तत्पश्चात तुम्हें तलवार दे दूँगा।' वह सुमेरू के शिखर पर उड़ कर गया, उसके चार द्वीपों तथा उपद्वीपों सहित उसका चक्कर लगाया और क्षणमात्र में ही वापस आकर तलवार तीर्थिक को दे दी। तीर्थिक ने कहा, 'तुम स्वर्ण शव को ले लो। तुम इसमें से तब तक स्वर्ण ले सकोगे, जब तक कि इसकी हड्डियों का स्पर्श न करोगे। परन्तु स्वर्ण को गलत उद्देश्य के लिये जैसे सुरा-पान, पर-स्त्री गमन इत्यादि पर कभी व्यय न करना। इसे तुम अपने लिये और पवित्र कार्यों के लिए प्रयोग कर सकते हो। यदि तुम ऐसा करोगे, तो शरीर का कोई भी अंग जो तुम दिन के समय काटोगे, वह रात में पुनः पूर्ण हो जायेगा।' ऐसा कह कर वह नारद तलवार सहित स्वर्ग को उड़ गया। उसके बाद उस उपासक ने वेताल (शव) के स्वर्ण से ओदन्तपुर का विराट मंदिर बनवाया। ओदन्त का अर्थ है ऊपर उड़ना (Flying over), क्योंकि उपासक आसमान में सुमेरू व उसके चारों द्वीपों के ऊपर उड़ा और उनको अपनी आँखों से देखा, अतः उसने इनके आधार पर ही मंदिर बनवाया। इसीलिए इसका यह नाम पड़ा और उपासक का नाम हुआ उन्न उपासक। इस मंदिर को किसी राजा या मंत्री ने नहीं बनवाया, बल्कि इस मंदिर व इसकी प्रतिमाओं के निर्माण का कार्य करने वाले कारीगरों व कलाकारों के भोजन व मजदूरी आदि का भुगतान वेताल के शरीर के स्वर्ण से हुआ। उपासक ने अपनी मृत्यु के समय तक धर्म के अनुसार कार्य किया। यह जानकर कि उसकी मृत्यु के उपरान्त उस स्वर्ण का उपयोग कोई अन्य व्यक्ति नहीं कर सकेगा, उसने इस प्रार्थना के साथ कि वह भविष्य में सभी प्राणियों के लिये लाभकारी हो उस शव को जमीन में गाड़ दिया और मंदिर (ओदन्तपुर) देवपाल को दे दिया।"

ओदन्तपुर की स्थापना के विषय में सुम्पा (तिब्वती इतिहासकार) का वर्णन भी इसी किंवदन्ती पर आधारित है। वे लिखते हैं "उस समय (गोपाल व देवपाल के राज्य काल के मध्य) नारद नामक एक तांत्रिक शव-साधना द्वारा तलवार की सिद्धि प्राप्त करना चाहता था। वह उन्न उपासक से मिला, उससे बात-चीत की और साधना का प्रबंध किया। वे शव को स्वर्ग में परिवर्तित कर सके। उस स्वर्ण से उन्न ने सुमेरू व उसके चारों द्वीपों के आधार पर नालन्दा के समीप ओदन्तपुर बनवाया था।"

उपरोक्त वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि ओदन्तपुर न तो किसी राजा द्वारा और न ही किसी मंत्री द्वारा बनवाया गया था, बल्कि इसके लिए आवश्यक स्वर्ण चमत्कारी ढंग से एक बौद्ध उपासक द्वारा प्राप्त किया गया था, जिसने अपनी मृत्यु के समय उस विहार को राजा देवपाल को दे दिया। परन्तु यह अवधारणा बू-स्तोन

नामक तिब्बती इतिहासकार की मान्यता के पूर्णतया प्रतिकूल है। उनके अनुसार ओदन्तपुर महाविहार पाल राजा धर्मपाल द्वारा बनवाया गया था।

बू-स्तोन द्वारा वर्णित किंवदन्ती इस प्रकार है – "उस समय जब शुभ मुहूर्त में (बच्चे अर्थात धर्मपाल के लिए) धार्मिक अनुष्ठान किये गये तो एक नाग का फन गर्व से खड़ा हुआ। राजा (गोपाल) ने कुपित हो उसे काटने का निर्णय किया। परन्तु उन्होंने यहाँ नागों के लक्षण वाली एक मुद्रिका देखी। इस पर उन्होंने पूजा प्रारंभ कर दी और तत्पश्चात स्वयं को बच्चे (धर्मपाल) की शिक्षा में पूर्णतः लगा दिया। बड़े होने पर धर्मपाल ने एक ऐसा मंदिर बनवाने की इच्छा की, जो सबसे भव्य हो। इस संबंध में ज्योतिषियों से पूछने पर उन्होंने कहा 'ब्राह्मणों व साधुओं से कपास लेकर बत्ती बनाकर, राजाओं व व्यापारियों से तेल लेकर, एक जलते हुए दीपक को संरक्षक देवता के सम्मुख रखना आवश्यक है। यदि तुम प्रार्थना करोगे और नाग उस दीपक को दूर फेंक दे, तो जहाँ वह गिरे उसी स्थल पर मंदिर बनवाना चाहिए।' ऐसा ही किया गया। परन्तु अचानक वहाँ एक डोम (काला) कौवा प्रकट हुआ, जिसने दीपक एक झील में फेंक दिया। युवक राजा अत्यन्त दुःखी हुआ। परन्तु रात में पाँच फनों-वाला नागों का राजा उसके पास आया और बोला 'मैं तुम्हारा पिता हूँ। मैं इस झील को सुखा दूँगा। तुम इसकी जगह पर अपना मंदिर बनवा सकते हो। (ऐसा होने के लिए) तुम सात हफ्तों तक अनुष्ठान अवश्य कराओ।' ऐसा ही किया गया। 21वें (इक्कीसवें) दिन झील सूख गयी और (उसकी जगह पर) ओदन्तपुर विहार बनवाया गया।"

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि तिब्बत में 749 ईसवी में बना प्रथम बौद्ध विहार सम-ये (संस्कृत-अचिन्त्य विहार) ओदन्तपुर विहार की तिब्बती प्रतिकृति है। इसके विशाल मूल वास्तुशिल्प के नक्शे का अनुमान सम-ये के आधार पर लगाया जा सकता है। परन्तु सम-ये विहार स्वयं ही शताब्दियों पूर्व खण्डहर में परिवर्तित हो चुका है। आज वहाँ उसका वह ढाँचा कुछ ऐसा उपलब्ध नहीं है, जिससे उसके स्वरूप का अनुमान लगाया जा सके। परन्तु 1874 (एक हजार आठ सौ चौहत्तर) ईसवी में तिब्बत की खोज में लगे वाड्डेल के सहयोगी पण्डित नैन सिंह जब इसके खांडहरों में कुछ समय रहे, तो मूल इमारत का कुछ भाग विद्यमान था। उनके (वाड्डेल के) वर्णनानुसार "महाविहार, जिसमें एक विशाल मंदिर, चार बड़े महाविद्यालय और अनेकों अन्य इमारतें समाहित हैं, एक ऊँची वृत्ताकार दीवार से घिरा है, जिसके प्रवेश-द्वार प्रमुख दिशाओं की ओर हैं। दीवार के शीर्ष के साथ-साथ ईंटों के अनेक व्रतानुष्ठित चैत्य हैं, जिनको खोजकर्त्ता नैन सिंह ने 1030 (एक हजार तीस) गिना है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्राचीन भारतीय अक्षरों के अभिलेखों से ढँके हैं।

अहाते के मध्य में सभागार है, जिसके साथ विकिरणकारी विहार है, जो कि उन चार चैत्यों तक जाता है जिनके मुख मंदिर की चार दिशाओं की ओर समान दूरी पर हैं। इस खोजकर्त्ता ने कहा कि, 'इन मंदिरों में समाहित प्रतिमायें शुद्ध सोने की हैं और मूल्यवान वस्त्रों व गहनों (रत्नों) से भलीभांति अलंकृत हैं। बत्तीदान व पात्र लगभग सभी सोने या चांदी के बने हैं।' मंदिर की दीवारों पर चीनी या प्राचीन भारतीय अक्षरों के अनेकों विशाल अभिलेख हैं। मुख्य मंदिर के प्रकोष्ठ में, द्वार के बाँयी ओर, सचित्र जीवन चक्र का विशाल प्रतिरूप है।"

तिब्बती परंपरा में ओदन्तपुर महाविहार के साथ कुछ महान व प्रसिद्ध विद्वानों के नाम जुड़े हैं। परन्तु उनमें दीपंकर श्रीज्ञान ही प्रमुख थे। उन्होंने यहाँ एक हीनयानी आचार्य धर्मरक्षित से दो वर्षों तक शिक्षा ग्रहण की थी। उनको ओदन्तपुर के महासांघिक आचार्य शीलरक्षित ने 19 वर्ष की उम्र में प्रव्रज्या दी थी। महायान संप्रदाय के महान ग्रंथकार अभयाकर गुप्त ने ओदन्तपुर महाविहार में अनेकों पुस्तकों का तिब्बती में अनुवाद किया था। एक तिब्बती किंवदन्ती में ओदन्तपुर महाविहार में आवासिक भिक्षुओं व श्रामणेरों की संख्या 12000 (बारह हजार) दी गई है, जिससे प्रतीत होता है कि यह एक विशाल व समृद्ध केन्द्र था।

इस प्रकार इतना तो स्पष्ट है ही कि अपने संस्थापक व उनके कुछ उत्तराधिकारियों के काल में यह प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ और फला-फूला था। इस महाविहार में बौद्ध व ब्राह्मण ग्रंथों से समृद्ध पुस्तकालय था। परन्तु यह जान कर अत्यन्त दुख होता है कि यह केन्द्र अधिक समय तक अपनी महत्ता बनाये न रख सका और साढ़े चार शताब्दियों में ही पतनोन्मुख हो गया। इस बात का स्पष्ट आभास नग-त्सो (Nag-tsho) द्वारा अपने गुरू दीपंकर श्रीज्ञान (अतिश) की स्मृति में रचे एक '80 (अस्सी) श्लोकों के स्तोत्र' से होता है। वे लिखते हैं कि ग्यारहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते 'ओदन्तपुर अपने 53 (तिरपन) भिक्षुओं सहित' पतनोन्मुख हो चुका था।

इस महाविहार को अन्तिम ठेस तब लगी, जब इसे किला समझकर इस पर विदेशी आक्रमण हुआ। 1175 (ग्याहर सौ पचहत्तर) ईसवी में गज़नी के सुल्तान गियास-उद-दीन मुहम्मद ने भारत पर आक्रमण किया था। उनके सबसे विश्वस्त तुर्की अफसर कुतब-उद-दीन ऐबक ने विजय का झंडा और आगे तक बढ़ाया था। ऐबक के अधीनस्थ अफसर इख्तियार-उद-दीन मुहम्मद ने, जो खल्ज के तुर्की कबीले का था और बख्तयार का पुत्र था, अपने कबीले के अन्य लोगों को मिलाकर शक्ति अर्जन करके बिहार पर आक्रमण किया और उसकी तत्कालीन राजधानी उदन्तपुर (ओदन्तपुर) पर कब्जा कर लिया।

काफी समय बाद 1243 (बारह सौ तैंतालिस) ईसवी में फारसी इतिहासकार मिंहाज ने इस आक्रमण की कहानी एक चश्मदीद गवाह से सुन कर अपनी पुस्तक तबकत-ई-नसीरी में दी है। वह चश्मदीद गवाह समसुद्दीन अपने भाई निजामुद्दीन सहित उस आक्रमणकारी सेना में सक्रिय भाग ले रहा था, जिसने यहाँ आक्रमण किया था। ये दोनों भाई 1243 (बारह सौ तैंतालिस) ईसवी में लखनौती (अर्थात उत्तरी बंगाल के मालदा जिले के गौड़ की लक्षणावती) में मिंहाज से मिले थे और उसे निम्नलिखित कथा सुनाई थी। "मुहम्मद इख्तियार किले के प्रवेश द्वार पर केवल दो सौ घोड़ों के साथ गया और शत्रुओं की अनभिज्ञता में लड़ाई प्रारंभ कर दी। वह विशेष शक्ति व साहस के साथ किले के प्रवेश द्वार से घुसा और उस स्थल पर कब्जा कर लिया। विजेता के हाथों वहाँ बड़े पैमाने पर विध्वंस हुआ। स्थल के अधिकतर निवासी सिर मुँडे ब्राह्मण (बौद्ध भिक्षु) थे। वे सभी मौत के घाट उतार दिये गये। वहाँ बड़ी संख्या में पुस्तकें प्राप्त हुईं। उसने उनको देखा तो ऐसे कुछ आदमियों को बुलाना चाहा, जो उनकी विषय-वस्तु को स्पष्ट कर सकें। परन्तु सभी लोग मारे जा चुके थे। बाद में पता चला कि पूर्ण किला व नगर एक मदरसा था। हिन्दी (हिन्दुस्तानी) भाषा में विहार का अर्थ महाविद्यालय होता है।"

इस प्रकार बौद्ध-विद्या का यह महत्वपूर्ण केन्द्र, जो अपना महत्व पहले ही खो चुका था, पूर्णतया नष्ट हो गया। यदि विजेता द्वारा विहार के पुस्तकालय के मलबे से ये पुस्तकें उठा कर दिल्ली में अपने सुल्तान को दे दी जातीं, तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि उनको कितना महत्व मिलता और आधुनिक साहित्य कितना धनी होता। परन्तु ऐसा लगता है कि वह सारा साहित्य या तो जला दिया गया या कूड़े के ढेर में फेंक दिया गया। आज ओदन्तपुर महाविहार का नामो-निशान तक नहीं है। बिहार-शरीफ में बसे आधुनिक कस्बे के नीचे एक समय का इतना महत्वपूर्ण महाविहार जो अपने समय में बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का महान केन्द्र था, आज विलीन हो गया है, जिसके अवशेषों तक को प्राप्त करना अब लगभग असंभव है।

जगद्दल

प्राचीन बंगाल में पाल वंशीय राजाओं द्वारा स्थापित वौद्ध ज्ञान का अन्तिम महान केन्द्र जगद्दल का भव्य महाविहार नालन्दा, विक्रमशील, ओदन्तपुर आदि जैसे विश्वविद्यालयी शिक्षा के केन्द्रों के क्रम की अन्तिम कड़ी था। यह महाविहार पालवंश के राजा रामपाल द्वारा स्थापित किया गया था, जिनका शासनकाल 1077 (एक हजार सतहत्तर) से 1120 (एक हजार एक सौ बीस) ईसवी के बीच था। उस समय पाल राज्य पतन के कगार पर था। अन्दरूनी कलह व बाहरी आक्रमणों के कारण वह धीरे-धीरे घटता हुआ बंगाल के उत्तरी क्षेत्र में सिमट कर रह गया था। ऐतिहासिक महाकाव्य रामचरित से ज्ञात होता है कि तत्कालीन पाल राज्य वरेन्द्र (या वरेन्द्री) के नाम से जाना जाता था और रामपाल द्वारा बसायी गई उसकी राजधानी रामावती कहलाती थी। जगद्दल महाविहार इसी क्षेत्र में स्थित था।

जगद्दल महाविहार का भी स्थल-निर्धारण विवाद से परे नहीं है। रामपाल के दरबारी कवि सन्ध्याकर नन्दी ने चार सर्ग वाले महाकाव्य रामचरित की रचना की थी (जो कि संस्कृत काव्य साहित्य में राघव-पांडवीय जैसे महाकाव्यों के लिखने की विशेष शैली के अनुसार रचा गया था)। इसके प्रत्येक श्लोक में सीधे क्रम से तो रामायण में वर्णित रामकथा है, पर प्रतिलोम क्रम से (उल्टे क्रम से) कवि के संरक्षक राजा रामपाल की जीवन-कथा है, जो कि वास्तव में महाकाव्य का अभीष्ट विषय है। वरेन्द्र में गंगा व करतोया (वंगाली उच्चारण करोतोआ) नदियों के किनारे रामपाल द्वारा स्थापित रामावती नगर का वर्णन करते हुए कवि तीसरे सर्ग में निम्नलिखित शब्दों में प्रसिद्ध जगद्दल महाविहार का वर्णन करता है।

"(वरेन्द्री)– जहाँ मन्द्र प्रकार के हाथी आयातित हैं (इसके जंगलों में) – जहाँ, जगद्दल के महाविहार में, सभी के लिए प्रेम संचित था – जिस देश ने (अपने हृदय में) लोकेश (वोधिसत्व) की प्रतिमा धारण की हुई थी– तथा जिसकी महान ख्याति अव भी दिनों दिन बढ़ रही थी (महाविहारों के) महान (अध्यक्ष) तथा तारा (की प्रतिमा) (की उपस्थिति) से।"

उपरोक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि रामपाल के समय में वरेन्द्री में बौद्ध धर्म प्रचलित था और उसका केन्द्र जगद्दल महाविहार था। इस संबंध में यह बात निश्चित नहीं है कि यह महाविहार रामपाल की राजधानी रामावती में ही स्थित था या फिर उसके बाहर, हालांकि पहले विकल्प के सच होने की संभावना ज्यादा है। आधुनिक विद्वानों में इसके स्थल-निर्धारण के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। एच० पी० शास्त्री इसको पूर्वी बंगाल में स्थित मानते हैं और ऐसी राय देते हैं कि यह रामावती में स्थित नहीं था। एन० एन० दासगुप्ता कहते हैं कि यह गंगा व करतोया नदियों के संगम पर स्थित था। परन्तु तिब्बती स्रोत निर्देश करते हैं कि यह विहार उड़ीसा में स्थित था। उनके अनुसार विहार व बंगाल में आक्रमणकारियों द्वारा विहारों के ध्वंस्त कर दिये जाने पर यह अधिसंख्य (काफी बड़ी संख्या में) बौद्ध व तान्त्रिक सिद्धों का शरण-स्थल था। ऐसा भी वर्णन मिलता है कि जब 1202 (एक हजार दो सौ दो) ईसवी में बख्तयार खिलजी द्वारा ओदन्तपुर महाविहार नष्ट हुआ, तो उसके अध्यक्ष शाक्य श्रीभद्र (काश्मीर-पैंडलपातिक) वहाँ से भागे और उड़ीसा के जगद्दल विहार में शरण ली। राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार शाक्यश्रीभद्र विक्रमशील महाविहार के अन्तिम धर्माधिकारी बने और जब यह संस्था आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त की गई, तो वे वहाँ से भाग कर जगद्दल चले आये और यहाँ से कुछ समय पश्चात विभूतिचन्द्र व दानशील सहित नेपाल और तिब्बत गये। कवि कंकन मुकुन्दराम (1577-78 ईसवी) की बंगाली चण्डी रचना में यह सुझाया गया है कि जगद्दल त्रिवेणी व सप्तग्राम के दक्षिण की ओर स्थित था। उत्तरी बंगाल (प्राचीन वरेन्द्री, अब पूर्वी पाकिस्तान में) में बोगरा जिले में जगद्दल नामक एक गाँव है जहाँ एक टीला है, जिसकी अभी खुदाई नहीं हुई है। संभवतः यहाँ के उत्खनन से प्राचीन जगद्दल विहार के अवशेष और अन्य महत्वपूर्ण जानकारियाँ उपलब्ध हो सकें।

तान्त्रिक बौद्धधर्म के विद्वानों का मुख्य आश्रय-स्थल होने के कारण परवर्ती मध्य-काल में जगद्दल महाविहार, ज्ञान का महान केन्द्र बन गया था। यहाँ एक अत्यन्त समृद्ध पुस्तकालय था, जिसका लाभ अनेकों आचार्यों, विद्वानों व विदेशी छात्रों द्वारा समान रूप से उठाया जाता था। इस महाविहार (विश्वविद्यालय) के विख्यात आचार्यों के नामों व उनकी रचनाओं से कोई भी अनुमान लगा सकता है कि जगद्दल का पुस्तकालय बौद्ध ज्ञान का महत्पूर्ण केन्द्र रहा होगा। यहाँ के विद्वानों द्वारा रचित ग्रंथ मुख्यतः तान्त्रिक विषयों के थे। इस महाविहार का संपर्क बौद्ध-धर्म के तिब्बती केन्द्रों से भी था, जिसका अनुमान उन अनेकों लोचवों (तिब्बती विद्वान अनुवादक) की लंबी सूची से लगता है जिन्होंने विविध संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती में अनुवाद किया था। हमें कंजूर व तंजूर में बहुत बड़ी संख्या में ऐसे ग्रंथों के बारे

में जानकारी मिलती है, जिनके विषय में माना जाता है कि जगद्दल महाविहार में या तो उनकी मूल रचना हुई, या संस्कृत से तिब्बती में अनुदित हुये या फिर यहीं पर उनकी प्रतिलिपि तैयार की गई।

पाल-कालीन अन्य महाविहारों के समान ही यह महाविहार भी पूर्णतया नष्ट हो गया था। इसके अवशेषों के प्राप्त न होने से इसके क्रमिक इतिहास व इसकी उपलब्धियों को जानना संभव नहीं है। इसके विषय में जो थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है, वह तिब्बती किंवदन्तियों में वर्णित शाक्यश्रीभद्र के जीवन वृत्तान्त से मिलती है। उससे इस महाविहार के अन्तिम दिनों के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है, साथ ही साथ यहाँ के अन्य प्रसिद्ध विद्वानों के कृतित्व के विषय में भी ज्ञात होता है।

कश्मीरी भिक्षु शाक्यश्रीभद्र कश्मीर से मगध के बौद्ध विद्या केन्द्रों को देखने आये थे, परन्तु ओदन्तपुर व विक्रमशील महाविहारों को नष्ट पा कर वे पूर्व की ओर और आगे बढ़ते गये और अन्त में जगद्दल पहुँच गये, जो कि उस समय तक बचा हुआ था। यहीं उनको शरण मिली, परन्तु अधिक समय तक नहीं बल्कि सिर्फ तीन वर्ष के लिए। जो सर्वनाश दो प्राचीन महाविहारों पर पहले ही छा चुका था, वह जगद्दल पर भी आसन्न था। शाक्यश्रीभद्र यहाँ के अपने संक्षिप्त प्रवास में शुभाकरगुप्त नामक आचार्य से मिले, जो प्रसिद्ध विद्वान भिक्षु थे। उनके द्वारा रचित एक तान्त्रिक ग्रंथ की संस्कृत टीका का तिब्बती अनुवाद तंजूर में संग्रहित है। शाक्य श्रीभद्र को यहाँ दो प्रसिद्ध शिष्य मिले, जो विद्वान थे। उनके नाम विभूतिचन्द्र व दानशील थे। वे कई ग्रंथों के रचयिता थे, जिनकी मूल पाण्डुलिपियाँ तो लुप्त हो चुकी हैं, परन्तु कंजूर व तंजूर में उनके तिब्बती अनुवाद विद्यमान हैं।

जगद्दल के आचार्य शाक्य श्रीभद्र के दोनों विद्वान शिष्यों के जीवन-वृत्त के विषय में बहुत कम ज्ञात हो पाया है। वे दोनों द्विभाषी विद्वान थे, अर्थात संस्कृत व तिब्वती दोनों भाषाओं में प्रवीण थे। तंजूर ग्रंथों में दोनों को ही पंडित, महापंडित, उपाध्याय, आचार्य की उपाधियों से संवोधित किया गया है। वे तांत्रिक बौद्ध थे। उनके लगभग सभी ग्रन्थ बौद्ध धर्म के तांत्रिक संप्रदाय से संवंधित थे। दीपंकर श्रीज्ञान के बाद शाक्य श्रीभद्र व उनके दो शिष्य विभूतिचन्द्र व दानशील ही ऐसे विद्वान थे, जिन्होंने तिब्वत में तांत्रिक बौद्ध-धर्म की मशाल को जलाये रखा। कंजूर व तंजूर के तांत्रिक साहित्य का परवर्ती स्तर इन विद्वानों की मेहनत का ही परिणाम है।

तिब्वती परंपरानुसार विभूतिचन्द्र प्रारंभ में एक राजकुमार थे, जिन्होंने भिक्षु वनने के लिए राजपद का त्याग कर दिया था। तिब्वती में सुरक्षित उनके ग्रंथ

विभिन्न प्रकार के हैं, जैसे मूल-लेखन, अनुवाद, टीकायें व संशोधन। उनमें शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार की एक टीका और अभयाकर गुप्त के कुछ ग्रंथों का तिब्बती अनुवाद भी समाहित है। दानशील ने भी बौद्ध धर्म के लगभग 60 (साठ) तांत्रिक ग्रंथों का तिब्बती में अनुवाद किया था। तिब्बती पिटकों में संग्रहित विभूतिचन्द्र व दानशील के अनुदित ग्रंथों में इस बात का भेद करना बड़ा कठिन है कि उनमें से कौन भारत में लिखे गये और कौन नेपाल या तिब्बत में।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शाक्यश्रीभद्र, अपने जगद्दल आगमन के तीन वर्षों के भीतर ही विभूतिचन्द्र व दानशील सहित नेपाल चले गये और वहाँ से तिब्बत पहुँच गये। उस समय भिक्षुओं की अवस्था ठीक नहीं थी। इस क्षेत्र की उस समय की स्थिति के विषय में एक तिब्बती इतिहासकार ने इस प्रकार का संक्षिप्त विवरण दिया है, "लवंग सेन (सेन वंश का प्रथम शासक, किन्तु अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार सेन वंश के प्रथम शासक का नाम बल्लाल सेन था) के शासन काल में कुछ भिक्षुओं को दूतों के रूप में गंगा व जमुना के मध्य के क्षेत्र में भेजा गया (जहाँ तुर्क रहते थे)। तुर्क इकट्ठे हो गये। उन्होंने ओदन्तपुर व विक्रमशील को नष्ट कर दिया और अनेकों भिक्षुओं को मार डाला। उस समय शाक्यश्रीभद्र उड़ीसा की ओर भाग लिये। इस घटना के तीन वर्षों के भीतर, वे तिब्वत पहुँच गये और वहाँ अनेकों भिक्षुओं को प्रव्रज्जा दी। अन्य भिक्षु विभिन्न जगहों को भाग गये। तिब्बती किंवदन्तियों में उन स्थलों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं – आरर्वन (आर्आचन), मुनाद (बर्मा, म्यानमार) और कम्बोज (कम्बोडिया)। इस प्रकार मगध में बौद्ध धर्म समाप्त हो गया।"

इतना सब होते हुए भी यहाँ के विद्वानों ने ज्ञान की धारा को रुकने नहीं दिया था। उपरोक्त विद्वानों के अतिरिक्त, जिन्होंने अधिकतर तंत्र पर ही कार्य किया, जगद्दल के महाविहार में मोक्षाकरगुप्त जैसे विद्वान भी हुए थे, जिन्होंने अपने को महायान विद्या के प्रमुख विषय, हेतुविधा (तर्क विज्ञान) के अध्ययन में पूर्णतः रत कर लिया था। वे तांत्रिक न होकर, प्राचीन परंपरा के विद्वान थे। उनका तर्कभाषा नामक ग्रंथ भी उसी वक्तव्य (सूत्र) से समाप्त होता है, जिसको प्राचीन महायानी विद्वान अपने ग्रंथों की समाप्ति पर उपयोग में लाते थे। वह सूत्र इस प्रकार है, "इस तर्कभाषा नामक ग्रन्थ के लिखने से मैंने जो भी पुण्य प्राप्त किये हों, उस (पुण्य) से जगत बुद्धत्व की ओर बढ़े"।

इस ग्रंथ की रचना का उद्देश्य था धर्मकीर्ति के सिद्धान्तों को सीखने वाले

नौसिखियों को तर्क की तकनीक को स्पष्टता से समझाना। इसमें तीन अध्याय हैं– प्रमाण, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। इस ग्रंथ का तिब्वती अनुवाद तंजूर में सग्रंहित है, परन्तु वहाँ वह किसी ज्ञानश्री के नाम से ग्रन्थ के रूप में उल्लिखित है। परन्तु पत्तन नामक स्थान में एक जैन पाण्डुलिपि पुस्तकालय में इसकी मूल पाण्डुलिपि के मिलने से इसके रचियता के विषय में अब कोई संदेह नहीं रहा है। ग्रंथ की पुष्पिका इस प्रकार है–

"इति श्रीमद्-राज-जगद्दल-विहार के महा-यति श्रीमत् भिक्षु मोक्षाकरगुप्त द्वारा रचित तर्कभाषा का परार्थानुमान नामक तृतीय परिच्छेद समाप्त होता है।"

इसी प्रकार जगद्दल महाविहार में ही धर्माकर नामक विद्वान ने कृष्ण रचित संवर व्याख्या का अनुवाद किया था। जगद्दल महाविहार का इतिहास 13वीं (तेरहवीं) शताब्दी तक आते-आते पूर्णतः समाप्त हो गया और संभवतः महाविहार पूरी तरह छोड़ दिया गया। परन्तु ऐसा लगता है कि मुस्लिम विजय के उपरान्त रामावती नगर पुनः बस गया और कम से कम अगली तीन या चार शताब्दियों तक अस्तित्व में रहा। रामावती के अस्तित्व के विषय में अकबर (1556-1605) के काल की रचना आईने-ए-अकबरी में रामाउती नाम से इसका वर्णन है।

दो-तीन शताब्दियों तक बौद्ध ज्ञान की सेवा कर यह महाविहार समय के अंधेरे में खो गया। इसका महत्व यहाँ के बौद्ध विद्धानों द्वारा रचित ग्रंथों के कारण ही शेष रह गया है। तिब्वती साहित्य में उपलब्ध इन ग्रंथों से तिब्बत के बौद्ध विद्वान अपने ज्ञान में वृद्धि करते हैं और उन पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं।

तक्षशिला

प्राचीन भारत के प्रमुख नगरों में गिना जाने वाला, ज्ञान का विश्व प्रसिद्ध केन्द्र तक्षशिला, पूर्वी गांधार की राजधानी था। प्राचीन गांधार प्रदेश के दो प्रमुख नगर थे –पश्चिमी गांधार की राजधानी पुष्कलावती (चारसद्दा) और सिंधु नदी के पूर्व में पूर्वी गांधार की राजधानी तक्षशिला। प्राचीन तक्षशिला की बस्तियाँ वर्तमान में तक्सिला के नाम से जानी जाती हैं। तक्षशिला के बौद्ध स्मारकों के अवशेप (खण्डहर) सर्वप्रथम कनिंघम द्वारा रावलपिण्डी से उत्तर-पश्चिम में 32 किलोमीटर दूर शाहढेरी के निकट पहचाने गये थे। तक्षशिला ही प्राचीन भारत का एक ऐसा स्थल है जहाँ उत्खनन-कार्य संभवतः सबसे ज्यादा हुआ है। करीव आठ दशक पहले जॉन मार्शल के नेतृत्व में यहाँ बीस से भी अधिक साल तक खुदाई का कार्य जारी रहा। तक्षशिला के पाकिस्तान में चले जाने के वाद भी यहाँ पुरातात्विक अन्वेषण होता रहा है। तक्षशिला 17.6 कि० मी० लंवी और 8 कि० मी० चौड़ी घाटी में बसा था। तक्षशिला के खण्डहरों में तीन नगर-स्थल समाहित हैं – भिर टीला, सिर्कप तथा सिरसुख। इनके अतिरिक्त अनेकों बौद्ध स्मारक पूरी घाटी में फैले हुए हैं जिनमें से कुछ नगर के समीप हैं। विभिन्न आकार व महत्व के ये वौद्ध स्मारक स्वयं में परिपूर्ण इकाई थे और मुख्यतः स्तूप, विहार जैसी आवश्यक इमारतों को समाहित करते थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण धर्मराजिक स्तूप समूह है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमुख अवशेष पिप्पल, गिरि, कलवन, मोहरा-मोरदु, जौलिअन व भमल में हैं। धर्मराजिक स्तूप को छोड़ शेष अन्य स्मारक पहली से पाँचवी शताब्दी ईसवी के मध्य से संवंधित हैं।

सिंधु और झेलम नदियों के मध्य मुरी पहाड़ियों की तलहटी में बसा यह नगर प्राचीन काल में तीन व्यापार-मार्गो का संगम था। पहला मार्ग पाटलिपुत्र से मौर्य साम्राज्य के उत्तर-पूर्वी भाग तक जाता था। इस मार्ग का वर्णन मेगास्थनीज (Megasthenes) ने किया है। दूसरा मार्ग पश्चिमी एशिया से वाया वैक्ट्रिया, कापिशी और पुष्कलावती होते हुए सिंध को ओहिन्द से पार करते हुए तक्षशिला तक आता था। तीसरा मार्ग कशमीर व मध्य एशिया से श्रीनगर घाटी व बारामुला से मान्सेहर होते हुए हारिपुर घाटी तक जाता था। इन तीनों व्यापार मार्गों से भारत और मध्य व पश्चिमी एशिया के बीच आने जाने वालों का ताँता लगा रहता था।

इस नगर की समृद्धि में इसकी भौगोलिक स्थिति का अत्यन्त योगदान था। तक्षशिला नगर जिस घाटी में बसा था उसके पूर्व में मुरी पहाड़ियाँ और उत्तर व दक्षिण में शर्दु व मार्गल नामक मुरी पहाड़ियों के दो पर्वत-स्कंध हैं। इन दोनों पर्वत-स्कंधों के मध्य एक तीसरा व छोटा पर्वत-स्कंध हथिआल है जो कि घाटी को दो भागों में बाँटता है। उत्तरी भाग वड़ा और दक्षिणी भाग छोटा है।

तक्षशिला (पालि-तखसिला) पूर्व-बौद्ध काल से ही एक प्रसिद्ध नगर रहा है। रामायण में तक्षशिला की समृद्धि व महत्व के विषय में वर्णन है। इसके अनुसार राम के छोटे भाई और कैकेयी के पुत्र भरत ने दो नगरों को बसा कर अपने पुत्रों, तक्ष को तक्षशिला और पुष्कल को पुष्कलावती का शासक बनाया। महाभारत अनुसार यह नगर हस्तिनापुर के राजा जनमेजय द्वारा जीता गया था जिसने यहाँ एक महान नाग यज्ञ कराया था।

जैन परंपरा के अनुसार लाखों-लाख वर्षों पूर्व तक्षशिला में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव आये थे और उनके पदचिन्हों पर वाहुवली द्वारा एक सिंहासन व धर्मचक्र बनाया गया था। यह चक्र ऊँचाई व व्यास में अनेकों मील का था। चन्द्रगुप्त मौर्य के महामात्य चाणक्य (कौटिल्य) का संवंध भी तक्षशिला के शिक्षा केन्द्रों से माना जाता है। संभवतः पाणिनी की शिक्षा भी तक्षशिला के किसी गुरूकुल में हुई होगी। अपनी अष्टाध्यायी के लिए संस्कृत भाषा से संवंधित सामग्री उन्हें तक्षशिला से ही मिली होगी। किन्तु तक्षशिला में पहुँचने वाले विद्यार्थियों के बारे में सबसे ज्यादा जानकारी वौद्ध ग्रंथों में मिलती है।

प्रारंभिक वौद्ध साहित्य विशेषकर पालि साहित्य में ज्ञान के केन्द्र के रूप में तक्षशिला के अनेकों सन्दर्भ हैं। वौद्ध जातक कथाओं में इस स्थल का वर्णन विश्वविद्यालय के रूप में किया गया है जहाँ धार्मिक व सांसारिक विषयों के अध्ययन के इच्छुक छात्र भारत के विभिन्न व दूर-दराज के क्षेत्रों से जैसे वनारस, राजगृह, मिथिला, उज्जैनी आदि से आते थे। श्रावस्ती (कोसल) के राजा का पुत्र पसेनदि (प्रसेनजित), वैशाली का लिच्छवीकुमार महालि और कुशीनगर का मल्लकुमार बंधुल, तीनों ही दिशा-प्रमुख आचार्य के पास शिल्प ग्रहण करने के लिए तक्षशिला आये थे। अंगुलिमाल भी शिल्प सीखने के लिए तक्षशिला आया था और यहाँ धर्मांतिवासी होकर उसने विद्या प्राप्त की थी। इनके अतिरिक्त अनेकों विदेशी छात्र ग्रीक, जापान व कोरिया आदि जैसे स्थलों से यहाँ के महान आचार्यों की विशेष शिक्षाओं और पुस्तकों के दुर्लभ व मूल्यवान संग्रह से लाभ उठाने के लिए आते थे। विदेशी छात्र यहाँ की पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ वनाते थे, जैसा कि वाद के काल में नालन्दा के वौद्ध विश्वविद्यालय में भी होता था। तक्षशिला में लिखी गई एक पाण्डुलिपि खोर्टन

में गोसिंग (Gosing) के निकट से प्राप्त हुई है। कुषाण काल की कुछ अन्य पाण्डुलिपियाँ जिनकी संभवतः तक्षशिला में प्रतिलिपियाँ हुई थीं, मध्य एशिया से मिली हैं।

तक्षशिला की प्रसिद्धि मुख्यतः इसके दिशा-प्रमुख (दिगंत प्रसिद्ध) आचार्यों के कारण थी जो अपने-अपने विषयों के माहिर थे। यह तत्कालीन भारत की शैक्षणिक राजधानी थी तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों के विद्यालय इससे संवद्ध थे। तक्षशिला में प्राथमिक शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं था और यह केवल उच्च शिक्षा का केन्द्र था। अतः केवल परिपक्वता प्राप्त (16 वर्ष की आयु होने पर) छात्र ही यहाँ प्रवेश पा सकता था। छात्र सामान्यतः शिक्षा-शुल्क आचार्य को अग्रिम में देकर ही प्रवेश पाता था जो शायद 1000 सिक्के था। शिक्षा-शुल्क नकद न दे पाने की अवस्था में वह आचार्य की सेवा द्वारा उसकी भरपाई करता था। ऐसे छात्रों को धर्मांतिवासी (निःशुल्क शिष्य) कहा जाता था। अधिकतर छात्र इसी श्रेणी के थे जो दिन में आचार्य की सेवा करते थे तथा रात में शिक्षा ग्रहण करते थे। कभी-कभी कोई छात्र पूरा समय शिक्षा पाने में बिताना चाहता था और साथ ही गरीब भी होता था तो उस अवस्था में उसे शिक्षा की समाप्ति पर शिक्षा-शुल्क दे सकने का भी विधान था। यदि छात्र उपरोक्त किसी भी विधि से शुल्क दे पाने में स्वयं को असमर्थ पाता था तो सामान्य जनता भोजन व धन द्वारा उसकी मदद करती थी। जनता आचार्य और छात्रों को अपने घर मुफ्त भोजन कराती थी। कुछ अवस्थाओं में राज्य भी कुछ मेधावी छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करता था। शिक्षा-शुल्क सामान्यतः पर्याप्त नहीं था और आचार्य अपने लिए कुछ भी धन न रख कर सब धन छात्रों आदि के रहने, खाने इत्यादि पर ही व्यय कर देते थे। कुछ अवस्थाओं में विद्यार्थी दिन में अध्ययन कर रात में अपने घर चले जाते थे। इससे पता चलता है कि केवल ब्रह्मचारी ही विद्या ग्रहण नहीं कर सकते थे बल्कि गृहस्थों को भी विद्या ग्रहण करने का अधिकार था।

एक आचार्य से शिक्षा लेने वाले छात्रों की सामान्य संख्या 20-25 व अधिकतम संख्या 500 थी। सामान्यतः तक्षशिला के गुरूकुल घास-फूस की छत वाला एक घर होता था। उसके चारों ओर चौकोर घेरे में विद्यार्थियों के छप्परनुमा आवास होते थे। छात्र समाज के विभिन्न वर्ग व स्तर से आते थे। ब्राह्मण व क्षत्रिय जाति के विद्यार्थी अधिक वड़ी संख्या में थे। इनके अतिरिक्त राजकुमार, व्यापारी, दर्जी, मछुआरे इत्यादि के पुत्र भी आते थे। मात्र चण्डालों को प्रवेश की अनुमति नहीं थी। विभिन्न जाति के छात्र अपने पारंपरिक पेशे का ही अध्ययन न कर अलग-अलग विषयों की शिक्षा ग्रहण करते थे। सभी वर्गों के छात्र एक साथ एक समान तरीके से रहते थे। यहाँ तक कि राजकुमार भी सामान्य गरीब छात्र के समान रहते थे तथा उनके पास व्यक्तिगत तौर पर व्यय करने के लिए भी धन नहीं रहता था।

उनको भी गलती करने पर अन्य छात्रों की तरह सजा मिलती थी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे शिक्षा केन्द्र भी थे जहाँ केवल वर्ग-विशेष के छात्र ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। छात्रों को दिया जाने वाला भोजन सामान्य प्रकार का होता था। छात्र का जीवन कठोर था तथा अनुशासन पर विशेष बल दिया जाता था। अध्ययन का समय मुर्गे की बाँग से प्रारंभ होता था। इसके अलावा पक्षियों की सहायता शिक्षा के लिए भी ली जाती थी। शिक्षा कार्य दिन में और रात में भी होता था। शिक्षा छात्रों को समय की सुविधा अनुसार दी जाती थी।

आचार्य की सहायता के लिए पिट्ठिआचरिय (Assistant Master) भी होते थे जो मुख्यतः वरिष्ठ छात्रों में से ही बनाये जाते थे। ये शिक्षण कार्य में आचार्य की सहायता करते थे और उनकी अनुपस्थिति में उनके विद्यालय का कार्यभार संभालते थे। जातकों के अनुसार तक्षशिला में तीन वेदों और कला के 18 सिप्पों (शिल्पों) की शिक्षा दी जाती थी। वेदों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म ग्रंथों की शिक्षा भी दी जाती थी। विभिन्न जातकों से तक्षशिला में पढ़ाये जाने वाले निम्नलिखित विषयों के बारे में ज्ञात होता है– (1) हत्थि सुत्त (2) मन्त्र (Magic-charms) (3) मृत्तक को जिंदा करने की कला (4) शिकार (5) पशु-पक्षियों की बोली समझने की कला (6) इस्सत्थसिप्प (तीरंदाजी) (7) भविष्यवाणी की कला (ज्योतिष) (8) सम्मोहन कला (9) शरीर के लक्षणों से पूर्वानुमान लगाना तथा (10) चिकित्सा। छात्र उपरोक्त विषयों में से अपने चुनिंदा विषय लेकर उसमें विशेष योग्यता अर्जित करते थे। इन विद्याओं के शिक्षण में सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों पद्धतियों का प्रयोग होता था और शिक्षा को व्यावहारिक झुकाव दिया गया था। इस प्रकार तक्षशिला चिकित्सा, धर्म (शास्त्र) और युद्ध विद्या के शिक्षण के लिए विशेष तौर पर प्रसिद्ध था। इस संबंध में कौमारभृत्य जीवक की कथा तक्षशिला की शिक्षण पद्धति पर अच्छा प्रकाश डालती है। वैद्याचार्य के पास धर्मांतेवासी के रूप में सात साल तक विद्या सीखने के बाद जीवक की परीक्षा ली गई। आचार्य ने कहा –'तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर घूम कर जो अ-भैषज्य (दवा के अयोग्य) देखो, उसे ले आओ।' जीवक ने खूब खोज की, मगर कोई अ-भैषज्य वनस्पति या जड़ी-बूटी नहीं मिली। जीवक ने यह बात आचार्य से जा कर कही तो उन्होंने 'प्रमाणपत्र' दिया – 'तुम विद्या सीख चुके। जाओ, यह तुम्हारे लिए पर्याप्त है।'

शैक्षणिक व व्यावहारिक शिक्षा के केन्द्र के रूप में इस स्थान का महत्व इसकी भौगोलिक स्थिति व आबादी के सर्वदेशीय गुण के कारण था। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रीकों के लगभग 100 साल के शासन काल में यह ग्रीक-शैली के अलेक्जैण्ड्रिया (Alexandria) इत्यादि जैसे शाही विश्वविद्यालय के नमूने पर विकसित हुआ रहा होगा।

परवर्ती बौद्ध साहित्य के एक ग्रंथ दीपवंस के अनुसार तक्षशिला के प्रारंभिक राजाओं में दीपंकर एक थे। अवदानकल्पलता एक अन्य राजा कुञ्जरकर्ण के नाम का वर्णन करती है। यह जान कर दुख होता है कि चीनी यात्री फा-ह्यान को यहाँ एक भी बौद्ध विहार नहीं मिला था। इनके वाद आये युवान-च्वांग नामक चीनी यात्री ने यहाँ अनेकों विहारों को खण्डित अवस्था में देखा और उस समय यहाँ महायानी भिक्षु वहुत कम संख्या में थे।

यहाँ पर उत्खनन से प्राप्त साक्ष्य भी इस नगर की प्राचीनता को 7-8 वीं शताब्दी ईसा पूर्व का दर्शाते हैं। संभवतः पारसी (Persian) शासकों का साम्राज्य इस क्षेत्र तक भी फैला था। यहाँ से आर्कमेमिड (Achaememid) वंश का अरेमिक (Aramaic) लिपि का तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व का एक अभिलेख भी मिला है। उत्तर-पश्चिमी भारत की खरोष्ठी लिपि का जन्म इसी लिपि से हुआ है।

ईसा पूर्व 510 के आस-पास सिंधु नदी तक का पश्चिमी गांधार प्रदेश, जिसकी राजधानी पुष्कलावती (यूनानियों की पुकलाओती) थी, हखामनि (ईरानी) साम्राज्य का बीसवां प्राँत बन गया था। संभवतः कुछ काल तक पूर्वी गांधार (तक्षशिला) पर भी हखामनि शासकों का आधिपत्य रहा। इसीलिए सिकंदर हखामनि साम्राज्य पर विजय प्राप्त करते हुए उसके पूर्वी छोर, सिंधु नदी, तक पहुँचा था। तीस दिन की घेराबंदी के बाद ही वह पुष्कलावती पर अधिकार कर पाया था। सिकंदर के आक्रमण के समय उत्तर-पश्चिमी भारत तीन राज्यों में विभक्त था – तक्षशिला, कठैओई (Kathaioi) और मल्लोई (Malloi)। तक्षशिला का राजा आंभि था जिसने विना विरोध किए ही आत्मसमर्पण कर दिया और सिकन्दर से संधि कर ली थी। सिकंदर और उसकी सेना ने तक्षशिला में कई दिन तक विश्राम भी किया था। इस आक्रमण के प्रमाण स्वरूप यहाँ ग्रीकों द्वारा छोड़े गये सिक्के, मिट्टी के वर्तन और अन्य छोटी-मोटी वस्तुयें मिलती हैं। तत्पश्चात शीघ्र ही चन्द्रगुप्त मौर्य ने उत्तरी भारत पर कब्जा कर लिया था। परन्तु मगध की राजधानी पाटलिपुत्र से इतनी दूर नियन्त्रण न रख पाने के कारण, तक्षशिला, साम्राज्य का एक प्राँत मात्र ही वना रहा। राजा अशोक ने अपने पिता के निर्देश पर यहाँ वाइसरॉय के रूप में शासन किया था। उसके वाद अशोक के शासन के समय उनके पुत्र कुणाल ने इसी पद पर यहाँ कार्य किया था। तिब्वती परंपरानुसार अशोक की मृत्यु तक्षशिला में ही हुई थी।

मौर्य साम्राजय के पतन के साथ तक्षशिला पुनः पश्चिमी विजेताओं के हाथों मे चला गया था। वैक्ट्रिया के ग्रीकों के नौ राजाओं ने यहाँ राज्य किया जिनमें मिलिन्द (Menander) तथा एन्टिएलिसिडस (Antialicides) प्रमुख थे। इनके सिक्के भी

यहाँ से प्राप्त हुए हैं। राजा मिलिन्द का बौद्ध धर्म के इतिहास में मिलिन्दपञ्ह नामक ग्रन्थ के कारण विशेष महत्व है।

एशिया के भीतरी प्रदेशों से आये घुमन्तु (Nomad) कवीलों के आक्रमण से हिन्दुकुश के दक्षिण के तक्षशिला सहित सभी ग्रीक इलाके शकों के कब्जे में आ गये थे। शकों के उपरान्त पार्थियनों ने तक्षशिला पर शासन किया था। मूलतः चीन के सुदूर उत्तर-पश्चिम के यू-ची (Yue-chi) नामक कवीले के लोगों ने, जिन्हें कुषाण कहा जाता है, तक्षशिला से पार्थियनों को उखाड़ा था। कुषाण वंशी राजा कनिष्क बौद्ध धर्म का प्रवल समर्थक था। इस वंश के कई राजाओं के सिक्के यहाँ से प्राप्त हुए हैं। कुषाण काल की भारतीय कला पर अमिट छाप गांधार शैली के रूप में जानी जाती है और इस शैली की अनेकों मूर्तियाँ तक्षशिला से मिली हैं।

कुषाणों की शक्ति, संस्कृति व इमारतें चौथी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में (460 A.D.) सफेद हूणों (Hordes of Ephthalites) के आक्रमण से नष्ट हो गयीं थीं। इस आक्रमण के प्रमाण विहारों व स्तूपों के अवशेषों में दृष्टिगोचर होते हैं। इस आक्रमण के उपरान्त तक्षशिला पुनः कभी अपनी पूर्वोत्तर स्थिति में नहीं आ पाया। हूणों की शक्ति छठी शताब्दी के मध्य में क्षीण हुई परन्तु उनके द्वारा किये गये नुक्सान की भरपाई का पुनः प्रयास भी नहीं हुआ और 630 ईसवी में तक्षशिला में आये चीनी यात्री युवान-च्वांग को यहाँ के अधिकतर संघाराम परित्यक्त व खण्डित अवस्थाओं में मिले थे। तत्पश्चात तक्षशिला शाहियों के हाथों से होता हुआ त्रिलोचन पाल नामक राजा के हाथों में 1013 ईसवी में आया था। गज़नी के महमूद ने इस शासक को यहाँ से उखाड़ फेंका था और इस प्रकार तक्षशिला का प्राचीन शिक्षा के एक केन्द्र के रूप में महत्व सदा के लिए समाप्त हो गया।

भिर टीला– इस घाटी के पश्चिमी किनारे के समीप 5 किलोमीटर के क्षेत्र में तीन अलग-अलग नगर स्थल मिले हैं। सवसे प्राचीन नगर स्थल भिर टीले के नाम से जाना जाता है। यह रेलवे स्टेशन और तमरा नाला के मध्य 60-70 फुट की ऊँचाई पर स्थित है। टीले की लंबाई उत्तर से दक्षिण लगभग 1200 गज तथा चौड़ाई पूर्व से पश्चिम 730 गज है। यह नगर तीन वार पुनर्निर्मित हुआ है। पहला निर्माण स्वतन्त्र काल का है। शेष तीन पुनर्निर्माणों में क्रमशः प्रथम मौर्य काल का, दूसरा चौथी शताब्दी ईसा पूर्व तथा तीसरा 5वीं से 6ठी शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग का है। भिर टीले से जिस तक्षशिला के पुरावशेष मिले हैं वह छोटे मकानों और छप्परों का नगर था। नगर के भीतर रास्ते तंग और टेढ़े-मेढ़े थे। मकान योजनाबद्ध नहीं थे। वे अधिकतर रोड़ी-पत्थर और लकड़ी से बनाए गए थे।

सिरसुख – तीसरा नगर सिरसुख द्वितीय नगर सिर्कप से और आगे उत्तर पूर्व में लुण्डि नाले के उत्तरी ओर प्रारंभिक कुषाण काल में बसाया गया था। यह नगर मध्य एशिया के नगरों की पारंपरिक शैली में बसा था और पहाड़ियों से दूर 4.5 कि० मी० के क्षेत्र में फैला था। यह विशाल प्रस्तर दीवार से घिरा था। वर्तमान में इस नगर के भीतर तीन आधुनिक गाँव भिरपुर, तोफ्किआत्र तथा पिण्ड् गाखरा बसे हैं। इन दोनों नगरों में बौद्ध अवशेषों का अभाव है।

सिर्कप– दूसरा नगर स्थल सिर्कप नाम से जाना जाता है जिसे वैक्ट्रियन ग्रीकों ने द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारंभिक वर्षो में बसाया था। बौद्ध स्मारकों की दृष्टि से यह सबसे महत्वपूर्ण है। नगर स्थल हथिआल पहाड़ी के सुदूर पश्चिमी किनारे पर स्थित था। ग्रीकों द्वारा राजधानी को भिर टीले से हटा कर तमरा नाला के पार नयी जगह सिर्कप ले जाया गया था जहाँ तीन शताब्दियों तक यह तक्षशिला का केन्द्र रहा। ग्रीक, शक, पार्थियन और प्रारंभिक कुषाण शासकों ने यहाँ से राज्य किया था।

ग्रीकों ने इस सिर्कप नगर के चारों ओर 6000 गज या लगभग 5 कि०मी० लंबी और 15 से 21.6 फुट मोटी प्रस्तर दीवार वनाई थी जिसकी ऊँचाई 20 और 30 फुट के मध्य थी। वर्तमान में उत्तरी दीवार में एक प्रवेश द्वार के अवशेष मिले हैं। इस नगर की सीमा के भीतर उत्खनन से कुछ स्तूपों की नींवें बाहर आयी हैं। इनमें से कुछ रिहायसी मकानों से जुड़े हुए थे तथा निस्सन्देह व्यक्तिगत उपासकों के लिए थे। यह प्रवृत्ति जो कि सामूहिक पूजा के विपरीत थी, भारत के अन्य भागों में प्रचलित प्रवृत्ति से भिन्न थी। इस नगर के योजनाबद्ध बनाये जाने के कारण सड़कें चौड़ी थीं और एक दूसरे को समकोण में काटती थीं। नगर के भवन-समूह वर्गाकार खंडों में थे।

इस नगर स्थल के ब्लाक F में एक चौकोर प्राँगण के मध्य एक स्तूप है। इसकी नींव चूने की पर्त से सज्जित है। यह एक आयताकार इमारत है जिसमें पश्चिम की ओर सीढ़ियों के लिए प्रक्षेपण थे। नींव की आगे की दीवार शास्त्रीय व भारतीय अभिप्राय के संयोजनों के कारण विशेष है। इसका अग्रभाग भित्ति स्तंभों द्वारा उपखंडों में विभक्त है। ये उपखंड ग्रीक संरचना के त्रिकोणाकार अग्रभाग शैली का अनुकरण करते आलों, बेलनाकार-मेहराबदार प्राचीन भारतीय सभागार के अग्रभाग और भारतीय तोरणों से अलंकृत हैं। इनमें से कुछ आलों के शिखर पर गच्चकारी किया गरूड़ का अलंकरण है।

अन्य स्तूपों में प्रमुख एक स्तूप ब्लाक A का है जो नगर के उत्तरी द्वार के समीप है। इसकी नींव के केन्द्र में एक स्मृति-शेष कक्ष था। इसमें से स्फाटक

स्मृति-शेष मँजूपा के टुकड़े (यह मँजूषा अपनी उत्कृष्ट कलाकारी के कारण मौर्य काल की प्रतीत होती है), एक हड्डी का टुकड़ा, विभिन्न धातुओं के मनके, मोती-मुक्ता और कुछ इण्डो-ग्रीक व साईथो (Scytho)–पार्थियन काल के स्वर्ण टुकड़े व सिक्के मिले हैं। स्तूप के प्राँगण में अन्य अनेकों छोटे स्तूप व रिहायसी कक्ष थे।

इसी प्रकार यहाँ के शाही महल से जुड़े एक निजी मंदिर के एक स्तूप की चौकोर कुर्सी में से हड्डी के एक छोटे टुकड़े सहित एक स्तरित (Schist) प्रस्तर मँजूषा भी प्राप्त हुई है।

एक भव्य अर्धवृत्ताकार मंदिर नगर के केन्द्र में मिला है जो ब्लाक D में आता है। इसका मुख पश्चिम की ओर था। पूर्व से पश्चिम की ओर 228 फुट लंबे तथा उत्तर से दक्षिण की ओर 135 फुट चौड़े आयताकार प्राँगण के मध्य एक ऊँची कुर्सी पर बने इस मंदिर में एक आयाताकार मध्य भाग (Nave) जो भीतर से 41 फुट × 29.8 फुट या, आगे एक डयोढ़ी तथा पीछे एक अर्द्धवृत्ताकार कक्ष (Apse) समाहित था। संभवतः मूलरूप से यह एक पार्थियन शैली का स्तूप था जिसकी नींव 28.9 फुट व्यास की थी। इसके चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ बना था जो अग्र डयोढी से प्रारंभ होता था। मंदिर के प्रवेश के दोनों ओर ऊँचे चबूतरे थे। प्राँगण के प्रवेश के दोनों ओर दो छोटे स्तूपों की चौकोर नींव हैं। प्राँगण की पश्चिमी दीवार से सटे हुए भिक्षुओं के लिए छोटे निवास कक्ष थे। भिक्षुओं के कार्य-कलापों के मुख्य केन्द्र विहार इत्यादि से दूर नगर के केन्द्र में एक मंदिर का अस्तित्व रोचक है।

मुख्य स्थल

कुणाल स्तूप :– सिर्कप की चारदीवारी का दक्षिणी भाग नगर के भीतर ही हथिआल पर्वत-स्कंध का एक भाग समाहित करता है। इस पहाड़ी भाग में एक बड़ा स्तूप खड़ा है जिसे परंपरानुसार राजा अशोक द्वारा अपने पुत्र कुणाल के साथ हुई दुर्घटना की यादगार स्वरूप निर्मित माना जाता है। कथा इस प्रकार है कि राजकुमार कुणाल की सुन्दर आँखों को देख उसकी सौतेली माँ तिष्यरक्षिता के मन में मनोविकार उठ गये थे। कुणाल द्वारा अस्वीकृत किये जाने पर क्रुद्ध होकर उसने उनसे बदला लेने की ठानी। जब राजकुमार तक्षशिला में यहाँ के विद्रोह का दमन करने के लिए आये तो रानी ने सच्चरित्र कुणाल की आँखें निकलवाने का आदेश अशोक की मुहर लगा कर यहाँ भेज दिया था। तत्पश्चात इस घटना के पश्चात्ताप के लिए अशोक ने इस स्थल पर एक स्तूप का निर्माण करवाया था। हालाँकि अनावृत्त स्तूप तीसरी-चौथी शताब्दी ईसवी का है परन्तु एक पहले का तथा काफी

छोटा स्तूप इस स्थल पर विद्यमान था तथा बाद में बने स्तूप के सार भाग में दबा था। स्तूप का आधार आयताकार था जिसमें सीढ़ियाँ भी थीं तथा यह तीन चबूतरों पर बना था। निचले चबूतरे पर प्लास्टर से अलंकरण है। स्तूप से जुड़ा और उसका समकालीन एक सामान्य आकार का चतुर्भुजीय विहार भी यहाँ मिला है।

घई विहार :– हथिआल पर्वत-स्कंध पर आगे एक छोटा विहार है जिसका स्थानीय नाम घई है। इसका विशेष आकर्षण खुले मुख्य प्राँगण को एक सभा कक्ष का परिवर्तित रूप दिया जाना है।

धर्मराजिक स्तूप :– चिर स्तूप के नाम से स्थानीय लोगों द्वारा जाना जाने वाला धर्मराजिक स्तूप तक्षशिला के बौद्ध स्मारकों में सबसे महत्वपूर्ण है। गुप्त रूप से खुदाई करने वालों के द्वारा इस स्तूप में एक चीर डाल दिये जाने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। सिर्कप से दक्षिण-पूर्व में एक मील की दूरी पर ऊँचे पठार पर स्थित इसका विशाल आकार एक समय घाटी की सबसे प्रमुख इमारत था। अशोक द्वारा निर्मित 84 हजार स्तूपों में से एक माने जाने के महत्व के कारण तक्षशिला में बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनों तक इसका अनेकों बार पुनर्निर्माण हुआ है।

स्तूप अपने वर्तमान आकार में 115 फुट व्यास तथा 45 फुट की ऊँचाई का है। एक गोल ऊँचे चबूतरे पर स्थित इस स्तूप तक जाने के लिए प्रमुख चारों दिशाओं में सीढ़ियाँ हैं। चबूतरा प्रदक्षिणा पथ का कार्य करता था। स्तूप के मलबे से भरे सार भाग को मजबूती प्रदान करने के लिए केन्द्र से 16 दीवारें निकलती थीं जो केवल चबूतरे के ऊपर तक ही बनी थीं। इन दीवारों की मोटाई 3 फुट से 5 फुट के बीच थी। इन दीवारों से पता चलता है कि यह स्तूप एक पहले के बने आधार पर पुनर्निर्मित है।

वर्तमान स्तूप का निर्माण पहली शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ था। पुनः एक शताब्दी उपरान्त सीढ़ियों व चबूतरे का पुनर्निर्माण हुआ। चबुतरे का मुख भित्ति स्तंभों द्वारा खंडो में विभक्त था। अन्तिम परिवर्द्धन 4वीं या 5वीं शताब्दी में हुआ। इसके भीतर से कोई अवशेष नहीं प्राप्त हुए हैं। स्तूप के चारों ओर धरातल के स्तर पर भी प्रदक्षिणा पथ था जिसके तीन तल मिले हैं।

प्रदक्षिणा पथ को घेरते हुए व्रत्तानुष्ठित स्तूपों का घेरा था, जो मूलतः गोलाकार थे परन्तु बाद में उनमें चौकोर या गोल आधार जोड़ दिये गये थे। उनमें से कुछ के भीतर से मँजूषाओं में स्मृति-अवशेष तथा कीमती पत्थर और स्वर्ण के टुकड़े मिले हैं। इसके आगे का खुला क्षेत्र छोटे स्तूपों व मंदिरों से भरा हुआ है। मंदिरों में से एक में एक स्वर्ण मँजूषा में कुछ हड्डियाँ तथा एक स्तलित (Schist) पात्र प्राप्त

हुआ है। इस पात्र में रजत कलश के भीतर से एक रजत सूची (नामावली, Scroll) मिली है। सूची पर लिखा अभिलेख एजेस (Azes) के 136 वें वर्ष का है। इसमें एक अज्ञात कुषाण राजा के शासन काल में एक बैक्ट्रियन उरसक (Urasaka) द्वारा भगवान बुद्ध के अवशेषों के धर्मराजिक स्तूप के प्राँगण में एक बोधिसत्व स्तूप (Shrine) में प्रतिष्ठापित करने का वर्णन है। इस बुद्ध-अवशेष को सन् 1917 में श्रीलंका के बौद्धों को सौंप दिया गया था। भिक्षुओं के निवास के लिए बने अनियमित कक्षों के अतिरिक्त इस स्तूप के साथ एक चतुष्कोणाकार विहार भी था।

कलवन :- कलवन के बौद्ध स्मारक, धर्मराजिक स्तूप से दक्षिण-दक्षिण-पूर्व में 2 कि० मी० पर स्थित हैं और विस्तार में अद्‌भुत हैं। यहाँ कोई भी विशाल स्तूप नहीं है। सभी स्तूप साधारण आकार के हैं। उनमें से सबसे बड़े स्तूप में एक विशाल गोल स्मृति-शेष कक्ष 13 फुट 3 इंच व्यास का है, जिसके वर्तमान अवशेष यह दर्शाते हैं कि यह एक मेहराबदार कक्ष था। दीवारों पर प्रक्षालन की अनेकों परतें इसके बार-बार प्रयोग के विषय में सूचित करती हैं परन्तु ऐसा कोई भी साक्ष्य नहीं है जिससे इसके प्रवेश-द्वार के बारे में पता चले। इन स्तूपों के अतिरिक्त, प्राँगण में कई गृह-स्तूप हैं। भीतर से अष्टभुजाकार या चौकोर एक मंदिर भी था। इन स्तूपों में से एक में एक अस्थि-अवशेष मँजूषा और एक ताम्र-पत्र अभिलेख मिला है जो Azes के 134वें वर्ष में एक उपासिका द्वारा छन्दसिला में अस्थि-अवशेष रखे जाने का वर्णन करता है। इस गृह-स्तूप के अष्टभुजाकार गर्भ-गृह से कई गांधार मूर्तियाँ मिली हैं। स्तूप प्राँगण के ठीक दक्षिण में तीन विशाल विहार थे। एक विहार की चारों दिशाओं में कक्ष थे, दूसरे की तीन दिशाओं में कक्ष थे तथा तीसरे की मात्र दो दिशाओं में कक्ष थे और तीसरी तरफ कुछ कक्ष ही थे। कक्ष परंपरानुसार एक विस्तृत प्राँगण के चारों ओर बने थे।

स्मारकों के तीन समूह मोहरा-मोरदु, पिप्पल तथा जौलिअन् तक्षशिला घाटी के पूर्व की ओर पर्वत श्रेणी पर स्थित हैं। यहाँ के स्तूपों के अग्रभाग बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियों से अलंकृत हैं जिनमें से कुछ गांधार कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन स्थलों में से प्रत्येक के साथ एक विहार जुड़ा था।

जौलिअन् :- जौलिअन् का मुख्य स्तूप एक आयताकार आधार पर बना गच्चकारी अलंकरण से अलंकृत है और इसी प्रकार के कई व्रतानुष्ठित स्तूपों से घिरा है। इन स्तूपों में से एक में एक अनूठे स्तूप आकार की स्मृति-शेष मँजूषा मिली है जो चूना पत्थर से निर्मित है। यह नीले तथा किरमिजी (Crimson) रंग से रंगी है और

कीमती पत्थरों से अलंकृत है। यह मीनारनुमा स्तूपाकार मँजूषा स्तूपों के वाद के विकास के विषय में समुचित आभास देती है। इसके भीतर एक लकड़ी की मँजूपा थी, जिसके भीतर एक ताँबे की मँजूषा थी और पुनः उसके भीतर एक ताँबे का बेलन था। एक अन्य व्रतानुष्ठित स्तूप से प्राप्त मँजूषा में हड्डियाँ और कुपाण शासक वासुदेव के दो ताँबे के सिक्के मिले हैं। छोटे स्तूपों की नींवों का निरूपण प्रचुर मात्रा में था।

यहाँ का विहार अपने विस्तृत नक्शे के कारण विशेष है। इसमें रहने के कक्ष तथा मुख्य प्राँगण के चारों ओर बने बरामदे के अतिरिक्त सभागार, रसोई, भण्डार-गृह और बर्तन धोने की जगह भी है। यहाँ कुछ कक्षों के सामने गच्चकारी की हुई तथा मिट्टी की बनी मूर्तियाँ थीं। सभी स्थलों पर केन्द्रीय आकृति बुद्ध की थी। कुछ समूहों में उपासकों के रूप में विदेशियों की उपस्थिति रोचक है। विहार के कक्षों में से एक में एक मिट्टी के बर्तन में एक अध-जला बौद्ध ग्रंथ था जो भुर्ज-छाल पर गुप्तकालीन अक्षरों में लिखा था।

पिप्पल :– यहाँ के अवशेप दो भिन्न काल के हैं। प्राँगण के पूर्व में एक कुपाण कालीन विहार है जिसमें चारों दिशाओं में कक्षों की कतारें है। प्राँगण के मध्य में उत्तर की ओर मुख वाले चौकोर स्तूप की नींव है और उसके समीप ही तीन अन्य स्तूपों के खण्डहर हैं। यह विशिप्ट कुपाण शैली में वना प्राचीन विहार चौथी शताव्दी ईसवी में खण्डित अवस्था को पहुँच गया था क्योंकि उस समय एक दूसरा विहार इसके पश्चिमी भाग पर बनाया गया था जिसने इस ओर के वरामदे और कक्षों के अवशेषों को अपनी नींव के नीचे पूरी तरह दबा लिया था। उस समय प्राचीन विहार का शेष भाग स्तूप के प्राँगण में परिवर्तित कर दिया गया था तथा शेप सव खण्डहरों को समतल कर दिया गया था। उत्तरकालीन विहार के एक कक्ष में स्तूप था जो संभवतः यहाँ रहने वाले किसी महत्वपूर्ण भिक्षु की यादगार में बना था।

मोहरा मोरदु :– यहाँ के विहार की विशेषता इसके प्राँगण में बुद्ध की गच्चकारी की हुई और मिट्टी की मूर्तियाँ हैं। शेप अन्य दृप्टियों से यह पिप्पल और जौलिअन् के समान ही है।

भमल :– सिरसुख के पूर्व में 16 कि० मी० दूर भमल नामक स्थान का मुख्य स्तूप पूर्ववर्ती समूहों के समान ही अलंकृत है। चौथी-पाँचवी शताब्दी के इस स्तूप का नक्शा सामान्य चौकोर तथा सीढ़ियों को समाहित करती हुई डयोढी स्वस्तिकाकार है। चबूतरे के चारों मुखों पर सीढ़ियों की केन्द्रीय सोपाण-पंक्ति है। इस स्तूप के

चारों ओर छोटे स्तूप और प्रार्थनालय हैं। स्तूप-प्राँगण का फर्श पक्की मिट्टी की ईंटों से बना है। इसके चतुष्कोणीय विहार के द्वितीय तल पर जाने का मार्ग रसोई की सीढ़ियों से है जबकि सामान्यतः यह किसी कक्ष से होता था।

गिरि :– धर्मराजिक स्तूप से दक्षिण-पूर्व में 3 कि० मी० दूर और कुणाल स्तूप के ठीक पश्चिम में गिरि नामक विस्तृत तथा ठोस निर्मित विहार है। यहाँ कुल दो विहार तथा कुछ स्तूप बने हैं। यह समूह ऐसा प्रतीत होता है कि पाँचवी शताब्दी ईसवी में अस्तित्व में आया था जब हूण आक्रमण गांधार में बौद्ध धर्म के अस्तित्व के लिए खतरा बन रहे थे। इस विहार का प्राँगण सामान्य चतुःशाल प्रकार का है और इसके चारों ओर ऊँचा बरामदा और कक्ष थे। कक्षों में दीप रखने के लिए परंपरागत मेहराबी आले हैं। विहार अब जीर्ण-शीर्ण हालत में है।

भल्लर :– घाटी के सुदूर उत्तरी किनारे पर तक्षशिला से 8 कि०मी० उत्तर में शारदा पर्वत-स्कंध पर भल्लर का स्तूप खड़ा है जो हमें आभास कराता है कि गांधार के स्तूप कैसे रहे होंगे। एक ऊँचे आयताकार आधार पर बने स्तूप की मेधि 6 या 7 तल की है। प्रत्येक तल क्रमशः कम व्यास का होता जाता है तथा भरपूर अलंकृत है। अण्ड भी निस्सन्देह इसी प्रकार ऊँचा रहा होगा।

उपरोक्त बौद्ध स्मारकों के अतिरिक्त तक्षशिला में अन्य बौद्ध स्थल जन्दिअल, लालचक, खादेड़ मोहरा, अखौरी तथा बादलपुर हैं जो विशेष महत्व के नहीं हैं।

तक्षशिला का ज्ञान के केन्द्र के रूप में महत्व आज भी पूरे विश्व के लोगों में व्याप्त है। एक लंबे समय तक ज्ञान के पिपासुओं की ज्ञान पिपासा की पूर्ति करने के बाद तक्षशिला समय के साथ नष्ट हो गया। आज हमें मात्र इतना ही पता है कि यहाँ शिक्षा का स्तर कैसा था तथा कहाँ-कहाँ के लोग यहाँ आते थे परन्तु पढ़ाये जाने वाले विषयों के विस्तृत पाठ्य-क्रम का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म के अतिरिक्त सामान्य रूप से ज्ञान की सभी शाखाओं की सेवा करने वाला तक्षशिला आज खण्डहरों से भरा है।

वल्लभी

भारत के पूर्वी भाग के प्रसिद्ध विहारों के समान पश्चिमी भारत के भी कुछ महाविहार ज्ञान के केन्द्र के रूप में अपना विशेष स्थान रखते थे। इनमें वल्लभी महाविहार सबसे अधिक प्रसिद्ध था। पूर्वी भारत में जो स्थान नालन्दा महाविहार का था, पश्चिमी भारत में वही स्थान था वल्लभी का। यह महाविहार बौद्ध धर्म की हीनयान (थेरवाद) शाखा के एक विशिष्ट केन्द्र के रूप में विकसित हुआ था, जबकि नालन्दा ने महायान के प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान दिया था।

आज काठियावाड़ में आधुनिक वाला (Wala) के समीप पाँच से सात कि०मी० भीतर की ओर 7000 (सात हजार) निवासियों की आबादी का एक छोटा सा कस्बा है जो मुश्किल से साढ़े चार वर्ग कि०मी० क्षेत्र में फैला है। यहीं वल्लभी महाविहार स्थित था। इस स्थल के पास ही घाला नामक नदी बहती है। नदी के उत्तर-पश्चिम के मैदानों में रोम या पर्शिया (ईरान) में बने लाल रंग के प्राचीन पात्र व अनेकों बौद्ध पुरावशेष बिखरे मिले हैं। इन पुरावशेषों में छोटी प्रतिमायें, बुद्ध-शीश व धर्मगुटिका (मृण्मृत्ति के फलक, जिन पर बौद्ध मंत्र 'ये धम्मा हेतु प्रभवा' उत्कीर्ण हैं) विशेष महत्वपूर्ण हैं। पुरातात्विक उत्खनन से मिली ये वस्तुयें ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व की हैं– जैसे प्राचीन मैत्रक शासकों के द्वारा अभिलिखित अनेकों दान ताम्रपत्र, जिनसे वल्लभी के प्राचीन इतिहास, स्वरूप व महत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

वल्लभी मैत्रक राजाओं की राजधानी था। जब गुप्त साम्राज्य पतन के कगार पर पहुँच कर बिखरने लगा और भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँटने लगा तो गुप्त राजाओं के एक सेनापति भट्टारक ने साम्राज्य के एक भाग सौराष्ट्र (गुजरात) को कब्जे में कर लिया था। उसने वल्लभी को इसकी राजधानी बनाया और मैत्रक नामक राजवंश की स्थापना की थी। इस वंश का तीसरा शासक द्रोण सिंह स्वतंत्र शासक बना और उसने महाराजा की उपाधि ग्रहण की थी। पूरे वंश में कुल मिलाकर 20 (बीस) राजा हुए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रबुद्ध शासक थे जिनके संरक्षण में वल्लभी पश्चिमी भारत में ज्ञान के केन्द्र के रूप में विकसित हुआ।

मैत्रक राजा ब्राह्मणवादी शैव मतावलंबी थे। उनके दान ताम्रपत्रों पर शाही मोहरों में वंश के संस्थापक भट्टारक के नाम के ऊपर नंदी (शिव का वाहन बैल) बना हुआ है और उन्होंने अपने को 'मैत्रक' संबोधित किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त साम्राज्य से निकली इस प्रशाखा ने विहारों को राजकीय संरक्षण देने की गुप्त वंशीय परंपरा उत्तराधिकार में पाई थी। संभवतः इसी कारण हीनयान के एक केन्द्र के रूप में वल्लभी के महाविहारों के विकास का प्रारंभ स्वयं मैत्रक वंश की नींव रखे जाने के साथ ही साथ हुआ था। वंश के संस्थापक के नाम से संबंधित एक प्राचीन विहार का वर्णन गुहसेन के 567 ईसवी के दानपत्र में 'भट्टारक विहार' के रूप में मिलता है जिससे कि स्वयं भट्टारक द्वारा इसके स्थापित होने का आभास मिलता है। यह विहार लगभग पौन शताब्दी के उपरान्त गुहसेन के समय खंडहर अवस्था में था। राजा द्वारा अपने एक अधिकारी 'राजस्थानीय शूर' को इसे 'प्रसादीकृत' कराने का निर्देश देने का प्रमाण भी मिलता है।

मैत्रक राजा यहाँ 480 (चार सौ अस्सी) से 775 (सात सौ पिच्हत्तर) ईसवी तक राज करते थे। वे विहारों के पक्के संरक्षक थे। विहारों के सामान्य खर्चों को पूरा करने के लिए दान देने के अतिरिक्त वे 'बौद्ध धर्म पर पुस्तकें' प्राप्त कर पुस्तकालय को सुदृढ़ करने के लिए भी दान दिया करते थे। राजाओं द्वारा दिये गये दानों के अभिलेखों से वल्लभी विहारों के बनने के तीन कारण प्रतीत होते हैं– (1) बौद्ध संघ के आवास के लिए, जो कि विभिन्न स्थलों से आये भिक्षुओं से मिल कर बना था और जिसमें ऐसे भिक्षु समाहित थे जो 18 (अट्ठारह) निकायों का पालन करते थे (2) बुद्ध प्रतिमा की पूजा के उद्देश्य से और (3) पुस्तकों के संग्रह (पुस्तकालय) व उनकी देखभाल के लिए।

वल्लभी में भट्टारक की पोती व ध्रुवसेन (प्रथम) की बहन की लड़की (भागिनेयी) द्वारा एक विहार की स्थापना से एक विशाल केन्द्रीय महाविहार संस्थान अस्तित्व में आया, जो कि बाद में एक प्रकार का मैत्रक राज्य-संस्थान बन गया था। इस दुड्डा नामक महिला के व्यक्तिगत जीवन के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। उसके निर्देश पर 535 (पाँच सौ पैंतीस) ईसवी में ध्रुवसेन (प्रथम) द्वारा बनवाया गया यह विहार धीरे-धीरे विहारों का एक समूह बन गया जिसे दुड्डा विहार-मण्डल के नाम से जाना जाने लगा था। बाद की राजकीय भेंटों में इसे महाविहार कहा गया है, जिसका अर्थ है कि कई विहार एकत्रित हो कर एक संस्थान के रूप में स्थापित हो चुके थे। मैत्रक राजाओं की क्रमिक सन्तानों (उत्तराधिकारियों) द्वारा दी गई भेंटों की लंबी सूची दर्शाती है कि दुड्डा मण्डल के भीतर के विहार राजकीय संरक्षण व देख-भाल में थे और राज्य संस्थान के रूप में स्वीकृत थे। वाला (wala) से प्राप्त

संस्थापक ध्रुवसेन (प्रथम) के दानपत्र उसके द्वारा "विहार के टूटे व गिरे भाग की मरम्मत, पूजा के लिए फूल, तेल, दीपक व लोहवान की प्राप्ति, भोजन-दान, बीमारों के लिए दवा, वस्त्र इत्यादि" के लिए निरन्तर धन उपलब्ध कराने के लिए पिप्पलरुंकरि (पिप्लोद) गाँव के कर को देने का वर्णन करता है। गुहसेन द्वारा चार गाँवों की एक भेंट दी गई थी, "(हीनयानियों के) 18 (अट्ठारह) संप्रदायों से संबंधित आदरणीय शाक्य भिक्षुओं के संघ को, जो विभिन्न दिशाओं से आदरणीय दुड्डा द्वारा निर्मित विशाल दुड्डा विहार में आये थे...... भोजन, वस्त्र, आसन, बीमारों के लिए दवा इत्यादि प्राप्त करने के लिए।" इन भेंटों का उद्देश्य न केवल धार्मिक था बल्कि मानवतावादी भी था। इसी प्रकार की भेंटें धारासेन (तृतीय), धारासेन (चतुर्थ) व शीलादित्य (तृतीय) द्वारा भी दी गई थीं। इस प्रकार संस्थापक से लेकर अन्तिम ज्ञात राजा शीलादित्य (तृतीय) तक लगभग सभी राजाओं ने दुड्डा समूह के विहारों की पर्याप्त देखभाल को राजकीय जिम्मेदारी समझा था।

भेंटों में दुड्डा मण्डल के विहारों में से निम्नलिखित के नाम मिलते हैं– (1) आचार्य भदन्त बुद्धदास के नाम पर बुद्धदास विहार [536 (पाँच सौ छत्तीस) ईसवी] (2) मिम्मा द्वारा निर्मित अभ्यन्तरिक विहार [567 (पाँच सौ सरसठ) ईसवी] (3) काका नामक एक व्यापारी द्वारा निर्मित काका विहार [589 (पाँच सौ नवासी) ईसवी] (4) गोहक द्वारा निर्मित गोहक विहार [627-42 (छः सौ सत्ताइस से छः सौ ब्यालिस) ईसवी] (5) आचार्य विमलगुप्त द्वारा निर्मित विमलगुप्त विहार (6) स्थिरमति द्वारा निर्मित स्थिरमति विहार (संभवतः ये स्थिरमति वसुवन्धु के शिष्य स्थिरमति से भिन्न थे)। नगर के धनी नागरिक विहार बनवाने के लिए इसी उत्कृष्ट स्थल का चुनाव करते थे। अतः मैत्रक विहारों के इतिहास में दुड्डा का नाम स्मरणीय है। ध्रुवसेन (प्रथम) ने तो उसे 'स्व-भागिनेयी' के रूप में कहते हुए 'परमोपासिका' बताया है। बाद के राजाओं के लिए वह पूज्या दुड्डा थी।

इस मण्डल को दिये गये लगभग सभी मैत्रक राजाओं के दानों में परंपरागत सामान्य उद्देश्यों के अतिरिक्त गुहसेन के दान पत्र में 'सद्धर्मस्य पुस्तक' का उल्लेख करना एक रोचक और संभवतः ध्यान देने योग्य बात है। इस बात से संभवतः यह अनुमान लगता है कि गुहसेन के समय तक विहार या तो व्यवस्थित हो चुके थे या फिर शिक्षा व ज्ञान के केन्द्र के रूप में व्यवस्थित होने की प्रक्रिया में थे और पुस्तकालयों का निर्माण कर रहे थे।

विहारों का दुड्डा मण्डल केवल भिक्षुओं के प्रयोग के लिए ही था, परन्तु यहाँ एक अन्य मण्डल भी था जो कि भिक्षुणियों के लिए था। भेंटों में इन भिक्षुणी संघारामों के नाम भी मिलते हैं। ये थे– (1) यक्षशूर द्वारा निर्मित यक्षशूर विहार

[608 (छः सौ आठ) ईसवी] (2) पूर्णान्नभट्ट द्वारा निर्मित पूर्णान्नभट्ट विहार और (3) अजित नामक एक व्यापारी द्वारा निर्मित अजित विहार। उपरोक्त विहारों के अतिरिक्त वसंकत [605 (छः सौ पाँच) ईसवी] तथा योधावक [645 (छः सौ पैंतालीस) ईसवी] गाँवो में भी विहार थे, जिन्हें मैत्रक राजाओं – ध्रुवसेन (प्रथम), गुहसेन, धारासेन (द्वितीय), शीलादित्य (प्रथम), ध्रुवसेन (द्वितीय), ध्रुवसेन (तृतीय), शीलादित्य (द्वितीय) तथा शीलादित्य (तृतीय) से मुक्त दान पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

वल्लभी के विहार मुख्यतः हीनयानी भिक्षुओं के नियंत्रण में थे। दान पत्रों में यहाँ निवास करने वाले भिक्षु समुदाय को 'आर्य-भिक्षु-संघ' के रूप में उल्लेखित किया गया है। गुहसेन की भेंटों में 'शाक्य आर्य भिक्षु संघ के 18 (अट्ठारह) निकायों' के लिए दान दिये जाने का उल्लेख है। कही-कहीं भिक्षुओं का वर्णन 'नानादिगभ्यागत' शब्द से हुआ है जो भिक्षुसंघ के उल्लेख के लिए प्रयुक्त होने वाले प्राचीन प्रमाणिक शब्द 'चातुर्दिश' का रूपान्तरण है। विहारों में भिक्षुओं के मुख्य कार्यकलापों में बुद्ध-पूजा का प्रमुख स्थान था, जो परंपरा व कार्यविधि द्वारा संपन्न होती थी। राजा अपनी भेंटों में इसके लिए प्रावधान करते थे और व्यय की मदों में 'धूप-दीप-तेल-पुष्प' की कीमत जोड़ते थे। हालांकि ऐसा प्रतीत होता है कि इन विहारों में हीनयान बौद्ध धर्म प्रचलित था, परन्तु हमें साथ ही साथ महायान बौद्ध धर्म के अस्तित्व में होने के साक्ष्य भी मिलते हैं।

ध्रुवसेन (द्वितीय) ने योधावक गाँव के विहार को दी गई अपनी भेंट में यहाँ आवास करने वाले संघ का उल्लेख 'महा-निकाय आर्य-भिक्षु-संघ' के रूप में किया है। यह विहार स्कन्दभट्ट द्वारा निर्मित था। युवान-च्वांग ने वल्लभी के समीप एक विहार के खंडहर को देखा था, जहाँ वसुबन्धु के शिष्य प्रसिद्ध महायानी आचार्य स्थिरमति व गुणमति ने निवास किया था। इस विशाल विहार के खंडहर नगर से अधिक दूरी पर नहीं थे और 'यह अर्हत अचल द्वारा बनवाया गया था'। राजा ध्रुवसेन (द्वितीय) द्वारा दिये गये दान में भी आचार्य भदन्त स्थिरमति द्वारा स्थापित श्री वप्पापादिय विहार का उल्लेख, इसी विहार के सन्दर्भ में है। स्थिरमति व गुणमति प्रसिद्ध महायानी विद्वान थे, जिनके ग्रंथ चीनी व तिब्बती भाषाओं में उपलब्ध हैं। उनके विहार उस समय अवश्य ही महायानी ज्ञान के केन्द्र रहे होंगे। युवान-च्वांग के अनुसार 'यहाँ कई सौ संधाराम हैं, जिनमें 6000 (छः हजार) भिक्षु निवास करते हैं। उनमें से अधिकतर सम्मितीय संप्रदाय की परंपरा के अनुसार हीनयान की शिक्षा ग्रहण करते हैं। यहाँ कई सौ देव-मंदिर हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार के कई मत हैं'। इस प्रकार ध्रुवसेन (द्वितीय) के शासनकाल में हीनयान प्रचलन में था, परन्तु महायान का भी अस्तित्व था।

आधुनिक कस्बे में प्राचीन वल्लभी के मैत्रक विहारों के कुछ भी अवशेष उपलब्ध नहीं हैं। अतः उनके स्वरूप का अनुमान लगाना असंभव है। इस संबंध में युवान-च्वांग व इत्सिंग नामक चीनी यात्रियों के वर्णन ही कुछ सहायक हैं। उनके अनुसार ये विहार कंगूरेदार वास्तुकला की गुप्त-शैली में निर्मित थे और मूर्तियों व चित्रकारियों से अलंकृत थे।

मैत्रक राजाओं के गद्दी पर होने के समय पर ही इत्सिंग ने उत्तरी भारत की यात्रा की थी। उसने एक प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र के रूप में वल्लभी की तत्कालीन प्रसिद्धि का विस्तृत वर्णन किया है, जहाँ शिक्षार्थी उच्च शिक्षा के लिए आते थे। इत्सिंग के अनुसार प्राथमिक शिक्षा के बाद "सामान्यतः शिक्षार्थी मध्य भारत में नालन्दा विहार या पश्चिमी भारत में वल्लभी देश में अपने आचार्यों द्वारा भली-भाँति शिक्षा ग्रहण करते हुए और दूसरों (शिक्षार्थियों) को शिक्षा देते हुए दो या तीन वर्ष व्यतीत करते थे। ये दोनों स्थल चीन के चिन-मा (Chin-ma), शी-छु (Shi-chu), लुंग-मेन (Lung-men) तथा छु-ली (Chu-li) के समान थे। वहाँ प्रसिद्ध व विद्यासंपन्न बड़ी संख्या में एकत्रित होते थे, संभव व असंभव सिद्धान्तों पर चर्चा करते थे और ज्ञानवृद्ध लोगों द्वारा अपने मतों की श्रेष्ठता का आश्वासन पाने पर अपने ज्ञान (विद्वता) के लिए प्रसिद्ध हो जाते थे। अपने बुद्धिचातुर्य की तीव्रता को परखने के लिए वे राज दरबारों में अपनी बुद्धि प्रदर्शित करते थे। वे वहाँ अपनी योजनायें प्रदर्शित करते थे और राजनीतिक गुण (कौशल) दिखलाते थे, वर्तमान (व्यवहारिक) सरकार में नियुक्ति पाने के उद्देश्य से। वे भेंट में जमीनें प्राप्त करते थे और उच्च पदों पर जाते थे। उनके प्रसिद्ध नाम उच्च द्वारों पर सफेद रंग से पुरस्कार के रूप में लिखे जाते थे। उसके बाद वे जो रोजगार चाहें अपना सकते थे"।

इत्सिंग का यह यात्रा-वृत्तान्त वल्लभी के ज्ञान की परंपरा के पूर्ण विकास को दर्शाता है। वह नालन्दा व वल्लभी के विषय में समान रूप से कहता है। परन्तु इससे यह अनुमान लगाना सरल नहीं है कि वे दोनों अपने शैक्षणिक तरीके व व्यवस्था में समानान्तर थे या एक दूसरे की प्रतिकृति थे। चीन के ज्ञान के केन्द्रों के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं है, जिनसे इनकी तुलना की गयी है। नालन्दा के विषय में तो थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है, परन्तु वल्लभी की व्यवस्था के विषय में कुछ पता नहीं है कि यहाँ विश्वविद्यालयी शिक्षण शैली किस सीमा तक निश्चित हो चुकी थी। हालांकि शिक्षालय के रूप में दोनों के कुछ सामान्य लक्षण थे, परन्तु इस तथ्य से कि नालन्दा के विहार महायानी थे और वल्लभी के विहार हीनयानी, दोनों केन्द्रों के पाठ्यक्रम व शिक्षा के विषयों में पर्याप्त भेद रहा होगा। यदि विद्वान लोगों द्वारा सरकार में नियुक्ति पाने के प्रयासों के संदर्भ में अभिलेखों में वर्णित उपाधियाँ मैत्रक राजाओं की अतिशयोक्तियाँ नहीं हैं, तो निस्सन्देह वे विद्वान लोग

व ज्ञान के संरक्षक थे। साथ ही यह स्वाभाविक ही था कि वल्लभी के राज दरबार को सदैव ऐसे लोगों की आवश्यकता रहती थी, जिन्होंने अपने शैक्षणिक पाठ्यक्रम में वहुत उपलब्धियाँ प्राप्त की हों।

चीनी वर्णनों से ज्ञात होता है कि उस समय के बौद्ध विहार सभी शिक्षार्थियों के लिए खुले थे अर्थात भिक्षुओं व साथ ही साथ माणवकों के लिए भी। यहाँ दी जाने वाली शिक्षा के लाभ को उठाने के लिए प्रव्रजित होना आवश्यक नहीं था। शैव मतावलंवी मैत्रक राजा बौद्ध धर्म में भले ही रुचि न रखाते हों, परन्तु संस्कृति व ज्ञान के प्रति उनका अनुराग और दुड्डा महाविहार के निर्वाह के प्रति उनकी श्रद्धा निस्सन्देह वल्लभी को ज्ञान के केन्द्र के रूप में अग्रसर करने में सहायक रही थी। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह जाना जा सकता है कि वल्लभी में शिक्षार्थियों के लिए जैन व ब्राह्मण संस्थायें भी थीं और इस विषय में बौद्ध विहारों का एकाधिकार नहीं था। परन्तु राजकीय दान अधिकतर 'दुड्डा-विहार मण्डल' को ही दिये गये थे।

नौंवी शताब्दी का अन्त होते होते वंगाल के गौड़ नामक स्थान पर रचे गए मँजुश्री-मूलकल्प नामक ग्रन्थ के लेखक को भी मैत्रक विहारों के विषय में ज्ञान अवश्य था। गौड़ की दूरी वल्लभी से पूर्व की ओर एक हजार मील से अधिक ही होगी। अतः उसे (लेखक को) व्यक्तिगत ज्ञान नहीं रहा होगा। अपने ग्रंथ में वह भविष्यवाणी करने की परंपरागत शैली में वल्लभी के राजा और यहाँ के विहारों का उल्लेख करता है। इसी प्रकार वल्लभी के कुछ संदर्भ कथासरित-सागर में भी मिलते हैं, जो कि 1063 (एक हजार तिरसठ) से 1081 (एक हजार इक्यासी) ईसवी के मध्य कश्मीरी कवि सोमदेव द्वारा संस्कृत श्लोकों में रचित कहानी संग्रह है। एक समय अपनी संस्कृति व ज्ञान के लिए प्रसिद्ध यह नगर तब तक किंवदन्तियों में वर्णित एक नगर-मात्र रह गया था।

मैत्रक राज्य उस वंश के अन्तिम शासक शीलादित्य (तृतीय) के शासन के उपरान्त राष्ट्रकूट राजाओं के नियंत्रण में आ गया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने पूर्वगामी राजाओं द्वारा संरक्षित विहारों को दवाने का प्रयास नहीं किया था। वल्कि यह भी प्रतीत होता है कि दो राष्ट्रकूट राजाओं, दन्तिवर्मा और धारावर्ष, ने कंपिल्य विहार को मुक्त भेंटें दी थीं। आधुनिक सूरत नगर की सीमा पर, सौराष्ट्र के कंपिल्य नामक कस्वे में यह विहार था, जहाँ विदेशी आक्रमणों के कारण सिंध से आये बौद्ध भिक्षुओं ने एक विहार की स्थापना की थी। दन्तिवर्मा ने 867 (आठ सौ सरसठ) ईसवी में भिक्षु स्थिरमति के सुझाव पर कंपिल्य विहार के पक्ष में जमीनें दान की थीं। धारावर्ष के 884 (आठ सौ चौरासी) ईसवी के अभिलेख से यहाँ

निवास करने वाले सिंध के बौद्ध भिक्षुओं की संख्या 500 (पाँच सौ) होने का पता चलता है। ऐसा लगता है कि प्राचीन सौराष्ट्र में यह बौद्ध धर्म का अन्तिम केन्द्र था।

अतः निस्सन्देह वल्ल्भी पर अन्तिम प्रहार राष्ट्रकूटों की ओर से नहीं, बल्कि तज्जिक (अरब) हमलावरों की ओर से हुआ होगा। ऐसा कहा जाता है कि यह आक्रमण संभवतः आठवीं शताब्दी ईसवी के आठवें दशक में किसी समय हुआ होगा, जिससे मैत्रक विहार सहित वल्लभी की सभी इमारतें मिट्टी में मिल गयीं और अब उनका नामो-निशान तक नहीं मिलता है। परन्तु इस प्रकार के विध्वंस का ऐतिहासिक वर्णन अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है। केवल विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कुछ किंवदन्तियाँ मात्र उपलब्ध हैं, जो हमें इन विहारों के दुखदायी अन्त की थोड़ी सूचना देती हैं।

इस प्रकार ज्ञान का एक प्रसिद्ध केन्द्र इतिहास के अंधेरे में लुप्त हो गया। वल्लभी जैसा प्राचीन समृद्ध नगर जो गृहगुप्त के समय में एक व्यस्त बन्दरगाह भी था, नष्ट हो गया। परन्तु इसकी समृद्धि व ज्ञान-केन्द्र के रूप में इसकी छाप अमिट है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेता संकलिया कहते हैं "इसके हजारों भिक्षु व भिक्षुणियों ने छठी व छठी शताब्दी के बाद के गुजरात व काठियावाड़ की संस्कृति को प्रभावित किया था"। इसकी इसी ख्याति का परिणाम था कि वल्लभी के पतन के दो शताब्दी उपरान्त भी कथासरित-सागर के रचयिता कश्मीरी कवि सोमदेव की एक कहानी में इसको इस रूप में दर्शाया गया है कि विष्णुदत्त नामक व्यक्ति 16 वर्ष की आयु पूर्ण करने पर शिक्षा के लिए वल्लभी जाने की तैयारी करता है। पूर्व में बसे परिवार का होने पर भी, जहाँ कि प्रयाग, बनारस जैसे शिक्षा के केन्द्र थे, उसे सुदूर पश्चिम में वल्लभी में भेजा गया, यह तथ्य ही इसकी उत्कृष्ट प्रसिद्धि का ज्वलन्त प्रमाण है।

पहाड़पुर (सोमपुर)

भारत में बौद्ध धर्म के विकास में बिहार व उत्तर प्रदेश प्रान्तों के उपरान्त जिस क्षेत्र का विशेष महत्व है, वह है बंगाल। पाल राजाओं (जो कि बौद्ध थे) के संरक्षण में पूर्वी भारत में अनेकों विहारों व मंदिरों की स्थापना हुई थी, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण सोमपुर महाविहार था। यह स्थान आज पहाड़पुर के नाम से जाना जाता है। यह बंगलादेश के राजशाही जिले में जमालगंज रेलवे स्टेशन से लगभग पाँच किलोमीटर पश्चिम में है। यहाँ से प्राप्त सीलों पर लिखे अभिलेख "श्री सोमपुरे श्री-धर्मपालदेव महाविहारीय-आर्य-भिक्षु-संघस्य" से ज्ञात होता है कि इसकी स्थापना पाल वंश के द्वितीय शासक धर्मपाल (A.D. 770-810) ने की थी। कुछ विद्वानों के मतानुसार इसे धर्मपाल के पुत्र देवपाल ने अपने पिता के नाम पर बनवाया था। पहाड़पुर गाँव का नाम यहाँ पर प्राप्त अवशेषों की असाधारण ऊँचाई के कारण ही पड़ा है। यह स्मारक जमीन से लगभग 70 फुट ऊँचे टीले के आकार का था। इस संदर्भ में पास के दो अन्य गाँवों के नाम भी विशेष महत्व रखते हैं। ये नाम हैं धर्मपुरी तथा ओमपुर। इन दोनों नामों से विहार के संस्थापक धर्मपाल तथा स्थल के प्राचीन नाम सोमपुर का बोध होता है।

इस सोमपुर महाविहार की स्थापना व विकास मुख्यतः पाल राजाओं के शासन-काल में ही हुआ था। उनसे पूर्व के गुप्त वंशीय राजाओं के काल में इसके विषय में युवान-च्वांग के यात्रा वर्णन से पता चलता है। हालांकि उन्होंने यहाँ कुछ बौद्ध केन्द्र देखे थे, परन्तु उनके अनुसार इस स्थल पर नग्न निर्ग्रन्थ (जैन) ही अधिक थे। इस स्थल के प्राचीन इतिहास के विषय में सन् 1927 में मंदिर के खण्डहरों से प्राप्त 479 ईसवी के ताम्रपत्र (Copper-plate) में एक ब्राह्मण दम्पति नाथसर्म्मा तथा रामी द्वारा अर्हतों (जैनों) के रख-रखाव के लिए बड़ी मात्रा में जमीन दिये जाने का वर्णन है। जैनों के इस केन्द्र के प्रधान गुहनन्दी थे और स्थल का तत्कालीन नाम 'वट-गोहालि' था। इस नाम का अर्थ ग्वालों का निवास है। आज पहाड़पुर के समीप के एक अन्य गाँव के नाम का भी यही अर्थ है। संभवतः 'गोआल्पारा' नामक स्थान (गाँव) उसी स्थान का बोध कराता है।

इस महाविहार का तिव्वती बौद्धों के लिए अत्यधिक महत्व रहा है। 9वीं से 12वीं शताब्दी ईसवी के मध्य अनेकों तिब्वती भिक्षु विद्वानों ने इस स्थल की यात्रा की थी। तिव्वत में वौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले भिक्षुओं में से एक प्रमुख भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान अतिश ने इस सोमपुर विहार में अपने आध्यात्मिक गुरु रत्नाकर-शान्ति के साथ, जो विहार के स्थविर भी थे, अनेकों वर्प व्यतीत किये थे। उन्होंने भव्य की रचना का अनुवाद वीर्य सिंह और अपने तिव्वती शिष्य नग-त्सो (Nag-tsho) के साथ किया था, जो कि तिव्वती संग्रह में माध्यमिक-रत्न-प्रदीप के नाम से संग्रहित है। तिव्वत में वना सवसे पहला विहार 'सम-ये' भी सोमपुर विहार के नक्शे के आधार पर ही वना था।

आधुनिक काल में सवसे पहले सन् 1807-12 के मध्य यहाँ आये वुचनन हेमिल्टन (Buchanan Hamilton) ने पहाड़पुर के अवशेपों को देखा और उनकी विशेपता को समझा। इसके वाद लोस्टमकॉट (Loestmacott), कनिंघम इत्यादि ने भी इसको देखा। इसके महत्व को समझते हुए सन् 1919 में तत्कालीन भारत सरकार ने इसे संरक्षित स्मारक घोषित किया और कलकत्ता विश्वविद्यालय के निरीक्षण में सन् 1922-23 में उत्खनन कार्य आरंभ किया। सन् 1925-26 में भारतीय पुरातत्व विभाग ने विस्तृत पैमाने पर उत्खनन कार्य प्रारंभ किया जो कि सन् 1934 तक चला था। इस प्रकार नालन्दा की शिक्षण प्रणाली को आगे बढ़ाने और विक्रमशील, ओदन्तपुर आदि महाविहारों को प्रभावित करने वाला सोमपुर महाविहार प्रकाश में आया।

इस स्मारक की विशेपता यहाँ से प्राप्त भारत का सवसे वड़ा संघाराम और चवूतरे वाला मंदिर (पूजा स्थल) है। हालांकि भारत के लगभग सभी वौद्ध तीर्थ स्थलों में विहार मिलते हैं, परन्तु उनका आकार सामान्य होता है। इसके साथ ही यहाँ मंदिर, स्तूप इत्यादि विहारों से अलग एक भिन्न समूह के रूप में मिलते हैं। पहाड़पुर (सोमपुर) महाविहार अपनी प्रतिष्ठापना के समय से ही सुनियोजित रहा है। यह भिक्षु-निवास (Monastic Establishment) की आवश्यकताओं की दोनों शर्तों को–उचित विहार, जिसमें भिक्षुओं के निवास के लिए कक्ष हों और पूजा-स्थल एक साथ ही पूरी करता था। एक पूर्ण-निश्चित प्राँगण के मध्य ही ये दोनों आवश्यकतायें पूरी होती थीं। विहार का आकार इतना विशाल था कि इसमें 600 (छः सौ) से 800 (आठ सौ) तक भिक्षु एक साथ रह सकते थे। विहार के इस संयुक्त रूप से प्रतीत होता है कि यहाँ निवास करने वाले भिक्षु प्रारंभ से एक ही संप्रदाय

से संबंधित रहे होंगे, जिसके कारण यहाँ भिन्न-भिन्न मतों के भिक्षुओं के लिये अलग-अलग विहारों की आवश्यकता ही नहीं रही होगी।

इस विहार की लंबाई व चौड़ाई क्रमशः 922 (नौ सौ बाइस) फुट व 919 (नौ सौ उन्नीस) फुट है। भिक्षुओं के निवास कक्ष प्राँगण की भीतरी परिधि के साथ-साथ चारों दिशाओं में बने हैं और पूजा स्थल उनके मध्य ठीक प्राँगण के बीचों-बीच स्थित है। कक्षों की संख्या 177 (एक सौ सतहत्तर) है और आकार की दृष्टि से ये सभी सामान्य हैं। उत्तरी दिशा को छोड़कर प्रत्येक दिशा में कक्षों के मध्य एक विशेष खण्ड है, जिसमें तीन कक्ष समाहित हैं। उत्तरी दिशा में प्रवेश कक्ष है। उत्तरी दिशा के कक्षों की संख्या 45 (पैंतालिस) है, जबकि शेष दिशाओं में उपरोक्त विशेष खण्डों के कक्षों को छोड़ कर इनकी संख्या 44 (चौवालिस) है। कक्षों के सामने चारों दिशाओं में बरामदा वना है। विहार के चारों ओर चारदीवारी घिरी है, जो संभवतः सुरक्षा की दृष्टि से वनाई गई थी।

विहार का प्रवेश द्वार उत्तर की ओर वर्गाकार स्तंभों वाले द्वारमण्डप से होकर था, जिसका आकार 50 (पचास) फुट ×47 (सैंतालिस) फुट था। यहाँ तक पहुँचने के लिए छोटी सीढ़ियाँ थीं। इस प्रथम प्रवेश द्वार से एक दूसरा द्वारमण्डप जुड़ता था, जिसमें से होकर कक्षों के सामने से गुजरने वाले बरामदे तक पहुँचा जा सकता था। कक्षों का आकार लगभग समान व चौकोर है, परन्तु उनमें से किसी में भी प्रस्तर-शैय्या नहीं प्राप्त हुई है। उनमें अपेक्षाकृत बाद के निर्मित अलंकृत आधार मिले हैं, जो संभवतः प्रतिमाओं को प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से बनाये गये थे। कुछ कक्षों के सामने सीढ़ियाँ भी बनी थीं, जो प्राँगण से वरामदे तक पहुँचने में सहायक थीं। इस चतुर्भुजीय विहार के कक्षों और मुख्य पूजा स्थल के मध्य के विस्तृत रिक्त स्थान में अनेकों महत्वपूर्ण निर्मित स्थल, व्रतानुष्ठित (votive) स्तूप, कुएँ, इत्यादि वने हैं। इनमें प्रमुख है मुख्य पूजा स्थल की एक छोटी अनुकृति। इसके अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण स्मारक 120 (एक सौ वीस) फुट लंवा आयताकार विशाल कक्ष है, जो दक्षिणी बरामदे से लगा हुआ है। यह उत्तरी ओर से खुला है। पानी निकासी की दृष्टि से यह कक्ष एक उत्तम उदाहरण है। पानी आने के लिए भी नहर (channel) थी जो सूखी है। यह समीपस्थ नदी पद्मा से जुड़ती है, जो विहार की पूर्वी दीवार से सट कर वहती थी। इस कक्ष के पश्चिमी ओर एक खुला चवूतरा व तीन कुएँ थे। कुओं के दोनों तरफ दो कक्ष थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सव भोजन कक्ष के भाग थे और कक्ष भोजनालय के रूप में प्रयुक्त होता रहा होगा।

इस विहार से प्राप्त महत्वपूर्ण कलाकृतियों में कांसे की गणेश, उमा-महेश्वर और बुद्ध की 3 (तीन) फुट 3 (तीन) इंच ऊँची वरद मुद्रा की प्रतिमायें हैं। इनके अतिरिक्त मनसा की प्रस्तर प्रतिमा और कुवेर की अर्धपर्यकासन प्रतिमा भी है। कुछ प्रतिमाओं पर 'ये धम्मा हेतु प्रभवा......' बौद्ध धारणी उत्कीर्ण है। दशवलगर्भ का एक प्रस्तर अभिलेख भी यहाँ से प्राप्त हुआ है। हेवज्र की एक प्रस्तर प्रतिमा अपना विशेष महत्व रखती है और यह प्रतिमा वज्रयान के अन्तिम काल की है। इस देवता की प्रतिमायें हालांकि तिब्वत में बहुत सामान्य हैं, परन्तु भारत में वे दुर्लभ हैं।

प्राँगण के मध्य भाग में स्थित मुख्य पूजास्थल जो कि कुछ विद्वानों के मतानुसार एक स्तूप था, चारों ओर से दीवार से घिरा हुआ था। वास्तुकला की दृष्टि से यह एक अनूठा उदाहरण है। यह क्रास (cross) के आकार का है तथा इसकी प्रत्येक भुजा से प्रक्षेपण है। यह ऐसे तीन चवूतरों पर निर्मित है, जो एक के ऊपर एक स्थित हैं। इसकी ऊँची कुर्सी का आकार काफी विस्तृत था। उत्तर से दक्षिण 356 (तीन सौ छप्पन) फुट 6 (छः) इंच और पूर्व से पश्चिम 314 (तीन सौ चौदह) फुट 3 (तीन) इंच था। उत्तर दिशा के अतिरिक्त अन्य सभी दिशाओं का आकार पंच रथ था। उत्तरी दिशा में आकार सप्त रथ तथा कुछ अधिक लंवा था, जिससे कि जमीन से पहले चवूतरे के प्रवेश मार्ग तक पहुँचने वाली सीढ़ियों को भी शामिल किया जा सके।

हालांकि चवूतरे वाले मंदिर (पूजा स्थल) भारत में असामान्य नहीं हैं, परन्तु पहाड़पुर का पूजास्थल अभी तक प्राप्त सभी मंदिरों से अधिक विस्तृत है। इसकी वास्तुकला की शैली संभवतः पूर्वनिर्मित चवूतरे वाले स्तूपों से प्रेरित है जिनमें चार प्रमुख दिशाओं की ओर चार प्रक्षेपित आलों में बुद्ध की प्रतिमायें लगी होती थीं। इसके सदृश मंदिर भारत के बाहर अधिक उपलब्ध हैं, विशेपकर म्यान (वर्मा), जावा, कंवोडिया व इण्डोनेशिया में। इसकी पिरामिड जैसी रचना म्यान (वर्मा) के पैगोडाओं से अत्यधिक मेल खाती है। पैगोडा चवूतरों पर बने होते हैं और उनके ऊपर पूजा स्थल (स्तूप) होता है और अन्दर खाली स्थान होता है, जो मंदिर की नींव तक जाता है। पूर्वी भारत से इन देशों का घनिप्ठ संवंध रहा है और संभवतः वे पहाड़पुर की वास्तुकला-परंपरा से प्रेरित रहे हों। जावा में इस वास्तुकला शैली के समीपस्थ उदाहरण चंदी लोरो जोंगरंग (Chandi Loro Jongrang) और चंदी सेनू ऑफ प्रंवनम् (Chandi Senu of Prambanam) हैं। पाल काल में भारत व दक्षिण-पूर्वी

देशों के संबंध होने के स्पष्ट प्रमाण हैं क्योंकि नालन्दा से प्राप्त एक ताम्रपत्र अभिलेख सुमात्रा के राजा द्वारा देवपाल के समय में नालन्दा में एक विहार बनवाने का वर्णन करता है। इस वास्तुकला की कड़ी में ही मैनामति का मंदिर व विक्रमशील का मंदिर भी आते हैं।

पहाड़पुर मंदिर की भव्यता में वृद्धि का कारण इसकी कुर्सी की बाहरी दीवार व निचले चबूतरे की समृद्ध अभिव्यक्ति है। इन पर विभिन्न आकार व शैली की ईंटों तथा मृण्मूर्ति (Terrcota) की पट्टियों की चित्रवल्लरी है। कम से कम दो हजार चित्रवल्लरियाँ अपने वास्तविक स्थान पर मिली हैं और आठ सौ के लगभग अलग से प्राप्त हुई हैं। वे विभिन्न कलात्मक गुणों की हैं और मनुष्य की रुचि के सभी कल्पनीय विषयों और ब्राह्मण व बौद्ध दोनों से संबंधित दिव्य (अलौकिक) आकृतियों को दर्शाती हैं। इनके अतिरिक्त कुर्सी की दीवारों में 63 (तिरसठ) आले बने हैं, जिनमें प्रस्तर प्रतिमायें हैं। इनमें से कुछ प्रतिमायें देश की लोक-कथाओं तथा पौराणिक कथाओं को चित्रित करती हैं और धर्म व कला की प्रचलित परंपराओं से संबंधित हैं। शेष आलों में पारंपरिक प्रकार की ब्राह्मण प्रतिमायें समाहित हैं, जो गुप्त काल के बाद की परंपरा से संबंधित हैं। वे संभवतः किसी प्राचीन और शायद ब्राह्मण मंदिर से ली गई हैं और यहाँ अलंकरण के उद्देश्य से स्थापित की गई हैं।

मंदिर के मध्य भाग में एक चौकोर स्तंभ बना है, जो मुख्य भवन का मेरुरज्जु है। यह नीचे आधार में 6 (छः) फुट 6 (छः) इंच लंबा तथा 6 (छः) फुट 2 (दो) इंच चौड़ा था। इसमें नौ सीढ़ीनुमा गढ़न (Mouldings) बाहर की ओर थीं, जिनसे शीर्ष पर यह लगभग 13 (तेरह) फुट 6 (छः) इंच चौड़ा हो गया था। स्तंभ का भीतरी भाग ईट, मिट्टी व अन्य विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से भरा था। इस स्तंभ की ऊँचाई 41 (इकतालिस) फुट थी और यह स्वयं 30 (तीस) फुट ऊँचे धरातल पर निर्मित था। स्तंभ के ऊपरी भाग की दीवारें 18 (अट्ठारह) फुट 10.5 (साढ़े दस) इंच चौड़ी थीं, जो अधिरचना के विराट होने का आभास देती हैं। इन दीवारों के पार्श्व में 4 (चार) फुट चौड़ा बरामदा था। इस प्रकार बरामदे व स्तंभ सहित यह 72 (बहत्तर) फुट 9 (नौ) इंच चौड़ा एक खण्ड था। मंदिर का सबसे ऊपरी चबूतरा इसी बरामदे की छत से बनता था।

दूसरे चबूतरे पर आयताकार केन्द्रीय प्रक्षेपण था, जिसकी चौड़ाई 39 (उन्तालिस) फुट 6 (छः) इंच थी। इस प्रकार प्रत्येक दीवार से गर्भ-गृहों (Shrines) व मण्डपों के मध्य लगभग 16 (सोलह) फुट 7.5 (साढ़े सात) इंच जगह चारों ओर छूटती

थी। इस द्वितीय चवूतरे का आकार क्रास जैसा था और इसमें चारों तरफ दीवारों से घिरा 9 (नौ) फुट का प्रदक्षिणा-पथ था। मण्डप का फर्श ऊपरी चवूतरे के वरामदे से 28 (अट्ठाइस) फुट नीचे बना था। इसी प्रकार सवसे निचले चवूतरे पर भी एक आयताकार प्रक्षेपण था, जो कि द्वितीय चवूतरे से अपेक्षाकृत चौड़ाई में छोटा था। इस चवूतरे के चारों ओर भी एक प्रदक्षिणा-पथ था।

स्पष्टतया यह स्मारक सुपरिष्कृत व समरूप संकल्पना का परिणाम था और संयोजन की कुछ भी संभावना नहीं छोड़ता था। तथापि, पुनरोद्धार व छोटे-मोटे परिवर्तन अवश्य हुए होंगे, परन्तु वे अधिकतर नगण्य प्रकार के थे और उनसे मुख्य ढाँचे पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा था। उदाहरण के लिये कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल (885–912 A. D.) के शासनकाल में हुई मरम्मत का वर्णन किया जा सकता है, जव द्वितीय चवूतरे के गर्भ-गृहों के सामने के मण्डपों में छत को सहारा देने के लिए प्रस्तर स्तंभ लगाये गये थे।

सोमपुर विहार के पूर्व में लगभग 300 (तीन सौ) गज की दूरी पर 'सत्यपीर का भीट' नामक 6–7 फुट ऊँचा एक टीला था। इस टीले के उत्खनन से तारा का मंदिर, स्तंभों वाला एक मण्डप और प्रदक्षिणा-पथ प्राप्त हुए हैं। मंदिर के प्राँगण का आकार समलंबी था। उसकी दक्षिणी दीवार 140 (एक सौ चालीस) फुट, पूर्वी दीवार 250 (दो सौ पचास) फुट और पश्चिमी दीवार 300 फुट लंवी थी। उत्तरी दिशा में कोई दीवार नहीं मिली है। इस प्राँगण में विभिन्न आकार-प्रकार के जैसे गोल, चौकोर आदि लगभग 132 (एक सौ वत्तीस) व्रतानुष्ठित स्तूप प्राप्त हुए हैं। इनमें सवसे वड़ा व सवसे छोटा दोनों ही गोलाकार हैं और क्रमशः 25 (पचीस) फुट व 2 (दो) फुट 9 (नौ) इंच व्यास के हैं।

मुख्य मंदिर के दो भाग थे–उत्तर की ओर मुख्य गर्भ-गृह तथा दक्षिण की ओर स्तंभ वाला मण्डप। मंदिर के प्राँगण से लगभग पचास मृण्मूर्ति चित्रवल्लरियाँ मिली हैं, जिन पर आठ हाथों वाली तारा की आकृति और वौद्ध धारणी उत्कीर्ण है। पुरालिपि शास्त्र के आधार पर ये चित्रवल्लरियाँ 11वीं शताब्दी ईसवी से संबंधित प्रतीत होती हैं। नालन्दा से प्राप्त 12वीं शताव्दी के एक अभिलेख से पता चलता है कि विपुलश्रीमित्र ने सोमपुर के तारा के मंदिर का निर्माण कराया था। परन्तु प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि यह मंदिर 12वीं शताव्दी से पहले भी विद्यमान था, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विपुलश्रीमित्र ने वास्तव में इसका पुनरोद्धार ही कराया था। इसी भिक्षु ने सोमपुर विहार की मरम्मत का कार्य भी

करवाया था।

सोमपुर के पतन का प्रारंभ इस पर 11वीं शताब्दी में पूर्वी बंगाल के वर्मन वंश के पहले शासक जातवर्मा द्वारा हुए प्रहार से हुआ। इस प्रहार को तो सोमपुर विहार झेल गया परन्तु वास्तव में ब्राह्मण सेन राजाओं की उपेक्षा, धार्मिक भेद-भाव और विदेशी आक्रमणों द्वारा अस्त-व्यस्त सामाजिक व आर्थिक अवस्था ही इसके पतन का मूल कारण रही है। इसका अनुमान पहाड़पुर विहार व मंदिर के खण्डहरों में बड़े पैमाने के तहस-नहस का कोई भी प्रमाण न मिलने से लगाया जा सकता है। इस प्रकार 12वीं शताब्दी ईसवी तक बौद्ध धर्म का पूर्वी भारत में केन्द्र बने रहने के बाद सोमपुर विहार लुप्त हो गया। संभवतः यह भारत में बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा व अन्तिम केन्द्र था, जो कि भारत से बौद्ध धर्म के लुप्त होने के साथ ही साथ लुप्त हो गया। अब तो मात्र इसके खण्डहर ही उपलब्ध हैं, जो इसकी विशालता को दर्शाते हैं।

मैनामति

भारत के सुदूर पूर्व के क्षेत्रों में बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार अत्यन्त प्राचीन काल से ही है। बौद्ध धर्म के तान्त्रिक पक्ष के केन्द्र विशेषकर विहार, बंगाल व उत्तर-पूर्वी राज्य और आजकल के बंगलादेश के इलाके ही रहे हैं। बंगलादेश के तिप्पेरा जिले में कोमिला नामक स्थान से लगभग 8–9 कि० मी० पश्चिम की ओर मैनामति-लालमई पहाड़ी श्रृंखला के स्थानीय नाम से जानी जाने वाली कम ऊँचाइयों की ये पहाड़ियाँ कभी बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र रही थीं। ये पहाड़ियाँ उत्तर में मैनामति से लेकर दक्षिण में लल्मई रेलवे स्टेशन तक लगभग 16 कि०मी० की लंबाई तक फैली हैं। तिप्पेरा जिले का इस पहाड़ी के समीप का परगना पाटिकारा या पाईट्कारा नाम से जाना जाता है। प्राचीन ग्रंथों में पट्टिकेरा नाम एक राज्य व एक शहर दोनों के लिए आता है। इस स्थल की ठीक-ठीक पहचान नही हो पायी है, परन्तु निश्चय ही पट्टिकेरा या पट्टिकेरक प्राचीन बंगाल में बौद्ध धर्म का महान केन्द्र था। इस राज्य की सीमा म्यान (बर्मा) से मिलती थी तथा चन्द वंशी राजाओं के समय म्यान (बर्मा) और अराकान (Arakan) से उसके घनिष्ठ संबंध थे।

मैनामति नामक पहाड़ियों की इस श्रृंखला का प्राचीन नाम देवपर्वत था। देवपर्वत पर काफी प्राचीन समय से बौद्ध बस्तियाँ बस गयी थीं। यह स्थल समतट (आधुनिक स्यलहट) की समृद्ध व प्रसिद्ध राजधानी करमान्त (आधुनिक बद्कम्त) से मात्र 10 कि०मी० की दूरी पर है। यह स्थल खड्गों (सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध), देवों (8वीं–9वीं शताब्दी) तथा चन्द्रों (10वीं–11वीं शताब्दी) के शासनकाल में समृद्ध अवस्था में था। इन वंशों के अधिकतर राजा बौद्ध धर्मावलंबी थे। राजा श्रीधारण रात (7 वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) के कैलन् पत्र (plate) में देवपर्वत के क्षेत्र में बौद्ध केन्द्र के पक्ष में जमीन दान करने का वर्णन है। देव वंश के राजा भवदेव ने भवदेव-महाविहार नाम का एक विशाल विहार बनवाया था।

ग्यारहवीं शताब्दी से पहले बौद्ध क्षेत्र में इस केन्द्र के एक महत्वपूर्ण स्थान के

रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने का एक साक्ष्य अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता की एक पाण्डुलिपि है। यह पाण्डुलिपि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस पाण्डुलिपि में 16 हाथों वाली एक देवी चुन्दा का चित्र बना है जिसके नीचे 'पट्टिकेरे चुन्दावरभवने चुन्दा' लिखा है। इससे इस तथ्य को बल मिलता है कि पट्टिकेरा में बौद्ध देवी चुन्दा की प्रतिमा 10वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में पर्याप्त प्रतिष्ठा व मान-सम्मान की मानी जाती थी। चुन्दा मूलतः एक धारणी (रचना) है जिसको बौद्ध आचार्यों ने एक देवी का साकार रूप दे कर उन्हें 12 धारणी देवियों में से एक माना है। वह तन्त्र परंपरा के अनुसार वैरोचन की आध्यात्मिक पुत्री हैं और निशपन्न-योगावली के मञ्जुवज्रमण्डल में आठवें स्थान पर आती हैं। इस देवी की प्रतीमा यहाँ के अतिरिक्त कुर्किहार और राजशाही के नियामातपुर नामक स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं।

बर्मी इतिहास ग्रंथों में पट्टिकेरा राज्य के अनेकों संदर्भ हैं। इन ग्रंथों के वर्णन से 12 वीं शताब्दी में पट्टिकेरा राज्य और म्यान (बर्मा) के मध्य घनिष्ठ संबंध होने का ज्ञान होता है। 1270 ईसवी के एक शासक रणवकमल्ल श्री हरिकालदेव के शासन काल के 17 वें राजकीय वर्ष के एक ताम्रपत्र से, जिसे मैनामति ताम्रपत्र भी कहा जाता है, पूर्वी बंगाल में तेरहवीं शताब्दी ईसवी में बौद्ध धर्म की स्थिति का पता चलता है। इस ताम्रपत्र में राजा के एक अधिकारी, जो संभवतः बर्मी मूल का था, अश्वनिवन्धिक श्री धाड़ी ऐव द्वारा देवी दुर्गोत्तारा (तारा का एक रूप) को समर्पित एक विहार के पक्ष में रख-रखाव के लिए बेजखण्ड गाँव में जमीन दान करने का वर्णन है। दायक को सहजयान में प्रवीण बताया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह क्षेत्र सहजयान नामक एक उत्तरकालीन बौद्ध संप्रदाय का केन्द्र था। सहजयान ने वज्रयान के रहस्यवाद को तो आत्मसात किया हुआ था किन्तु उसके धर्मानुष्ठान का त्याग दिया था। परन्तु कुछ अन्य स्रोतों से पता चलता है कि यहाँ की प्रसिद्ध रानी मैनामति गोरखनाथ की शिष्या थीं तथा उनका पुत्र गोपिचन्द्र एक निम्न जाति के सिद्ध हडि-पा का शिष्य था। मैनामति-लालमई पहाड़ियों के उत्खनन से ज्ञात होता है कि यह स्थान विभिन्न धार्मिक संप्रदायों जैसे ब्राह्मणों, जैनों व बौद्धों की मिलन-स्थली था।

इस स्थल का वर्तमान नाम मैनामति (पर्वत-श्रृंखला का सुदूर उत्तरी भाग) एक रानी मयनामति/मदनावती के नाम से पड़ा है जिसके साथ बंगाल में बहुत सी किंवदन्तियाँ जुड़ी हैं। इनके विषय में माना जाता है कि वे रोहितगिरि (संभवतः

ललमई पहाड़ी) के बौद्ध धर्मावलंवी चन्द्र वंश (900–1050 ईसवी) के एक राजा माणिकचन्द्र की रानी थीं। यह केन्द्र विश्व के समक्ष उस समय आया जव पहाड़ियों के समतल शिखर और ढलानों पर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सेना शिविर स्थाकरते समय बौद्ध इमारतों के एक समूह के खण्डहर प्राप्त हुए थे। तिप्पेर उन कुछ जिलों में से है जहाँ वौद्ध धर्म के अनुयायी वर्तमान समय तक उसी प्रकार रहते हैं जैसे प्राचीन काल में रहा करते थे। ऐसे बौद्ध धर्मावलंवियों का केन्द्र मैनामति से 20–25 कि०मी० दूर लक्शम (Laksham) के अड़ोस-पड़ोस का क्षेत्र भी है।

बुद्ध की काँस्य प्रतिमायें, पतिकेर शब्द सहित रजत सिक्के, मूर्तियाँ, अलंकृत ईंटें तथा मृण्मूर्ति फलक इत्यादि जैसे मूल्यवान पुरावशेप अत्यधिक बड़ी संख्या में यहाँ के प्रारंभिक उत्खनन के समय मिले हैं। उसके वाद हुए इस स्थल के सर्वेक्षण से यहाँ के बौद्ध केन्द्र की समृद्धि के संवंध में प्राप्त साहित्यिक साक्ष्यों को बल मिलता है। इस पूरी पहाड़ी श्रृंखला पर कम से कम 20 ऐसे संभावित टीलों को पहचाना गया है। इन टीलों में से प्रमुख टीले निम्नलिखित स्थानीय नामों से जाने जाते हैं–आनन्दराजा का महल, रूपवान कन्या का महल, भोजराजा का महल, रूप्वन-मुडा, साल्वनराजा का महल, कोटिल मुडा, चर्पत्रमुडा तथा चण्डीमुडा। इन स्थलों से असंख्य मृण्मूर्ति फलक मिली हैं जिनमें गुप्तोपासना के विषयों की प्रचुरता है। दिव्य, अर्ध-दिव्य, पौराणिक, मानव व पशु-पक्षियों के जीवन-दृश्यों तथा फूल-पौधों को मुक्त हस्त से चित्रित करते हुए ये फलक लोक कला की परवर्ती परंपरा में निष्पादित हैं। इनमें जीवन के सभी पक्षों का प्रयोग किया गया है। आकृतियाँ अपनी गतिशील क्रिया के लिए अद्वितिय हैं और तकनीकी दृष्टि से परिपक्व हैं।

इनमें से कुछ टीलों की खुदाई सन् 1955–57 के मध्य पूर्वी पाकिस्तान के पुरातत्व विभाग द्वारा की गई थी। इन टीलों में संरचनात्मक अवशेषों की दृष्टि से साल्वनराजा का महल विशेपकर समृद्ध पाया गया है। यहाँ की खुदाई से लगभग 550 फुट चौकोर विशाल विहार मिला जिसे साल्वन विहार कहा जाता है। इसमें एक केन्द्रीय प्राँगण के चारों ओर 8 फुट 6 इंच चौड़ा वरामदा और 115 कक्ष मिले हैं। 74 फुट चौड़े प्रवेश द्वार तक ईटों से वने 174 फुट लंवे तथा 3.5 फुट चौड़े मार्ग द्वारा जाया जाता था। विहार में प्रवेश के लिए सीढ़ियाँ थीं जो 32 फुट लंवी और 23 फुट चौड़ी डयोढ़ी से हो कर जाती थीं। इस डयोढ़ी के दोनों ओर प्रहरी कक्ष थे। विहार 16 फुट 6 इंच मोटी बाहरी दीवार से घिरा था जो कक्षों की पिछली

दीवार का काम भी करती थी। कक्ष सामान्यतः 12×12 फुट आकार के थे परन्तु कुछ कक्ष आयताकार भी थे। प्रत्येक कक्ष एक दूसरे से 5.5 फुट मोटी दीवार से बँटा था और कक्ष के द्वार 3.5 फुट चौड़े थे जिनमें लकड़ी के दरवाजे लगते थे। विहार का नक्शा निस्सन्देह पहाड़पुर के विहार के समान ही था परन्तु अपेक्षाकृत छोटे आकार का था। अधिकतर कक्षों में एक आला और एक चूल्हा मिला है। कहीं-कहीं चूल्हे पर पकाने के पात्र भी मिले हैं जो दर्शाते हैं कि यहाँ भिक्षु अपना भोजन स्वयं पकाया करते थे।

प्राँगण के मध्य में एक पञ्च रथ मंदिर था जो पहाड़पुर के मंदिर के समान ही स्वस्तिकाकार था। एक किनारे से दूसरे किनारे तक इसकी लंबाई 170 फुट है। इस इमारत के अवशेषों को देख कर यह अनुमान लगाना कठिन है कि पहाड़पुर के मंदिर के समान ही इसके एक से अधिक चबूतरे थे या नहीं। परन्तु वर्तमान अवस्था में उत्तर की ओर 7 फुट चौड़ा प्रवेश मार्ग है और चार गर्भगृह हैं (क्रास की प्रत्येक भुजा में एक) जो प्रत्येक चार आयताकार प्रार्थनालय को जाते हैं। इन प्रार्थनालयों में बुद्ध की विशाल काँस्य प्रतिमायें थीं जिनमें से मात्र एक पश्चिमी प्रार्थनालय में विद्यमान है। अलंकरण के लिए नक्काशीदार ईंटों का प्रयोग, मृण्मूर्ति फलकों में बड़े पैमाने पर विषयों का प्रयोग और उनकी कला-परंपरा तथा तल-नींव के अग्रभाग का अलंकरण पहाड़पुर के मंदिर से समानता को और अधिक स्पष्ट करता है। निस्सन्देह यह विहार पहाड़पुर महाविहार के प्रारंभिक चरण का समकालीन है।

उत्खनन के दौरान प्राप्त एक मृण्मूर्ति सील से ऐसा ज्ञात होता है कि यह विहार बौद्ध राजा भवदेव (8वीं शताब्दी ईसवी) द्वारा निर्मित किया गया था। इस सील पर 'श्री-भवदेव-महाविहार (ईयू) भिक्षु-संघस्य' उत्कीर्ण है। विहार के एक कक्ष से राजा भवदेव द्वारा देवपर्वत (मैनामति-ललमई पर्वत-श्रृंखला) से जारी एक ताम्र पत्र भी मिला है। देवपर्वत से ही जारी एक अन्य आज्ञा-पत्र राजा द्वारा वेण्डमत्री-विहारिका के रत्न-त्रय को भूमि दान करने का वर्णन करता है। यह ताम्र-पत्र कहाँ मिला कहना कठिन है परन्तु वर्तमान में यह एशियाटिक सोसायटी के नियंत्रण में है।

यह पूरा समूह जिसमें विहार व मंदिर शामिल हैं क्रमशः तीन बार पुनर्निर्मित किया गया था। पुनर्निर्माण के पहले काल में मंदिर (केन्द्रीय इमारत) के नक्शे में मूलभूत अन्तर आया था। मंदिर में प्रदक्षिणा पथ सहित एक प्रार्थनालय, स्तंभों वाला एक केन्द्रीय कक्ष और उसके चारों ओर कक्ष समाहित हैं। दूसरे काल में भी इसी नक्शे का पालन किया गया परन्तु थोड़ा छोटे पैमाने पर। तीसरे काल के अवशेष इतने कम हैं कि उनसे कुछ भी अनुमान लगाना कठिन है।

विहार के निवासी कक्षों के नक्शे में मूल स्वरूप और प्रथम पुनर्निर्माण काल में कोई भी अन्तर नहीं था। दूसरे काल में केवल कुछ अतिरिक्त निर्माण हुआ था जैसे गर्भगृह, ईंटों के चवूतरे तथा कोने के कक्षों में ऊपरी मंजिल तक जाने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। तीसरे काल में वाहरी दीवार की चौड़ाई 16 फुट 6 इंच से कम करके 10 फुट कर दी गई और वरामदे सहित कमरे पीछे की ओर खिसका दिये गये थे। कक्षों के भीतर से प्राप्त वस्तुयें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें ताम्र-पत्र, रजत सिक्के, मृण्मूर्ति फलक, सीलें, स्वर्ण आभूषण, रजत सिल्ली और वुद्ध, तारा व बोधिसत्वों जैसे पद्मपाणि की काँस्य प्रतिमायें समाहित हैं।

साल्बान विहार के समान ही एक अन्य महत्वपूर्ण विहार एक टीले से मिला है जिसका स्थानीय नाम आनन्दराजा का महल है। यह एक चतुर्भुजीय विहार है जिसके मध्य में स्वस्तिकाकार मंदिर है। एक इतिहासकार एफ०ए० खान के अनुसार आनन्दराजा देव वंश का तृतीय शासक था। इस स्थल के समीप आनन्दराजा की दीघि नामक एक वड़ा तालाव है जो संभवतः विहार के निवासियों के प्रयोग में आता था।

दो अन्य मुख्य टीले रूपवान-कन्या का महल और भोजराजा का महल के नाम से जाने जाते हैं, जहाँ से प्राप्त विहारों के नक्शे आनन्दराजा के महल के समान ही हैं। रूपवान कन्या का महल के खण्डहर आनन्दराजा के खण्डहरों के दक्षिण में हैं। इस टीले की पैमाइश 400 फुट चौकोर तथा ऊँचाई 15 फुट है। यहाँ से एक केन्द्रीय इमारत और वाहरी दीवार के अवशेष मिले हैं। टीले के मध्य से मिले एक घनाकार प्रस्तर स्तंभ आधार पर चित्रित एक चैत्य खिड़की से एक प्रस्तर मण्डप या मंदिर के अस्तित्व का आभास मिलता है।

रूपवान मुडा नामक टीला चौथाई मील चौकोर क्षेत्र में फैला है। यहाँ ईंटों की लूटमार काफी बड़े पैमाने पर हुई है। एक विहार केन्द्रीय स्वस्तिकाकार मंदिर सहित मिला है जिसमें से वुद्ध की काँस्य प्रतिमाओं सहित सात पात्र मिले हैं। इन मूर्तियों के आधार पर वज्र वना है और निचली ओर बौद्ध मंत्र उत्कीर्ण हैं।

चर्पत्रमुडा नामक टीले से तीन ताम्र-पत्र मिले हैं जो चन्द्र वंश से संवंधित हैं। चण्डीमुडा नामक टीले के समीप के तालाव से दो विशिष्ट प्रतिमायें मिली हैं जिनमें से एक मञ्जुवर (मञ्जुश्री वोधिसत्व का एक प्रकार) की है और दूसरी में पाँच ध्यानी बुद्धों को दर्शाया गया है।

भवदेव महाविहार के अवशेषों से 3 मील उत्तर में कोटिलमुडा नामक एक अन्य महत्वपूर्ण समूह मिला है जिसमें स्तूप और आयताकार कक्ष समाहित हैं जो चारों ओर से दीवार से घिरे हैं। स्तूपों में से तीन अपने आयताकार चबूतरों, गोल मेधि इत्यादि के कारण विशेष हैं। ये तीनों एक ही कतार में खड़े हैं। बीच वाले स्तूप की मेधि के अन्दरूनी निर्माण में एक केन्द्रीय नाभि सहित एक चक्र और आठ तीलियाँ व एक घेरा समाहित हैं। तीलियों के मध्य के कक्षों से अनेकों प्रस्तर-पट्ट मिले हैं जिन पर बुद्ध व बोधिसत्व की आकृतियाँ बनी हैं और सैकड़ों छोटे मिट्टी के स्तूप प्राप्त हुए हैं जिन पर बौद्ध मंत्र उत्कीर्ण हैं। अन्य दोनों स्तूपों का ढाँचा ठोस है और उनमें एक केन्द्रीय स्तंभ सहित छोटे मिट्टी के स्तूप व सीलें समाहित हैं। इस स्थल से अनेकों मृण्मूर्ति फलक मिले हैं जिन पर धारणियाँ उत्कीर्ण हैं।

इस महान धार्मिक केन्द्र के पतन के समय के विषय में साहित्यिक और अन्य स्रोतों से कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। इस स्थल को शाही संरक्षण प्रदान करने वाले राजाओं में भवदेव का नाम ही मिलता है। अन्य राजाओं व इस बौद्ध केन्द्र के प्रति उनके योगदान के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं मिलता है। परन्तु अनुमान लगाया जा सकता है कि पाल राजाओं के पतन के उपरान्त बौद्ध धर्म की अवनति के काल में यह स्थल भी अपना महत्व खो बैठा था। हालांकि इस स्थल के समीप के क्षेत्रों में आज भी बौद्ध अनुयायी निवास करते हैं परन्तु प्राचीन अवशेष प्रयोग में न होने के कारण विलुप्त हो गये हैं जिन्हें विस्तृत उत्खनन के द्वारा ही प्रकाश में लाना संभव है।

अजन्ता

भारत में गुफा मंदिर के उत्खननकर्ताओं में बौद्धों का प्रथम स्थान है। बौद्ध गुफायें मुख्यतया दो प्रकार की होती हैं–चैत्य-गृह और विहार। भारत की गुफाओं में अजन्ता की गुफायें वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला का वेहतरीन संगम प्रस्तुत करती हैं। कला की पराकाष्ठा के समीप होने के कारण ही यह विश्व भर के सैलानियों, कलाकारों और विद्वानों आदि के आकर्षण का केन्द्र हैं।

अजन्ता गुफायें सड़क मार्ग द्वारा औरंगाबाद (महाराष्ट्र) से 106 कि०मी० और समीपस्थ रेलवे स्टेशन जलगाँव से 60 कि०मी० की दूरी पर हैं। द्वितीय शताव्दी ईसा पूर्व से लेकर नौवीं शताब्दी ईसवी तक में इन गुफाओं का निमार्ण कार्य हुआ, परन्तु मोटे तौर पर 650 ईसवी तक ही निर्माण कार्य सुचारू रूप से हुआ है। वास्तुकलाविज्ञ व इतिहासकार परसी ब्राउन (Percy Brown) के अनुसार यहाँ निर्माण कार्य 642 ईसवी में रुक गया था जब पल्लव राजा नरसिंहवर्मन प्रथम ने चालुक्य राजाओं को पराजित कर सभी कलाकारों को जबर्दस्ती अपने राज्य में हिन्दू मंदिरों के कार्य में लगा लिया था। संभवतः यही कारण है कि अजन्ता में कुछ गुफायें अपूर्ण अवस्था में भी हैं।

अपूर्ण गुफाओं सहित गुफाओं की कुल संख्या तीस है जिनमें गुफा सं० 9,10,19,26 व 29 चैत्य-गृह और शेष पच्चीस गुफायें विहार हैं। कालक्रम के अनुसार गुफा सं० 8,9,10,12,13 और 15 A द्वितीय व प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व की और बौद्ध धर्म के हीनयान संप्रदाय से संबंधित हैं। शेप गुफायें महायान संप्रदाय से संबद्ध और 450 से 650 ईसवी के मध्य की हैं।

अजन्ता की गुफायें लगभग 1200 साल के लंवे अन्तराल तक संसार के सामने से लुप्त रहीं और जंगल-झाड़ी के वीच गुमनामी के दिन झेलती रहीं। जंगली जानवरों ने इन गुफाओं में अपने घर वना लिये थे तथा वारिश व समय के थपेड़ों से भी इनको काफी नुकसान पहुँचा है।

सन् 1876 में इनका पता अचानक ही चला जव मद्रास सेना से संबंधित अंग्रेज

अफसरों का एक दल समीपवर्ती इन्ध्यहद्री पहाड़ियों पर अभ्यास करने आया था। एक छुट्टी के दिन उनमें से कुछ लोग जंगली जानवरों का शिकार करने के लिए इधर आये तो एक स्थानीय वालक ने उन्हें वताया कि नीचे तंग घाटी में बाघ रहते हैं। यहाँ अचानक एक सिपाही की नजर गुफा सं० 10 के अग्रभाग पर पड़ गयी।

इस खोज के महत्व को थोड़ा बाद में समझा गया जब श्री विलियम एरस्किन (William Erskine) ने सन् 1822 में बॉम्बे लिटरेरी सोसायटी में इन गुफाओं से संबंधित एक लेख पढ़ा। तत्पश्चात 16वीं Lancers के लेफ्टिनैन्ट अलेक्जेण्डर सन् 1823 में यहाँ आये। इस वीच अन्य आगुन्तक यहाँ आये व गये और स्मृति-चिन्ह के रूप में दीवारों से कुछ टुकड़े काट कर ले गये। धीरे-धीरे गुफाओं ने विद्वानों को आकर्षित करना प्रारंभ कर दिया था। सन् 1843 में प्रसिद्ध वास्तुकलाविद व इतिहासकार जेम्स फॉरगूशन यहाँ आये और यहाँ की हालत देख चिन्तित हो उन्होंने ईस्ट ईण्डिया कम्पनी से इनको वचाने के लिये प्रयास करने की प्रार्थना की। उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप मद्रास सेना से जुड़े कैप्टन रोवर्ट गिल की नियुक्ति हुई। वे सन् 1844 में यहाँ आये और अपने जीवन के शेप 27 वर्प यहीं व्यतीत किये। सन् 1870 में वॉम्बे स्कूल ऑफ आर्ट के प्रिंसिपल जॉन ग्रिफिथ्श (John Griffiths) एक दल सहित यहाँ आये और यहाँ के चित्रों इत्यादि की अनुकृतियाँ बनाई थीं। सन् 1918 में जापानी वौद्ध कलाकारों का एक दल क्योटो विश्वविद्यालय के ओरियण्टल आर्टस विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर सावामूरा के नेतृत्व में अनुकृतियाँ वनाने यहाँ आया था। सन् 1920 में भारतीय संस्कृति की प्रेमी लेडी हेरींघम (Herringham) के अनुरोध पर हैदरावाद के निजाम ने दो इटालियन जीर्णोद्धारकर्त्ता सिनोर सिसोनि (Signor Cecconi) और उनके सहायक को इस कार्य में लगाया था। सन् 1951 से अजन्ता भारतीय पुरातत्व विभाग की निगरानी में है, जिसने काफी मेहनत से इसकी सुरक्षा व रखरखाव के कार्य को किया है।

अजन्ता की गुफायें एक पहाड़ को अर्धचन्द्राकार काट कर बनाई गई हैं। ठीक सामने तंग घाटी का मुहाना है जिसमें वघोरा नामक एक पतली नदी बहती है। नदी विहार में रहने वाले भिक्षुओं की जल आपूर्त्ति का मुख्य स्रोत थी और गुफाओं को जाने वाला मुख्य मार्ग नदी के किनारे से ही था, जहाँ से प्रत्येक गुफा तक सीढ़ियाँ जाती थीं। ये गुफायें भिक्षुओं की पीढ़ी दर पीढ़ी की मेहनत का परिणाम हैं। सवसे पहले गुफा सं० 10 का निर्माण हुआ था। तत्पश्चात अन्य हीनयानी गुफाओं का निर्माण इसके दोनों ओर हुआ। महायान कालीन गुफायें एक किनारे में जोड़ी गई हैं। गुफाओं का क्रमांकण पश्चिमी ओर के प्रवेश मार्ग से किया गया है, अतः उनके क्रमांक का उनके काल से कोई संवंध नहीं है। अजन्ता की 30

गुफाओं में से लगभग 16 में भित्ति-चित्र हैं। सर्वोत्तम भित्ति-चित्र गुफा सं० 1,2,16,17 और 19 में देखे जा सकते हैं। मूर्तिकला के बेहतरीन उदाहरण गुफा सं० 1,4,17,19 और 26 में हैं। यदि गुफाओं को बौद्ध गुहा वास्तुकला के विकास की दृष्टि से देखना उद्देश्य हो तो गुफाओं को क्रमशः सं० 10,9,12,19,24,26,2 और 1 के क्रम में देखना पर्याप्त होगा।

अजन्ता की गुफाओं की मुख्य विशेषता यहाँ के भित्ति-चित्र हैं जो मुख्यतया बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं से संबंधित हैं। चित्रकारों ने समकालीन जीवन से भी अनेकों दृश्यों को लिया है, अतः ये चित्र बौद्ध धर्म को महिमामण्डित करने वाली धार्मिक कला मात्र बन कर ही नहीं रह गये हैं अपितु जन-सामान्य के जीवन व संस्कृति का भी ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। यहाँ के चित्र एकदम सजीव हैं, मानव-मुख भावों से भरे हैं और फूलों, पक्षियों व पशुओं का चित्रण पूर्णतः प्राकृतिक व रोचक है।

गुफा सं० 10 यहाँ का प्राचीनतम और सबसे बड़ा चैत्य-गृह है। यहाँ से प्राप्त तीन छोटे अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारंभ में बना था। विशाल आकार के आधार पर यह चैत्य-गृह भारत में दूसरे स्थान पर आता है, पहला स्थान कार्ले के चैत्य-गृह का है। 369 वर्ग मीटर के क्षेत्र में समाहित इस चैत्य-गृह की लंबाई 29.5 मीटर व चौड़ाई 12.5 मीटर है। इसका अर्धवृत्ताकार भीतरी भाग 39 अष्टभुजाकार स्तंभों द्वारा एक मध्यभाग, एक अर्धवृत्ताकार कक्ष व पार्श्व-वीथियों में बँटा है। अर्धवृत्ताकार कक्ष में बने स्तूप की मेधि दो-मंजिली है जिस पर अण्ड, हर्मिका, छत्र इत्यादि हैं। चैत्य-गृह की छत काष्ठ-वास्तुकला से प्रस्तर-वास्तुकला तक पहुँचने की परंपरा का बेहतरीन उदाहरण है।

अजन्ता की गुफाओं का सबसे अधिक महत्व यहाँ उपलब्ध भारतीय चित्रकला के प्रारंभिक उदाहरणों से है। चित्रों के साथ लिखित अभिलेख स्वयं यह घोषित करते हैं कि ये चित्र द्वितिय शताब्दी ईसा पूर्व के हैं। आकृतियों के वस्त्र, केशविन्यास व आभूषण साँची में ईसा पूर्व के काल में बनी कुछ मूर्तियों से मेल खाते हैं, परन्तु यहाँ पर उनका प्रदर्शन अधिक मुक्त व प्रौढ़ है। चित्रवल्लरी के समान बने इन भित्ति-चित्रों के विषय धार्मिक अधिक हैं, उदाहरणार्थ एक राजा द्वारा अपने परिजनों सहित बोधिवृक्ष की धर्मानुष्ठान पूजा, एक चैत्य-गृह की ओर जाता एक राजसी युगल, छद्दन्त जातक, साम जातक इत्यादि। इन पूर्व-निर्मित हीनयान कालीन चित्रों के साथ-साथ यहाँ बाद में बने महायान कालीन चित्र भी हैं जिनमें प्रायः बुद्ध या बोधिसत्वों को दर्शाया गया है।

प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में बनी गुफा सं० 9 आयताकार है, परन्तु स्तंभावली अर्धवृत्ताकार ही है। इस गुफा का अग्रभाग काफी प्रभावशाली है किन्तु शेष गुफा का संयोजन गुफा सं० 10 के समान ही है। यह गुफा अपेक्षाकृत बाद में वनी होने के कारण वास्तुकला की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है।

गुफा निर्माण के इस प्रथम दौर के वाद लगभग चार शताव्दियों की निष्क्रियता के उपरान्त उत्खनन कार्य पुनः अधिक बड़े पैमाने पर प्रारंभ हुआ और 6 ठीं शताव्दी ईसवी के अन्त तक चला था। इस दूसरे दौर का सवसे अधिक प्रभावशाली और वहुफलदायक काल पाँचवी शताव्दी का उत्तरार्ध और छठी शताव्दी ईसवी का पूर्वार्ध रहा है, जव यह क्षेत्र वाकाटकों के आधिपत्य में रहा था। अतः गुफा सं० 16 अपनी खिड़कियों, द्वारों, चि-वीथियों, अलंकृत स्तंभों, चैत्य-मंदिर, मण्डप इत्यादि के कारण अजन्ता का सबसे सुन्दर विहार है जो राजा हरिशेण (475–500 ईसवी) के एक मंत्री वराहदेव की भेंट है। गुफा सं० 17 भी गुफा सं० 16 के समान उत्तम विहार है और इसी राजा के एक सामन्त राजकुमार द्वारा वनवाया गया था।

इस दूसरे दौर में प्रयोग की प्रारंभिक अवस्था के उपरान्त विहारों के सामान्य ढाँचे ने निश्चित रूप ले लिया था, हालांकि उनमें से प्रत्येक के कुछ अपने विशेष लक्षण हैं। देश-व्यापी परंपरा का पालन करते हुए स्तंभों वाले सभागार की पिछली दीवार के मध्य में, प्रवेश द्वार के ठीक सामने, वुद्ध की विशाल प्रतिमा सहित एक चैत्य-मंदिर का निर्माण होने लगा। सभागार के तीनों ओर कक्षों की कतारें वनने लगीं। अनेकों गुफाओं में चैत्य-मंदिर के पहले गर्भ-गृह बने हैं। कहीं-कहीं पिछली और बगल की दीवारों में भी सहायक चैत्य-मंदिर वनाये गये हैं। विहारों में गुफा सं० 6 मात्र ही दो-मंजिली है। वरामदे और सभागार के स्तंभ उत्कृष्ट कलाकारी से अलंकृत हैं। द्वार-चौखटें भी उतनी ही सुन्दर व धनी हैं। वुद्ध, बोधिसत्व जैसे पद्मपाणि, वज्रपाणि, अवलोकितेश्वर और अन्य आकृतियाँ जैसे नागराज, यक्ष, पाञ्छिक व हरिती आदि का चित्रण सुन्दर व मनमोहक है।

इस दौर के चैत्य-गृहों में गुफा सं० 29 अपूर्ण है। शेप गुफा सं० 19 व 26 पूर्व-निर्मित चैत्य-गृहों के नक्शे अनुसार ही वनी हैं। परन्तु उनमें अलंकरण प्रचुरता से है और अर्धवृत्तकक्ष के स्तूप के अग्रभाग में बुद्ध की प्रतिमा का समावेश कर दिया गया है। गुफा सं० 19 सजावटी कला और मनोहर सादृश्यता का संयोजन है जिसमें सभी तत्वों का पूर्ण सन्तुलन विद्यमान है। इस चैत्य-गृह का अग्रभाग एक चैत्य-खिड़की, जिसके दोनों ओर यक्ष वने हैं और अपनी स्तंभों वाली छोटी डयोढी

के कारण अत्यन्त भव्य लगता है। भीतरी भाग भी इतना ही सुन्दर है। शीर्ष वाले स्तंभों पर मध्य में बुद्ध और पार्श्व में घुड़सवार, उड़ते हुए युगल, भिक्षु व संगीतकार प्रदर्शित हैं। दीवारों का प्रत्येक अंश प्रचुरता से अलंकृत है। आलों में खड़ी या बैठी अवस्था में बुद्ध और बोधिसत्व बने हैं।

स्तूप के आकार में भी परिवर्तन देखा जा सकता है। गुफा सं० 10 के स्तूप के सामान्य स्वरूप की जगह यहाँ के स्तूप ने पूर्णतः अलंकृत रूप प्राप्त कर लिया है और छत तक की ऊँचाई को पहुँच गया है। मेधि ऊँची हो गई, अण्ड का आकार सिकुड़ गया और हर्मिका की भी लंबाई बढ़ गई है। ऊपर तीन तल्ले की छत्रावली को सहारा देती हुई दिव्य आकृतियाँ दिखाई देती हैं। अपेक्षाकृत बाद में बने स्तूपों में छत्र का महत्व बढ़ता गया, यहाँ यह पूरे ढाँचे का लगभग आधा भाग है। अग्रभाग में बुद्ध की विशाल खड़ी प्रतिमा बनी है। गुफा के आगे बढ़े प्राँगण की बाँयी दीवार पर नागराज व उसकी रानी की अति सुन्दर आकृति बनी है। प्राँगण के दोनों ओर दो कक्षों सहित चैत्य-मंदिर बने हैं।

गुफा सं० 19 के समान गुफा सं० 26 में भी मूर्तियाँ उतनी ही प्रचुरता से हैं, परन्तु यह चैत्य-गृह अपेक्षाकृत बड़े आकार का है। यहाँ की मुख्य विशेषता इसकी पूर्वी दीवार में बने बुद्ध के महापरिनिर्वाण और बुद्ध की मार विजय के दृश्य हैं। स्तूप के अग्रभाग में बुद्ध की प्रलंबपाद-आसन में बैठी प्रतिमा है। इस गुफा में अजन्ता में बनी बुद्ध की सबसे बड़ी और सबसे छोटी दोनों प्रकार की मूर्तियों को देखा जा सकता है।

दूसरे दौर की चित्रकला भी लगभग तीन शताब्दियों तक चलती रही है। अपूर्ण गुफाओं और पूर्व निर्मित चैत्य-गृहों सहित लगभग सभी गुफाओं में इस काल में चित्र बनाये गये थे। ये भित्ति-चित्र अपनी धनी रंग-पद्धति, उत्तम छायाकरण, लयबद्ध व प्रभावशाली संयोजन, बेहतरीन अभिव्यंजकता, अत्यधिक उन्नत आकृति-शैली, सुन्दर नारी शरीर-सौष्ठव और भाव-भंगिमा के चित्रण से सर्वोच्च कला-स्तर को पहुँच गये हैं।

गुफा सं० 2 और 1 में अजन्ता में बने सर्वोत्तम चित्र संकलित हैं। गुफा सं० 2 एक महायान कालीन विहार है जिसमें मुख्य सभागार के चारों ओर भिक्षुओं के कक्ष तथा पिछली ओर मुख्य चैत्य-मंदिर है। मुख्य सभागार में 11 स्तंभ हैं। बुद्ध प्रतिमा वाले मुख्य चैत्य-मंदिर के सामने गर्भ-गृह और बाँयी तथा दाँयी ओर क्रमशः यक्ष व हरिती मंदिर हैं। यहाँ बने चित्रों में विविध विषय हैं। इनमें प्रमुख हैं–बुद्ध के जन्म का दृश्य, एक सहस्र बुद्ध, पंडित विदुर की कथा वाली जातक, इत्यादि।

गुफा सं० 1 अजन्ता का सर्वोत्तम विहार है। यह 64 फुट वर्गाकार है और लगभग प्रथम शताब्दी ईसवी का निर्मित है। इसका ढाँचा भी गुफा सं० 2 के समान है। विहार की बाँयी दीवार पर महाजनक जातक के दृश्य चित्रित हैं जिनमें प्रमुख हैं–नृत्य दृश्य, हाथी पर विराजमान महाजनक, राजा का महल से प्रस्थान और सन्यास ग्रहण करने के दृश्य। गर्भ-गृह के बाँयी ओर बोधिसत्व पद्मपाणी और दाँयी ओर वज्रपाणि बने हैं। दाँयी दीवार पर चम्पेय जातक और राजमहल के दृश्य चित्रित हैं। मुख्य चैत्य-मंदिर में धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की प्रतिमा है। इन दोनों गुफाओं में छत पर बने चित्र अलंकरण के लिए हैं। इनमें फूल, पत्ती, फल, पशु व पक्षियों, मनुष्य व दिव्य आकृतियों के चित्रण द्वारा प्रकृति की सुन्दरता को बखूबी दर्शाया गया है।

इस प्रकार भारत की प्राचीनतम व बेहतरीन कला-परंपरा की धरोहर अजन्ता की गुफायें डेढ़-दो हजार साल पुरानी भारतीय संस्कृति व कला के दर्शन करने के इच्छुक विश्व के प्रत्येक भाग के विद्वानों, कलाकारों व पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। भारत की एक प्रबल विचारधारा बौद्धों के भिक्षुओं की पीढ़ी-दर-पीढ़ी की मेहनत जो आज भी सजीव लगती है बस देखते ही बनती है। इन भित्ति-चित्रों का विशेष महत्व इस बात में भी है कि भारत में बाघ गुफाओं के कुछ चित्रों को छोड़कर भारतीय कला-परंपरा के नमूने अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हैं। संभवतः भारत के बाहर के बौद्ध संसार की कला-परंपरा जैसे सिगिरिया (श्री लंका) और तुंग-हुआंग (Tung Huang, Central Asia) की कला-परंपराओं को भी अजन्ता की चित्रकला ने प्रभावित किया हो।

एलोरा

एलोरा की प्रसिद्ध गुफायें महाराष्ट्र के औरंगाबाद शहर से उत्तर-पश्चिम में लगभग 25 कि०मी० की दूरी पर एक पहाड़ी पर स्थित हैं। इस पहाड़ी को समीपस्थ गाँव वेरूल या एलोरा के नाम से ही जाना जाता है। पहाड़ी के पश्चिमी भाग में दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ती हुई ये गुफायें लगभग दो कि०मी० के क्षेत्र में एक रेखा में फैली हैं। गुफाओं की कुल संख्या 34 है जो बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों से संबंधित हैं। गुफा सं० 1 से 12 बौद्ध गुफायें हैं जो महायान परंपरा के वज्रयान संप्रदाय से संबंधित हैं और 600 से 800 ईसवी की हैं। गुफा सं० 13 से 29 हिन्दू धर्म से संबंधित हैं और शिव को समर्पित हैं। ये 600 से 900 ईसवी में बनी हैं। गुफा सं० 30 से 34, 800 से 1000 ईसवी में बनी और जैन धर्म के दिगंबर संप्रदाय से संबंधित हैं। इन तीन प्रमुख धर्मों के पूजा स्थलों का साथ-साथ पाया जाना प्राचीन भारत की धार्मिक सहिष्णुता को दर्शाता है।

एलोरा प्राचीन भारत के दो प्रमुख व्यापार मार्गों के मध्य स्थित है। पहला मार्ग पाठन से बड़ौच को जाता था और दूसरा अजन्ता से उज्जैन को जोड़ता था। अतः भिक्षुओं के यहाँ निवास करने और तीर्थयात्रियों व व्यापारियों के निरन्तर आगमन, दोनों ही दृष्टि से इसकी स्थिति अत्यन्त सुविधाजनक थी। दो प्रमुख राजवंशों–दक्खन के चालुक्य (550–642 ईसवी) और राष्टकूट के संरक्षण में एलोरा का उत्खनन कार्य हुआ है। अजन्ता की गुफाओं के समान एलोरा की गुफायें सदियों तक वीरान नहीं रहीं या बौद्ध जगत द्वारा भुला नहीं दी गयी थीं। अपने पूरे इतिहास में यह सदैव एक सक्रिय तीर्थस्थल के रूप में जाना जाता रहा है। समकालीन राष्टकूट अभिलेखों में और अरब व यूरोपीय यात्रियों के वर्णनों में इस स्थल के संदर्भ मिलते हैं।

इन गुफाओं को बनाने वाले कलाकारों ने नवीनता और नये आकार देने की प्रबल अभिलापा के कारण शास्त्रीय शैली के सभी प्रतिवंधों को ताक पर रख कर

भव्य गुफाओं का निर्माण किया है और इस प्रकार एलोरा इतने बड़े पैमाने पर मूल रूप में बनी बौद्ध गुहा-वास्तुकला का दर्शनीय स्थल वन गया है। अधिकतर गुफायें मूलतः चित्रित थीं परन्तु अब चित्रकला के थोड़े और वहुत मन्द साक्ष्य ही उपलब्ध हो पाते हैं।

यहाँ बने चैत्य-गृहों के द्वारों पर वोधिसत्व वने हैं जिनके साथ प्रायः अन्य आकृतियाँ भी हैं जिनमें स्त्री देवियाँ भी शामिल हैं। केवल इन वोधिसत्वों की आकृतियाँ ही स्वतन्त्र रूप से गुफा की दीवारों पर प्रदर्शित नहीं हैं बल्कि वज्रयान देवकुल के अन्य सदस्य जिनमें देवियाँ भी शामिल हैं, स्वतंत्र रूप से दर्शायी गयी हैं। पञ्चरक्षा-मण्डल की तान्त्रिक देवी महामयूरी की आकृति कम से कम पाँच जगह मिलती है। इन गुफाओं में पहली बार अवलोकितेश्वर को आठ महा-कष्टों से उद्धारक के रूप में दर्शाया गया है। गुफा विहारों में परवर्ती बौद्ध देवकुल की आकृतियों के अभाव को मद्देनजर रखते हुए मूर्तिकला के क्षेत्र में यहाँ वनी इन आकृतियों का निस्सन्देह विशेष महत्व है।

प्रारंभिक गुफाओं में बुद्ध को सदैव दो वोधिसत्वों और उड़ते हुए विद्याधरों के साथ दर्शाया गया है परन्तु परवर्ती गुफाओं में अनेकों अन्य बोधिसत्वों को भी दिखलाया गया है। निस्सन्देह चैत्य-मंदिर इन वोधिसत्वों और बुद्ध की लघु आकृतियों से परिपूर्ण हैं। बुद्ध की प्रतिमायें विशाल पैमाने पर हैं और सामान्यतया धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में प्रलंवपाद-आसन में दिखायी गयी हैं, उदाहरणतया गुफा सं० 2–6 और 8–10। परन्तु बुद्ध की भूमि-स्पर्श मुद्रा और ध्यान-मुद्रा की प्रतिमायें गुफा सं० 11 व 12 में दिखती हैं।

बौद्ध धर्म से संवंधित इन 12 गुफाओं में से विशेष महत्वपूर्ण गुफायें सं० 2,5,10,11 व 12 हैं। सुदूर दक्षिण से प्रारंभ होने वाली गुफा सं० 1 एक आडंवरहीन सादा विहार है जिसमें एक स्तंभों वाली डयोढी के अन्त में कक्ष, एक वैंचों वाला सभागार तथा आठ कक्ष, चार पीछे और चार दक्षिण दिशा की ओर समाहित हैं।

गुफा सं० 2 के बरामदे के दोनों ओर के आलों में बुद्ध की आकृतियों सहित वाँयी ओर के आले में जम्भल और दाँयी ओर के आले में हरिती की आकृति बनी है। स्तंभों वाले सभागार की पार्श्व-वीथियों में उपदेश देते हुए बुद्ध की प्रलंवपाद मुद्रा में वनी विशाल आकृतियाँ सहायक वोधिसत्वों के साथ वनी हैं। छत को सहारा देते हुए 12 विशाल स्तंभ एक वर्ग में वने हैं। प्रत्येक स्तंभ एक ऊँचे वर्गाकार आधार पर स्थित है। पार्श्व-वीथियों के स्तंभों में पूर्ण-कुंभ शीर्ष हैं। चैत्य-मंदिर में

बुद्ध की विशाल प्रतिमा और उसके बगल में पद्मपाणि और मँजुश्री प्रदर्शित हैं। सभागार व चैत्य-मंदिर दोनों के दरवाजों पर बोधिसत्वों की विशाल आकृतियाँ बनी हैं।

गुफा सं० 5 अपेक्षाकृत ऊँचे स्थान पर है और महार्वारा के नाम से जानी जाती है। इसमें एक काफी बड़ा आयताकार सभागार समाहित है जो आयताकार रूप में व्यवस्थित स्तंभों के कारण एक केन्द्रीय मध्य भाग और पार्श्व-वीथियों में बँटा है। इस गुफा की लंबाई 117 फुट व चौड़ाई 56 फुट है। इस प्रकार यह यहाँ का सबसे बड़ा विहार है जिसमें कुल 23 कक्ष हैं। अग्र वीथि के दाहिने किनारे पर एक सहायक समूह है जिसमें एक बरामदा, प्रदक्षिणा पथ सहित एक केन्द्रीय चैत्य-मंदिर और उसके बाद कक्ष समाहित हैं। पृष्ठ वीथी के पीछे की ओर एक चैत्य-मंदिर और दोनों बगलों में कक्ष हैं। दोनों ओर की वीथियों में केन्द्रीय स्तंभों वाले एक प्रकोष्ठ के दोनों ओर कक्ष हैं। इस गुफा की विशेषता जो इसे औरों से भिन्न करती है इसके केन्द्रीय मध्यभाग में बनी दो कम ऊँची पतली बैंचे हैं। यह ऐसी विशेषता है जो कि अन्यत्र केवल कन्हेरी की दरबार गुफा में ही देखने को मिलती है। शायद ये बैंचे अध्ययन-मेजों के रूप में कार्य में आती थीं।

गुफा सं० 10 पहाड़ को काट कर बनाये गये चैत्य-गृहों में ध्यान देने योग्य और भारत में बने चैत्य-गृहों में आकार की दृष्टि से तीसरे स्थान पर आता है। इसका स्थानीय नाम विश्वकर्मा गुफा है। अग्र दीवार से द्वार के अन्दर जाने पर एक खुला प्राँगण है जो तीनों ओर से स्तंभों वाले ऊँचे बरामदों से घिरा है। बगल के बरामदों में आगे तीन मंजिले कक्ष हैं। मुख्य बरामदे के दोनों छोरों पर सहायक चैत्य-मंदिरों सहित स्तंभों वाले गर्भ-गृह हैं। दाँयी ओर के गर्भ-गृह की दीवारें बुद्ध और बौद्ध देवी-देवताओं जैसे मँजुश्री, लोकेश्वर, आर्य-सरस्वती, महामयूरी, मैत्रेय, तारा और भृकुटी की आकृतियों से ढँकी हैं। चैत्य-मंदिर में लोकेश्वर की एक आकृति है। बाँयी ओर का गर्भ-गृह अपूर्ण है।

बरामदे के पृष्ठ-भाग में वास्तविक चैत्य-गृह है जिसमें तीन दरवाजे और दोनों किनारों पर एक-एक कक्ष हैं। इसकी लंबाई 26 मीटर, चौड़ाई 13.4 मीटर और ऊँचाई 10.4 मीटर है। चैत्य-गृह का अग्रभाग प्रचुरता से अलंकृत है। दोनों ओर बने आलों में दो स्त्रियों के साथ बोधिसत्व को दिखाया गया है। मुँडेरों के भीतरी भाग में मिथुन युगल या नायिकाओं को विभिन्न भाव-भंगिमाओं में दर्शाया गया है। अर्धवृत्ताकार विशाल सभागार में तीस अष्टभुजाकार स्तंभ अर्धगोलाकार स्थिति में

व्यवस्थित हैं। गलियारे को बुद्ध की धर्मोपदेश देती आकृतियों, जिनकी बोधिसत्व सेवा कर रहे हैं, बुद्ध की खड़ी आकृतियों, विभिन्न भाव-भंगिमाओ में प्रदर्शित बौने गणों इत्यादि से अलंकृत किया गया है।

इस चैत्य-गृह में पूजा का मुख्य विषय बुद्ध की धर्मोपदेश देती बैठी अवस्था की प्रतिमा है जिसके पार्श्व में दो बोधिसत्व भी बने हैं। ये एक स्तूप पर बने हैं जो केवल एक अलंकृत पृष्ठभूमि का कार्य करता है। स्तूप की ऊँचाई 8.4 मीटर और उसका व्यास 4.9 मीटर है। स्तूप का आकार भी विशेष है। इसमें लंबी मीनार नुमा मेधि प्रमुख अंग है जिसके आलों में बुद्ध की प्रतिमायें बनी हैं। ऊपर अण्ड और हर्मिका है जिस पर सीढ़ीनुमा प्रक्षेपण है।

शेष दो प्रमुख गुफायें एलोरा की सबसे परवर्ती बौद्ध गुफायें हैं और अपनी संकल्पना में विशिष्ट और संयोजन की मौलिकता में अद्‌भुत हैं। दोनों गुफायें तीन मंजिली ईमारत का आभास देती हैं। इनकी प्रत्येक मंजिल में स्तंभों वाला एक बरामदा है, परन्तु गुफाओं के अन्दरूनी भाग की बनावट में अन्तर है और कोई भी दो मंजिलें एक समान नहीं हैं।

गुफा सं० 11 को स्थानीय नाम दो-थल से जाना जाता है क्योंकि इसका भू-तल बहुत पहले जमीन में दब गया था। भू-तल (प्रथम मंजिल) में दो कक्ष और एक केन्द्रीय गर्भ-गृह है जिसमें बुद्ध की ध्यान मुद्रा की प्रतिमा बरामदे के पृष्ठ भाग में बनी है। 90 फुट लंबे बरामदे के बाँये किनारे से सीढ़ीयाँ दूसरी मंजिल के बरामदे तक जाती हैं जिसमें पाँच गुफाओं की कतार समाहित है। इनमें से पहली गुफा का मात्र प्रारंभ भर हुआ था और दक्षिणी किनारे पर स्थित अन्तिम गुफा में एक पत्थर को काट कर बनी शैय्या और एक आले सहित एक कक्ष है। दूसरी गुफा एक गर्भ-गृह है जिसमें भूमि-स्पर्श मुद्रा में बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा और बगल की दीवारों में वज्रपाणि व पद्‌मपाणि बने हैं। उन्हीं के साथ छह अन्य बोधिसत्व भी अपने लक्षणों के साथ प्रदर्शित हैं। सिंहासन के सामने दो स्त्रियाँ बनी हैं। बाँयी ओर वाली एक घट लिये जमीन से निकल रही है जबकि दाहिनी ओर वाली (पृथ्वी) एक पराजित पुरुष (मार) पर टाँगे रख कर खड़ी है। तीसरी गुफा भी एक गर्भ-गृह है जिसमें दो बोधिसत्वों सहित बुद्ध की भूमि-स्पर्श मुद्रा की प्रतिमा है। चौथी गुफा भी गर्भ-गृह है जो दूसरी गुफा के समान ही है। बरामदे के दक्षिणी छोर पर भी बुद्ध का एक चैत्य-मंदिर है।

तीसरी मंजिल के बरामदे की पृष्ठ दीवार के मध्य भाग में से स्तंभों वाली डयोढी एक लंबे सभागार को जाती है जिसमें स्तंभों की केन्द्रीय कतार है। सभागार में

प्रवेश के लिए दो द्वार दोनों वगलों में हैं और वरामदे के छोरों पर खुलते हैं। सभागार की पृष्ठ दीवार के मध्य और अग्र डयोढी के ठीक विपरीत स्तंभों वाला एक गर्भ-गृह है, जो एक चैत्य-मंदिर को जाता है, जिसमें दो वोधिसत्वों के साथ बुद्ध की धर्मोपदेश देती हुई प्रतिमा है। वाँयी ओर के द्वार के सामने एक दूसरा गर्भ-गृह है जिसमें बुद्ध की एक प्रतिमा है। सभागार की दीवारें अनेकों वौद्ध आकृतियों से भरी हैं। यह गुफा वाद में व्राह्मण धर्मानुयायियों द्वारा प्रयुक्त होने लगी थी जैसा कि सभागार की दीवार पर वनी महिषासुरमर्दिनी और गणेश की आकृतियों को देखने से प्रतीत होता है।

तीन ताल के नाम से जानी जाने वाली गुफा सं० 12 के भू-तल में अगली दीवार रहित स्तंभों की तीन कतारों वाला एक सभागार, उसके तीनों ओर वने कक्ष, सभागार की पृष्ठ दीवार के मध्य भाग से निकलता स्तंभों वाला एक गर्भ-गृह और गर्भ-गृह के पीछे एक चैत्य-मंदिर समाहित हैं। चैत्य-मंदिर में एक विशाल वुद्ध प्रतिमा है। आठ दिव्य वोधिसत्व पार्श्व की दीवारों में वने हैं। इस गुफा का अग्र-भाग लगभग 50 फुट ऊँचा है।

सभागार के दक्षिण-पश्चिम छोर से एक सीढ़ी द्वितीय मंजिल को जाती है जिसमें स्तंभों वाले एक सभागार को जाती स्तंभों वाली एक डयोढी है। सभागार में पार्श्व से दो अन्य प्रवेश द्वार हैं जो बरामदे से निकलते हैं। सभागार के चारों ओर कक्ष हैं और पृष्ठ दीवार से चैत्य मंदिर को जाता हुआ एक गर्भ-गृह है। चैत्य-मंदिर में सभी लक्षणों सहित बुद्ध की मूर्ति है और पार्श्व दीवारों पर दिव्य वोधिसत्व उत्कीर्ण हैं।

यहाँ सवसे अद्‌भुत विस्तृत तृतीय मंजिल है जिसमें वरामदे से लगा एक सभागार है, जहाँ आठ स्तंभों व दो भित्ति स्तंभों की चार कतारें हैं, जो वरामदे के स्तंभों के समानान्तर हैं। स्तंभों व भित्ति स्तंभों वाला एक गर्भ-गृह चैत्य मंदिर को जाता है। चैत्य-मंदिर की पार्श्व दीवारों पर अपने सभी लक्षणों सहित दस वोधिसत्व वने हैं। गर्भ-गृह व सभागार को एक मूर्तिकला वीथी कहा जा सकता है। गर्भ-गृह की पृष्ठ व पार्श्व दीवारों पर विधिपूर्वक 12 देवियाँ वनी हैं। ये सभी एक कमल पर ललितासन में बैठी दिखाई गई हैं और कमल की डंडी नागों ने पकड़ी हुई हैं। उनके ऊपर बुद्ध की प्रतिमायें हैं। सभागार की पिछली दीवार पर दोनों ओर एक कतार में बुद्ध की विशाल बैठी हुई आकृतियाँ हैं। वाँयी ओर की आकृतियाँ ध्यान-मुद्रा में और दाँयी ओर की आकृतियाँ भूमि-स्पर्श मुद्रा में हैं। वगल की दीवारों पर भी भित्ति स्तंभों के मध्य बुद्ध की एक-एक आकृति वनी हैं।

हिन्दू धर्म से संबद्ध गुफाओं में से प्रमुख गुफा सं० 16 है जो कैलाश गुफा के नाम से जानी जाती है। यह 765 ईसवी में राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्ण प्रथम के संरक्षण में वनी है और हिन्दू देवता शिव को समर्पित है। यह गुफा चट्टान काट कर गुफा निर्माण करने वाले कलाकारों की कला का उत्कृष्ट नमूना और हिन्दू पौराणिक कथाओं का संग्रह है। मंदिर दक्षिण भारतीय शैली में वना है परन्तु कहीं-कहीं उत्तर भारतीय शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इसमें शिव के विभिन्न रूपों से ले कर गणेश, विष्णु, लक्ष्मी, रावण इत्यादि सभी हिन्दू देवी-देवताओं का चित्रण किया गया है। महाभारत व रामायण जैसे ग्रन्थों के दृश्यों को भी दर्शाया गया है।

जैन गुफा समूहों का प्रतिनिधित्व गुफा सं० 32 करती है जो महावीर को समर्पित है। सबसे प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्प (815–877 ईसवी) ने जैन धर्म को अपनाया था और वह दिगंवर संप्रदाय का प्रवल संरक्षक था। उसके द्वारा निर्मित यह गुफा उसकी श्रद्धा व भक्ति का उचित आभास देती है।

इस प्रकार एलोरा की गुफायें भारतीय संस्कृति को देखने व जानने का सर्वश्रेष्ठ स्थल हैं। बौद्ध, हिन्दू और जैन तीनों प्राचीन प्रसिद्ध भारतीय विचारधाराओं की यह संगम स्थली है जो धार्मिक सहिष्णुता व सद्भाव की बरसों पुरानी परंपरा का प्रतिनिधित्व करती हैं।

कार्ले

कार्ले के गुहा-चैत्य-गृह व विहार वम्बई (मुम्बई)-पुणे मार्ग के प्रायः मध्य में दाहिनी ओर लगभग 3 किलोमीटर की दूरी पर स्थित हैं। कार्ला/कार्ले गाँव (प्राचीन नाम, करजिक) के समीप की ऊँची पहाड़ी में, जिसका प्राचीन नाम वलूरक था, लगभग एक दर्जन विहार, कुछ कुण्ड व एक चैत्यगृह समाहित हैं। उपलब्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि यह स्थल पहली शताब्दी ईसवी से ले कर सातवीं शताब्दी ईसवी तक बौद्ध धर्म के केन्द्र के रूप में विद्यमान था।

भारत में अधिकतर गुहा विहार व चैत्य-गृह महाराष्ट्र राज्य में स्थित हैं। यह क्षेत्र मुख्यतया क्षहरात (क्षत्रप) व सातवाहन वंश के राजाओं के अधीन रहा है। अतः यहाँ के गुहा स्मारकों में क्षहरात (क्षत्रप) व सातवाहन संस्कृति की झलक स्पष्ट दिखती है। यहाँ से प्राप्त एक अभिलेख में वलूरक की गुफाओं में वर्षावास करने वाले भिक्षुओं की सहायता के लिये करजिक गाँव के कर का दान दिये जाने का वर्णन है। यह अभिलेख राजा शक ऋषभदत्त (उशवदत्त) का है जो राजा नहपान (119–125 ईसवी) का दामाद था। इस अभिलेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस समय तक यहाँ उत्खनन कार्य लगभग पूर्ण हो चुका होगा और विहार व चैत्य-गृह अपने पूर्ण स्वरूप में अस्तित्व में आ चुके होंगे। एक अन्य परवर्ती अभिलेख से पता चलता है कि यह स्थल समय के साथ-साथ अस्थायी वर्षावास व्यतीत करने के स्थान पर भिक्षुओं का स्थायी निवास बन गया था। यह अभिलेख सातवाहन राजा पुलुमावि द्वितीय (वसथी पुत्त) द्वारा अपने सातवें राजकीय (Regnal) वर्ष में (103 ईसवी), लेणों की मरम्मत कराने की इच्छा दर्शाते हुए बौद्ध संघ को एक गाँव भेंट किये जाने का उल्लेख करता है।

चैत्य वीथिका के अन्त में बाँयी ओर स्तंभ पर खुदी बुद्ध की मूर्ति और चट्टान में काट कर बनाए गये हाथियों के ऊपर भी एक अभिलेख खुदा है, जो इस प्रकार

है–"वेजयन्ती के सेट्ठी (श्रेष्ठी) भूतपाल द्वारा निर्मित गुहा विहार जम्बूद्वीप में सर्वश्रेष्ठ है।" इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस गुहा चैत्य-गृह की गिनती भारत के सर्वश्रेष्ठ गुहा विहारों में होती थी और इसका निर्माता सेट्ठी भूतपाल था, जो वेजयन्ती का वासी था। वेजयन्ती के बारे में इतिहासकारों की मान्यता है कि यह उत्तरी कनारा जिले के बनवासी नगर का प्राचीन नाम था और सातवाहन राजाओं के एक प्रदेश की राजधानी था। इस प्रकार शैलीगत और पुरालिपि के आधार पर यह स्मारक द्वितीय शताब्दी ईसवी के प्रारंभ का प्रतीत होता है।

वलूरक पहाड़ी की ये गुफायें भूमितल से लगभग पाँच सौ फुट की ऊँचाई पर हाथी जैसी शक्ल वाली चट्टान को काट कर बनाई गई हैं। एक सरल पगडंडी से इन तक पहुँचा जा सकता है। इन गुफाओं को काटने में साधारण औजारों का ही प्रयोग हुआ है। अनुमान है कि इन बौद्ध गुहा विहारों व चैत्य-गृहों को बनाने में कुशल कारीगरों को कई साल लगे होंगे और सैकड़ों टन पत्थर चट्टानों से काटा गया होगा। आज भी पहाड़ी की ढलान पर बड़े-बड़े पत्थरों के टुकड़े देखे जा सकते हैं, जिन्हें ऐसा लगता है कि उन दिनों काट कर फेंका गया होगा।

कार्ले गुफाओं का उत्खनन उस समय हुआ, जब वास्तुकला शैली अपनी सर्वोच्च शुद्धता में थी। इनके निर्माण में अन्य स्थानों में बनी गुफाओं की वास्तुकला की त्रुटियों को छोड़ दिया गया था। ये गुफायें मूल रूप में बौद्ध धर्म के कट्टर हीनयान संप्रदाय के आचार-व्यवहार और धार्मिक विधि-विधान के सरल नियमों के अनुरूप बनाई गयी थीं। बाद में बनाई गई गुफायें महायान काल में जोड़ी गईं, जिनमें अन्य कलात्मक मूर्तियों के अतिरिक्त भगवान बुद्ध को विभिन्न मुद्राओं में दिखाया गया है।

यहाँ का सबसे महत्वपूर्ण स्मारक चैत्य-गृह है, जो भारत में अब तक उपलब्ध गुहा चैत्य-गृहों में सर्वोत्तम है। यह अपने विकसित वास्तुकला गुणों सहित आकार व प्रकार के साथ-साथ अति सुन्दर कलाकृतियों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है। अपनी शैली का सबसे भव्य व पूर्ण यह चैत्यगृह विश्व के स्मारकों में महत्वपूर्ण स्थान पाने योग्य है। मूलतः यह हीनयान वास्तुकला के प्रारंभिक काल की पराकाष्ठा का नमूना है, जिसे बाद में महायान काल की कला की खूबियों से संवारा गया है।

चैत्य-गृह का मुँह उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर है। इसकी लंबाई 124 (एक सौ चौबीस) फुट 3 (तीन) इंच, चौड़ाई 45 (पैंतालिस) फुट 6 (छः) इंच और ऊँचाई

40 (चालीस) फुट है। सामने का भाग एक लंबा-चौड़ा द्वारमण्डप (Porch) है और इसके पीछे मेहराबदार परदा अत्यन्त भव्य व प्रभावशाली है। यह परदा इस स्मारक में एक स्पष्ट (विशिष्ट) नवीनता है, परन्तु यह बाहरी रूप (Facade) के मुख्य भाग को ढँक लेता है। गुफा के सामने प्राँगण के दोनों छोरों पर एक-एक विशाल स्तंभ थे, जिनमें से केवल उत्तरी स्तंभ ही विद्यमान है। इस स्तंभ के शीर्ष पर बीच से जुड़ी चार सिंह मूर्तियाँ स्थापित हैं। स्तंभ पर खुदे एक अभिलेख के अनुसार यह एक महारथी की भेंट है, जो शायद मरहठों का कोई पूर्वज रहा होगा। ठीक इस स्तंभ के सामने समानुपातिक ढंग से स्थापित एक स्तंभ दक्षिणी छोर पर भी था, जिसके ऊपर एक प्रस्तर धर्म-चक्र रखा हुआ था। दक्षिणी स्तंभ नष्ट हो गया है और उसकी जगह बहुत बाद में बनाए गए एकवीरा देवी के मंदिर ने ले ली है। चैत्य-गृह के बरामदे की भीतरी दीवारें अनेक अनुपम मूर्ति फलकों से अलकृंत हैं, जिनमें आरंभिक बौद्ध कला के दर्शन होते हैं। बगल की दीवारों पर तीन हाथियों की मूल आकार की मूर्तियाँ हैं जिनका केवल अग्र भाग ही बना है। ये हाथी अपने कंधों पर अधिरचना (Super- structure) को सहारा देने की मुद्रा में बने हैं। हाथियों के मुँह को वास्तविकता प्रदान करने के लिए उन्हीं के अनुपात के असली हाथीदाँत लगाए गये थे, लेकिन ये बाद में गायब हो गये हैं। दाँतों के लिए बनाए गये छेदों को अब भी देखा जा सकता है। हाथियों की मूर्तियों के ऊपर भगवान बुद्ध व दानी दंपतियों की विभिन्न मुद्राओं में खुदी प्रस्तर मूर्तियाँ और अन्य प्रतीक बने हैं। कुछ स्थलों पर प्रारंभिक मूर्तियों के स्थान पर बुद्ध की प्रतिमायें बनायी गयी हैं, जिनसे मूल व्यवस्था के सन्तुलित प्रभाव में अन्तर आया है। ये मूर्ति फलक लगभग पाँचवी व छठी शताब्दी ईसवी में (महायान काल में) बनाई गई होंगीं।

चैत्य-गृह के तीन द्वार हैं। मुख्य द्वार चैत्य-वीथिका (Nave) में जाता है और बगल के द्वार दोनों ओर की पार्श्व-वीथिकाओं (Aisles) में जाते हैं। मध्य द्वार के दोनों ओर 6 (छः) भव्य मिथुन मूर्तियाँ प्रमुख हैं। कलाकार ने निपुणता से पत्थर में आदर्श मानव सुन्दरता को साकार रूप दिया है। ये युगल हृष्ट-पुष्ट, तेजस्विता व राजसी भाव लिए हुये हैं। स्त्रियाँ मनोहर व स्वस्थ हैं और पुरुष तेजस्वी, तन्दरुस्त, सन्तुष्ट व आत्मविश्वास से पूर्ण झलकते हैं। संभवतः ये मूर्तियाँ उन व्यक्तियों की हैं जिन्होंने धन, साज-सामान दे कर या मजदूरों के द्वारा इन गुफाओं के निर्माण में सहयोग दिया था। मध्य (मुख्य) द्वार के ऊपर बनी प्रसिद्ध सूर्य खिड़कियाँ, जो

अजंता व एलोरा की भी विशेषता है, ऐसी कुशलता से बनाई गई हैं कि उनमें से स्तूप और स्तंभों पर हल्की रोशनी पड़ती रहती है। प्रकाश का यह प्रभाव समीप-समीप बने मोटे स्तंभों से और भी बढ़ जाता है, जो कि मुख्य भाग अर्थात चैत्य-वीथिका को पार्श्व-वीथिका से अलग करते हैं। ये खिड़कियाँ अपनी शैली की विशिष्ट रचनायें हैं।

चैत्य-गृह की छत मेहराबदार और अर्धगोलाकार है। छत से इमारती लकड़ी की बड़ी-बड़ी शहतीरें पत्थरों में लगाई गई हैं। इनमें से कई शहतीर संभवतः चैत्य-गृह के निर्माण की समकालीन हैं और लगभग पंदरह सौ साल पुरानी हैं। ये शहतीरें सजावट के लिए लगायी गयी थीं। इन पर रंगों के ऐसे निशान प्राप्त हुए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मूल रूप में ये आकर्षक रंगों से चित्रित रही होंगी। इन शहतीरों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्य-गृह की छत राजगीरी मेहराब (Masonry Arch) की अनुकृति न हो कर किसी प्रकार के काष्ठ निर्माण की अनुकृति थी। इनके अतिरिक्त मेहराब में 30 (तीस) काष्ठ शलाकाओं का भी प्रयोग हुआ है।

इस चैत्य-गृह का प्रमुख आकर्षण दोनों ओर पंदरह-पंदरह एकाश्म (Monolithic) स्तंभों की कतारें हैं। स्तूप के पीछे अर्द्धवृत्तकक्ष में बने सात स्तंभों समेत कुल 37 (सैंतीस) स्तंभ हैं। ये स्तंभ तीन तल्ले की पीठिकाओं के ऊपर बने कलशनुमा आधार पर निर्मित हैं। स्तंभ अष्टकोण वाले हैं। स्तंभों के ऊपरी भाग घण्टेनुमा हैं और उनके ऊपर चौकोर बनावट (ढाँचे) के भीतर एक संक्षिप्त (Compressed) आमलक बना है। इसके ऊपर एक गोल चक्र टिका है व उसके ऊपर चार टोडों (corbes) में बना शीर्षफलक है। सबसे ऊपर शीर्ष निर्मित है जो घुटने टेके हाथी, स्त्री व पुरुष सवार सहित घोड़ों से आच्छादित है। प्रत्येक शीर्ष में पशुओं के दो युगल समाहित हैं। एक युगल का मुख चैत्य-वीथिका की ओर है और दूसरे का पार्श्व-वीथिका की ओर। चैत्य-वीथिका की ओर मुँह किये पशु घुटने टेके हाथी हैं। प्रत्येक हाथी दो दर्शकों के लिए बना है ये दर्शक प्रायः एक मिथुन हैं और कहीं-कहीं दो स्त्रियाँ हैं, जो दोस्ताना आलिंगन में बैठी हैं और सामान्यतः एक का हाथ दूसरी के कन्धे पर टिका है। आकृतियों का ऊपरी अर्धभाग ही दीवार से बाहर निकला है। ये आकृतियाँ चैत्य-वीथिका की ओर झुकीं और शुद्ध हर्ष का भाव लिये हुये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्तंभिक दर्शक हैं जो चैत्य-वीथिका में बैठे विद्वान आचार्यों द्वारा समझाये जाते हुए उपदेश को बालकनी से झाँकते हुए

सुन रहे हैं। इन आकृतियों में आश्चर्यजनक साम्य भाव, मानव अनुभूतियों की गर्माहट और शैली की शुद्धता है जो अन्यत्र मुश्किल से ही प्राप्त होती है। ये स्तंभ निस्सन्देह बहुत मोहक हैं और चैत्य-गृह की खूबसूरती को चौगुना कर देते हैं। कई स्तंभों पर दानकर्ताओं के विवरण खुदे हैं। दानकर्ताओं में कुछ विदेशी यवन भी थे जो धेनुककटा नामक व्यापार के प्राचीन प्रसिद्ध केन्द्र में बस कर बौद्ध बन गए थे। हालांकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि व्यय का एक बड़ा अंश वेजयन्ती के सेट्ठी भूतपाल द्वारा वहन किया गया था। सोपारक (आधुनिक सोपर) के एक व्यक्ति ने एक ऐसा स्तंभ दान किया था जिसमें अस्थि अवशेष समाहित थे (ससरिरो थभो)। यह स्तंभ अब लुप्त हो चुका है और केवल कमल पँखुड़ियों सहित उसके लिए बनी गर्तिका (Socket) ही विद्यमान है।

चैत्य-वीथिका के अन्त में पत्थर से काट कर बनाया गया 15 (पंदरह) फुट ऊँचा स्तूप है, जिसके ऊपर उल्टी सीढ़ीदार वेदी है। सबसे ऊपर एक काष्ठ छत्र है। स्तूप के चारों ओर सजावट के लिए गोलाई में दो बाहर को निकली वेदिकायें (Railings) हैं। वेदिकाओं के नीचे दीप य फूलमालायें रखने के लिए लगभग 5 (पाँच) इंच गहरे छेद बने हैं। काष्ठ-छत्र अपने मूल रूप में सुरक्षित है, जो शायद लगभग पंदरह सौ साल पहले इस स्तूप में लगाया गया होगा। इस पर एक कमल खुदा हुआ है और घन के भीतर सजावट की गई है। वेदी के ऊपर लगभग 1 (एक) फुट गहरा छेद है, जो अब खाली है। उसमें संभवतः कोई प्रतिमा या अन्य कोई प्रतीक लगा रहा होगा।

चैत्य-गृह के अतिरिक्त यहाँ कई विहार भी हैं जो प्रायः खण्डित अवस्था में हैं। प्रारंभ में बने कुछ कक्षों में, जो कि द्वितीय शताब्दी ईसवी के बने हैं, बुद्ध की प्रतिमायें छठी-सातवीं शताब्दी में जोड़ी गई हैं। इसी प्रकार बाद में बनाई गई तारा की एक प्रतिमा गुफा सं० 2 में भी मिलती है। इस प्रतिमा में तारा को हाथ में कमल की डंडी लिये हुए दर्शाया गया है और साथ में चाँमर लिए पद्मपाणि खड़े हैं। इस विशेष मूर्ति फलक और कुछ अन्य मूर्तियों में भी बुद्ध के सिर के ऊपर कुछ दिव्य आकृतियों द्वारा एक छत्र पकड़े हुए दिखाया गया है। एक अन्य मूर्ति फलक में (गुफा सं० 10) बोधिसत्वों को देखा जा सकता है।

गुप्त-वाकाटक काल के भी दो विहार यहाँ निर्मित हैं। इनमें से एक गुफा सं०

6 है। इस विहार में गुफा सं० 5 के कक्षों में से एक कक्ष की सीढ़ियों से पहुँचा जा सकता है। इस विहार में एक प्राँगण, एक बरामदा और दो दरवाजों व दो खिड़कियों वाला सभागार है। सभागार के तीन तरफ कक्ष बने हैं। दाहिनी ओर तीन, पीछे की ओर छः और बाँयी ओर पाँच कक्ष हैं। इन सब कक्षों में पत्थर की शैय्या बनी हैं। स्तंभों के आधार चौकार हैं। सभागार की पिछली व दाहिनी दीवार पर बुद्ध की उपदेश देने की मुद्रा में दो प्रतिमायें बनी हैं। इनमें से एक प्रतिमा के सिर के ऊपर छत्र है जिसे दो गणों ने पकड़ रखा है। इस काल का दूसरा विहार गुफा सं० 11 है। इसमें स्तंभ, कक्ष, बरामदा इत्यादि गुफा सं० 6 के समान ही हैं। सभागार की पिछली दीवार में बुद्ध की एक प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर हाथों में फूल लिए बोधिसत्वों को दर्शाया गया है।

एक अन्य विहार सातवाहन वंशीय राजा पुलुमावि के काल में हराफरना नामक व्यक्ति ने दान किया था। इस अभिप्राय का अभिलेख इस विहार से मिला है। शेष विहार भी सामान्य प्रकार के हैं। इनमें से कुछ अवश्य तीन मंजिले भी थे। इस प्रकार अपने चैत्यगृह के अतिरिक्त बौद्ध वास्तुकला व मूर्तिकला की दृष्टि से और गुफाओं में बनाये जाने वाले विहारों के प्रारंभिक रूप को जानने के लिए कार्ले की गुफायें एक अनुपम स्थल है।

कन्हेरी

कन्हेरी (जिला बम्बई उपनगर) गुफायें बम्बई से लगभग 40 कि०मी० उत्तर में स्थित हैं। एक अकेली पहाड़ी पर पहाड़ी काट कर बनाई गई गुफाओं की सबसे विशालतम संख्या का यह एक समूह है। कोन्कन समुद्रतट पर स्थित यह सबसे बड़ा केन्द्र था और इसमें 100 से अधिक गुफायें एक विशाल बौद्ध बस्ती को समाहित करती थीं। इस केन्द्र का इतिहास दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म के प्रवेश का समकालीन है। बौद्ध धर्म विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में किसी अन्य स्थल पर इतने लंबे समय तक नहीं फल-फूल पाया था। अपने 1500 साल के इतिहास में कन्हेरी ने अनेकों उतार-चढ़ाव देखे हैं। छोटे पैमाने पर प्रारंभ होने पर भी सामर्थ्यवान संरक्षकों और विभिन्न निर्माण कार्यों के द्वारा अधिक समृद्ध होते हुए यह लगभग 13 वीं शताब्दी तक धार्मिक केन्द्र बना रहा। पश्चिमी समुद्रतट पर इसकी स्थिति और सोपर, कल्यान और चेमुल (जहाँ कुछ दाताओं के घर थे) जैसे संपन्न बन्दरगाहों और व्यापारिक गोदामों से इसकी अधिगम्यता का इसकी उन्नति तथा प्रगति में विशेष योगदान रहा है।

इस स्थान का वर्तमान नाम कन्हेरी संस्कृत के कृष्णगिरि (काली पहाड़ी) शब्द से उत्पन्न हुआ है। यहाँ से प्राप्त सबसे प्राचीन अभिलेख सातवाहन राजा गौतमिपुत्र यज्ञश्री सातकर्णी का है जिसमें इस स्थल का नाम कण्हसेल (संस्कृत-कृष्णशैल) मिलता है। निस्सन्देह इन नामों का प्रयोग इस पहाड़ी के स्वरूप को देखते हुए ही किया गया है।

कन्हेरी के विहारों में निवास करने वाले प्रारंभिक भिक्षु थेरवाद संप्रदाय के थे। हालांकि यहाँ से उपलब्ध सबसे प्राचीन साक्ष्य गौतमिपुत्र यज्ञश्री सातकर्णी (A. D. 150–189) के काल के हैं, परन्तु इन गुफा विहारों का अस्तित्व उनके शासनकाल से कम से कम एक शताब्दी पहले ही सामने आ चुका था। प्रत्येक पाँच में से चार गुफाओं में बुद्ध प्रतिमाओं की विशाल संख्या से प्रथम आभास यही होता है कि यह

निर्माण कार्य महायान काल का होगा, परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि कुल 101 गुफाओं में से 75 प्रतिशत गुफायें बौद्ध वास्तुकला के हीनयान काल में निर्मित रही होंगी।

ये गुफायें एक पहाड़ी को काट कर बनाई गई हैं तथा अधिकतर गुफायें आस-पास की समतल जमीन से (60) साठ से (90) नब्वे मीटर की ऊँचाई पर स्थित हैं। गुफायें दर्शकों को अपने वास्तुकला के गुणों से कम बल्कि अपनी संख्या के कारण अधिक अभिभूत कर देती हैं। अन्य महत्वपूर्ण गुफाओं के निर्माताओं द्वारा संतुलित अनुपात में दर्शाये गये सुरूचि-संपन्न भाव, सतह की कुशलतापूर्ण व्यवस्था तथा वास्तुकला प्रभावों और मूर्तिकला अलंकरण के बीच समन्वय का यहाँ अभाव है, हालांकि शास्त्रीय परंपरा पर आधारित छठी शताब्दी ईसवी में प्रचुर मात्रा में चित्रित आकृतियों को बनाने में पर्याप्त कौशल दिखलाया गया है। किसी भी विहार की तुलना भव्यता की दृष्टि से अजन्ता, एलोरा इत्यादि के विहारों से नहीं की जा सकती है। स्पष्टतया इन गुफाओं की योजना बनाने वाले मनुष्यों की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक सौन्दर्यपरक नहीं रही होगी।

इतने बड़े पैमाने पर बने विहार केन्द्र की देखभाल के लिए उसी प्रकार बड़े पैमाने पर दान इत्यादि भी अवश्य मिलते रहे होंगे। इन दानों में से केवल कुछ ही का उल्लेख यहाँ से प्राप्त अभिलेखों में मिला पाता है। ऐसा एक दान एक शक ऋषभदत्त या उषभदत्त द्वारा दिया गया था जो दिनिक का पुत्र तथा क्षहरात राजा क्षत्रप नहपान का दामाद था। चौथी शताब्दी के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि एक बुद्धघोष द्वारा यहाँ एक बुद्ध प्रतिमा दान दी गई थी। पुरी के सिलाहारों ने, जो कि राष्ट्रकूट राजाओं के सामन्त थे, कन्हेरी के विहार केन्द्र के प्रति काफी रूचि दिखाई थी। यह केन्द्र गौतमीपुत्र यज्ञ शातकर्णी के शासन काल में अपने उत्कर्ष पर था। उसके शासन काल के कम से कम सात अभिलेख यहाँ मिले हैं। संभवतः समुद्र व्यापारियों का यहाँ की प्रारंभिक गुफाओं के निर्माण में विशेष योगदान रहा है। लगभग सभी दान अभिलेखों में दिये गये नाम ऐसे लोगों के हैं जो यहाँ समुद्रतट से आये थे।

नौवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कन्हेरी बौद्ध ज्ञान का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। कन्हेरी में विहार और पुस्तकालय स्थापित करने के लिए अनेकों दान दिये गये थे। अमोघवर्ष (प्रथम) के शासन काल के दौरान भद्रविष्णु द्वारा एक बौद्ध विहार को दिया गया दान पुस्तकों के क्रय के लिए था। एक बंगाली व्यापारी अविघकर द्वारा कन्हेरी में एक विहार को दी गई भेंट से ज्ञात होता है कि वे पुस्तकों के क्रय के लिए थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ एक बड़े पैमाने के पुस्तकालय की व्यवस्था थी।

गुफा सं० 39 (चैत्यगृह) में स्तूप पर लिखे मिले अभिलेख से पता चलता है कि शक वर्ष 913 (991 ईसवी) में यहाँ भिक्षु निवास करते थे।

बौद्ध क्षेत्र में इस केन्द्र के महत्व का आभास कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में रखी 1015 ईसवी की एक पाण्डुलिपि में कोण्कन के कृष्णगिरि के खड्ग-चैत्य और प्रत्येक-बुद्ध-शिखर-विहार के चित्रण से होता है। गुफा सं० 13 के स्तूप में से अनेकों बाहमनि राजाओं के सिक्के मिले हैं जो स्पष्ट साक्ष्य हैं कि दक्खन में 13वीं-14वीं शताब्दी में मुस्लिम आक्रमण के उपरान्त भी गुफाओं का पूर्णतः परित्याग नहीं कर दिया गया था। इस प्रकार कृष्णगिरि में बौद्ध धर्म पश्चिमी भारत के अन्य केन्द्रों की अपेक्षा अधिक लंबे समय तक रहा था।

मौटे तौर पर ये गुफाएँ छोटी हैं और उनमें एक प्राँगण तथा उसकी बगल की दीवारों में से एक में कुण्ड के ऊपर एक गुफा समाहित है। प्राँगण से सीढ़ियों द्वारा ऊँचे स्तंभों वाले बरामदे तक पहुँचा जा सकता है। सीढ़ियों के आधार पर चंद्रशिला है। इनके अतिरिक्त उनमें एक सभाकक्ष भी समाहित है जो कभी खिड़कियों सहित बना है तो कभी उनसे रहित। अधिकतर पहले निर्मित विहार की खिड़कियाँ जालीदार हैं। बड़ी गुफाओं के सभाकक्षों की बगलों में कुछ कक्ष भी हैं, लेकिन कक्ष तीनों तरफ शायद ही कहीं हों। प्रायः बरामदे के स्तंभों से निकलती मुँडेर है जो कड़ियों और शहतीरों पर टिकी हुई वेदिका सहित बनी है। नींव के अग्रभाग पर नीचे अलंकरण है। प्रायः सभी गुफाओं की विशेषता उनके साथ कुण्ड का अस्तित्व है।

इन गुफाओं में से कुछ में जैसे सं० 41, 67, 89 व 90 की दीवारों पर चकाचौंध कर देने वाली आकृतियाँ प्रचुर मात्रा में उत्कीर्ण हैं जिनमें से ज्यादातर बुद्ध की हैं। इनमें उत्तम संतुलन व प्रत्यारूपण की सूक्ष्मता लिए हुए बुद्ध का लोकोत्तर परमानन्द का गौरवपूर्ण भाव समाहित है। बुद्ध को प्रायः या तो खड़ी अवस्था में दाँया हाँथ वरद मुद्रा में किये हुए या धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बैठे दिखलाया गया है। उनकी प्रतिमाओं की बाद की श्रेणी में उन्हें अपनी सभी अलंकरण सामग्रीयों रहित दिखाया गया है। वे एक कमल पर पैर रखे हुए प्रलंबपाद आसन में बैठे प्रदर्शित हैं और उनके पार्श्व में दो बोधिसत्व हैं। ज्यादातर स्थलों पर बोधिसत्वों को अपनी स्त्री देवियों अर्थात उनकी शक्तियों सहित दर्शाया गया है। कमल की डंडी नागों के एक जोड़े ने पकड़ रखी है। कहीं-कहीं उन नागों के साथ उनकी नागिनें भी हैं। इस प्रकार का चित्रण (संयोजन) 6ठी-7वीं शताब्दी ईसवी की पश्चिमी भारत की गुफाओं में अत्यधिक प्रचलित था।

गुफा सं० 90 में इसी प्रकार के एक संयोजन में हम देवों के देव शक्र और साकार वज्र को पायदान के नीचे डंडी के एक ओर तथा दिव्य वीणावादक पञ्चशिख को एक स्त्री सहित, जो झाँझ वजा रही है, दूसरी ओर खड़ा पाते हैं। इस आकृति का सन्निवेश निस्सन्देह बुद्ध के पास (जब वे राजगृह के समीप इन्द्रशाल गुफा में थे) शक्र के आगमन की बौद्ध परंपरा से अभिप्रेरित है। अपने सन्देहों को दूर करने के लिए शक्र, पञ्चशिख के साथ गुफा तक आये थे और पञ्चशिख ने अपने आगमन की सूचना वीणा बजा कर दी थी। इन आकृतियों का निरूपण, जो लगभग 6ठी शताब्दी ईसवी की हैं, इस गुफा की अन्य आकृतियां सहित कलाकार की कला की उत्कृष्टता को दर्शाता है।

इन आकृतियों में से बहुत कमों में बुद्ध के अतिरिक्त अन्य देवों की प्रतिमायें हैं। इन अपवादों में से प्रमुख हैं अवलोकितेश्वर। कम से कम तीन गुफाओं में (सं० 2, 41 व 90) यह दयालु बोधिसत्व, जिसने सभी प्राणियों की मुक्ति हो जाने तक बुद्धत्व को अस्वीकार किया है, आठ महान संकटों से –पोतभंग, अग्निकाँड, जंगली हाथी, शेर, सर्प, डाकू, कैद तथा दानव से अपने उपासकों को संरक्षण प्रदान करते हुए दिखलाये गये हैं। यह विषय अजन्ता, औरंगाबाद, एलोरा तथा वदमि की गुफाओं में भी है, परन्तु अन्यत्र कहीं भी संयोजन इतने बड़े पैमाने पर तथा निरूपण इतना परिष्कृत नहीं है जितना कन्हेरी की गुफा सं० 90 में है। यहाँ अवलोकितेश्वर को दो स्त्री देवियों के साथ दर्शाया गया है जिनमें से एक संभवतः तारा हैं।

गुफा सं० 41 में, जो लगभग 6ठी शताब्दी ईसवी की है, एक प्राँगण, एक स्तंभों वाले बरामदे के आगे एक छोटी डयोढी, दोनों बगलों में एक-एक कक्ष सहित एक सभाकक्ष और एक प्रार्थनालय है। इस गुफा की दीवारों पर बुद्ध आकृतियाँ हैं। यहाँ चार हाथ और ग्यारह मुखों वाली अवलोकितेश्वर की आकृति है जो भारत में इस प्रकार की एक ही ज्ञात आकृति है। अवलोकितेश्वर के इस रूप की पूजा चीन, चीनी तुर्किस्तान, कम्बोडिया और जापान में भी सातवीं-आठवीं शताब्दी के दौरान काफी प्रचलित थी। बु-स्तोन का तिब्बती वर्णन राजा स्रोन-त्सेन-गम-पो द्वारा सातवीं शताब्दी में दक्षिण भारत से ग्यारह मुखों वाले अवलोकितेश्वर को लाने का वर्णन करता है। इस बोधिसत्व के सबसे प्राचीन मूर्ति रूप का वर्णन एक संस्कृत ग्रन्थ 'अवलोकितेश्वर-एकादशमुख-धारणी' के चीनी अनुवाद (561–577 ईसवी) में सुरक्षित है, जो दो बाँहों वाले प्रकार के लिए निर्धारण (आदेश) देता है। इसके अनुसार, बोधिसत्व को बाँये हाथ में एक कुण्डिका (जल-पात्र) पकड़े हुए तथा दाँया हाथ अभय मुद्रा में दर्शाया जाना चाहिए। एकदम इसी प्रकार का चित्रण कन्हेरी की आकृति के दोनों हाथों का है, जबकि तीसरे हाथ में कमल की डंडी पकड़े हुए

दिखाया गया है। इस गुफा में और अन्य कई गुफाओं में भी चित्रकला के साक्ष्य मौजूद हैं। इस गुफा की चित्रकला का विषय बुद्ध की आकृति है।

गुफा सं० 67 के एक दृश्य में दीपंकर जातक की कथा को दर्शाया गया है जब बुद्ध सुमेध नामक शिक्षित ब्राह्मण के रूप में बोधिसत्व अवस्था में पैदा हुए थे तथा दीपंकर बुद्ध के समक्ष अपनी भक्ति भावना का प्रदर्शन किया था, जिसके कारण उन्होंने (दीपंकर) उनके भावी बुद्धत्व की भविष्यवाणी की थी। हालांकि यहाँ की गुफायें कम से कम ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी तक प्रयोग में आती रहीं और बोधिसत्वों के साथ स्त्री देवियाँ भी प्रदर्शित हैं परन्तु एलोरा के समान वज्रयान देवकुल की पूर्ण-विकसित देवियों के चित्रण का यहाँ अभाव है।

यज्ञ शातकर्णी के शासनकाल में उत्खनित चैत्य-गृह (गुफा सं० 3) कार्ले की गुफा का प्रतिरूप है। यह काफी बड़े आकार का है और इसमें एक प्राँगण है, जिसके अग्रभाग में पत्थर को काट कर निर्मित पर्दा है, जिसमें बने प्रवेश द्वार तक जाने के लिए सीढ़ियाँ निर्मित हैं। नासिक की गुफा सं० 3 के बरामदे की मुँडेर के समान इस पर्दे का अग्रभाग भी अलंकृत वेदिका शैली से सुसज्जित है, जिसमें नींव के समीप जानवरों की कतारें, स्तंभों तथा अर्गलों (Cross–bars) में कमल और मुँडेर में अर्ध-कमल व अर्ध-मानव प्रतिमायें एक छोड़ कर एक बनी हैं।

कार्ले के चैत्य-गृह के समान इसमें भी दो स्तंभ हैं, परन्तु वे प्राँगण की पार्श्व दीवारों से बाहर निकलते से हैं। हालांकि दाहिना स्तंभ बेढँगा बना है, परन्तु इसकी विशेषता है कि यह पश्चिम भारतीय गुफाओं में बुद्ध को दर्शाने वालों में प्रथम है। यह निस्सन्देह द्वितीय शताब्दी ईसवी में बुद्ध की प्रतिमा निर्माण को स्वीकार करने का द्योतक है। विशेष कर इस स्तंभ की इस आकृति और बोधिसत्वों व नागों की अन्य आकृतियों पर अमरावती की शैली की हल्की छाप देखी जा सकती है। हालाँकि कलाकारों ने बुद्ध की आकृति को स्वीकार कर लिया था, परन्तु उन्होंने स्तंभों के शीर्षों पर उनको नहीं दर्शाया, जहाँ वे प्रतिमात्मक रूप में दर्शाये गये हैं।

सभागार का अग्रभाग, जिसमें तीन द्वार हैं, अन्य प्रारंभिक चैत्य-गृहों की भव्यता व मनोहरता से रहित है। इसकी विशेषता दो युगलों के दो समूह हैं। प्रत्येक समूह, द्वारों के मध्य, आयताकार आलों में बने हैं। अर्धगोलाकार चैत्य-खिड़की आडंबरपूर्ण अलंकृतिकरण से रहित है, परन्तु उसकी निचली सतह में लकड़ी के जालीदार कार्य के लिए छिद्र हैं। बरामदे की पार्श्व दीवारों के समस्त स्थान को घेरती हुई बुद्ध की दो विशाल खड़ी आकृतियाँ वरद मुद्रा में मकर तोरण के नीचे बनी हैं, जो 5वीं-6ठी शताब्दी का अध्यारोपण हैं। इसी काल से संबंधित बुद्ध और बोधिसत्व की कुछ अन्य आकृतियाँ है, जिनमें पद्मपाणि की भी एक आकृति है, जो आभूषणों से रहित

है परन्तु जटा पर मुकुट बना है।

इस चैत्य-गृह का भीतरी भाग अर्धवृत्ताकार है। अगली पंक्ति के चार स्तंभों सहित, जिनमें से दो अनियमित हैं, इसमें कुल चौंतिस स्तंभ हैं। इन असन्तुलित स्तंभों की दोनों पंक्तियों में से प्रथम छः में सीढ़ीदार पीठिका पर घटनुमा आधार हैं। अप्टभुजाकार स्तंभ मनकेदार आधार सहित औंधे घटों से अभिषिक्त हैं। शीर्पफलक और अलंकृत शीर्ष पशुवाहक, स्तूपों का अभिपेक, बोधि वृक्ष के नीचे पद-चिन्ह जैसे विपयों से उत्कीर्ण हैं। बाँयी कतार के स्तंभों में से पाँच स्तंभ इनके समान ही हैं, परन्तु उनमें आधार नहीं हैं। स्तूप के पीछे के स्तंभ सादे अप्टभुजाकार हैं। मध्य भाग (Nave) तथा अर्धवृत्तकक्ष की मेहरावदार छत को लकड़ी के विशाल शहतीरों से सहारा दिया गया है। पार्श्व-वीथी (गलियारा) की छत दो तरफ से समतल है। स्तूप में मेधि के केन्द्रीय घेरे के साथ आयताकार आलों की कतार है, जिसके ऊपर एक गढ़न है तथा एक दूसरी पट्टी अर्धगोलाकार अण्ड के चारों ओर है।

चैत्य-गृह के सामने निर्मित (संरचनात्मक) विशाल स्तूप थे। उनमें से पत्थर से बने एक स्तूप में से दो छोटे ताँवे के अस्थि-कलश, कपड़े के एक टुकड़े सहित स्वर्ण-मँजूपा, एक रजत-मँजूपा, एक मानिक, एक मोती, स्वर्ण के कुछ टुकड़े तथा दो ताम्र-पत्र निकले हैं, जिनमे से एक की तिथि 324 ईसवी है। गुफा के सामने लगभग 30 फुट की दूरी पर, गढ़न वाले आधार वाला ईंटों का एक खण्डित ढाँचा है। पाँचवी-छठी शताव्दी के अभिलेखों वाले दो भली-भाँति तराशे पत्थर के टुकड़े यहाँ से मिले हैं, जिनके मध्य में एक-एक छिद्र है।

इस चैत्य-गृह के समीप तथा पहाड़ी को जाने वाले मार्ग पर एक अन्य विशाल चैत्य-गृह (गुफा सं० 1) है। इसमें स्तंभों वाले सभागार के अतिरिक्त दो-मंजिला वरामदा और एक डयोढी थी। डयोढी उत्खनन की प्रारंभिक अवस्था में मिली है। गुफा निश्चित रूप से पाँचवी-छठी शताव्दी ईसवी से पहले की नहीं है और संभवतः और बाद की ही है। ऐसा अनुमान वरामदे के स्तंभों की शैली को देखने से लगाया जा सकता है जिनके शीर्प पर आमलक वने हैं।

गुफा सं० 11 दरवार गुफा के नाम से जानी जाती है। इसमें आठ अप्टभुजाकार स्तंभों वाला एक वरामदा, वाँये किनारे पर स्तंभों वाला एक छोटा प्रार्थनालय, तीनों दिशाओं में स्तंभों सहित वीथी वाला समतल छत का एक सभागार, जिसके मध्य में पिछली ओर एक पूजा-स्थल है तथा सात कक्ष पीछे की ओर और तीन कक्ष वाँयी ओर समाहित हैं। सभागार में तीन दरवाजे तथा दो खिड़कियाँ हैं और एलोरा की

गुफा सं० 5 के समान ही इसके फर्श पर कम ऊँचाई की दो वेंच हैं। पूजा-स्थल की पिछली व दाहिनी दीवार पर बुद्ध की उपदेश देती हुई प्रलंवपाद-आसन में बैठी हुई वड़ी आकृतियाँ वनी हैं। यहाँ विभिन्न तिथियों के चार अभिलेख भी हैं। इनमें से एक शक वर्ष 775 (853 ईसवी) का राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष और उनके सामन्त शिलाहार राजकुमार कपर्दिन के शासनकाल का है। इसमें विभिन्न भेंटों और पुस्तकों तथा नुकसान की मरम्मत के लिए धन देने का वर्णन है।

गुफा सं० 33 के कक्षों में से एक में कच्ची ईंटों से वने चार संरचनात्मक स्तूप कम से कम सन् 1853 ईसवी तक अवश्य अस्तित्व में थे। यह गुफा गुफाओं के एक समूह की वीच की दीवारों के गिर जाने से वनी थी। इन स्तूपों के सारभाग में उत्खनन से वड़े पैमाने पर मिट्टी की फलकें मिली हैं, जिन पर 10वीं शताब्दी ईसवी के अक्षरों में बौद्ध मंत्र उत्कीर्ण हैं। इस गुफा में हाल ही में की गई सफाई से बड़े पैमाने पर मिट्टी की वस्तुयें मिली हैं जिनमें छोटे व्रतानुष्ठित स्तूप, बुद्ध की आकृति सहित छोटी फलकें, बौद्ध प्रतिमायें तथा लगभग 10वीं ईसवी की गोल सीलें समाहित हैं।

गुफा सं० 4 के सामने हाल ही में उत्खनन द्वारा एक छोटा गोल ढाँचा निकला है। गुफा सं० 38 के सामने विभिन्न आकार के 55 स्तूप निकले हैं जो ईंटों से पटे फर्श पर तीन कतारों में व्यवस्थित थे। यहाँ एक खण्डित प्रस्तर स्तूप और प्रस्तर से काट कर वनाई गई सीढ़ियाँ भी निकली हैं। गुफा सं० 2 के सामने एक प्रस्तर-मँजूपा मिली है, जिसमें एक मनके और सीप सहित एक मिट्टी का पात्र था। इनके अतिरिक्त सजावटी मृण्मूर्ति की वस्तुयें, सिक्के, ताम्र-कमल, ईंटें और मिट्टी के बर्तन मिले हैं।

इस केन्द्र की रोचक विशेषता इसका विशिष्ट समाधि क्षेत्र है जो एक एकान्त चंवूतरे पर अलग-थलग स्थित है। यहाँ अनेकों छोटे स्तूप हैं जो प्रमुख भिक्षुओं के अस्थि-अवशेषों पर वने हैं। अधिकतर स्तूप ईंटों के वने हैं, केवल कुछ स्तूप प्रस्तर काट कर बनाये गये हैं। प्रस्तर स्तूपों में से एक नक्काशी द्वारा अलंकृत है, जवकि ईंटों से वने हुओं में से कुछ में वक्र और पखदार ईंटों की गढ़न है।

बाघ

भारत में मात्र दो स्थलों पर हमें अत्यन्त सुन्दर प्राचीन बौद्ध भित्ति-चित्रों के दर्शन होते हैं। इनमें से प्रथम स्थल तो विश्व प्रसिद्ध अजन्ता की गुफायें हैं और दूसरा स्थल है बाघ गुफायें जो बौद्ध धर्मानुयायियों और कला प्रेमियों के मध्य अपेक्षाकृत उतनी प्रचलित नहीं हो पायी हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि यहाँ की गुफायें काफी ढ़ह चुकी हैं और अजन्ता की तरह अच्छी हालत में नहीं हैं। भित्ति-चित्रों की दृष्टि से इन दोनों की श्रेणी में मात्र एक अन्य स्थल को रखा जा सकता है। वह है श्रीलंका की सिगिरिया गुफायें।

गुहा-विहार (लेण) भारत के पश्चिमी भाग में ही स्थित हैं। इनमें से अनेकों का निर्माण प्रारंभिक सातवाहन काल में (द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) हुआ है और भिक्षुओं के निवास स्थान के रूप में उनका प्रयोग वाद की कई शताब्दियों तक होता रहा है। इनमें से कुछ गुफायें लगभग 8वीं शताव्दी ईसवी के अन्त तक प्रयोग में आती रहीं, जवकि बौद्ध धर्म भारत के कुछ स्थानों पर ही बचा रह गया था।

गुहा-विहारों की परंपरा आश्चर्यजनक रूप से विन्ध्य पहाड़ियों के दक्षिण में ही प्रचलित थी। इन्हीं में मध्य प्रदेश के ग्वालियर क्षेत्र के अन्तर्गत धार (Dhar) जिले में विन्ध्य पहाड़ियों के दक्षिणी भाग में बनी 'वाघ' नामक इन भव्य गुफाओं का भी प्रमुख स्थान है। भारत के गुहा विहारों में भौगोलिक दृष्टि से उत्तर दिशा की ओर बनीं ये अन्तिम गुफायें हैं। नर्मदा नदी की सहायक नदी (धारा) वाघिनी या वाघमती के नाम पर इस स्थान का नाम वाघ गुफायें पड़ा। यह नदी विन्ध्य पहाड़ियों के ऊपर कहीं अपने स्रोत से निकल कर टेढ़े-मेढ़े मार्ग से होते हुए कुक्शी नामक नहर से वहते हुए नर्मदा नदी में जा मिलती है। यह स्थल महोव (Mhow) स्टेशन से पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग 148 किलोमीटर दूर है। समीपवर्ती कस्वा, जो लगभग 5 किलोमीटर दूर है, बाघ नाम से ही जाना जाता है। नदी से लगभग 30 फुट की ऊँचाई पर 5वीं-6ठी शताव्दी ईसवी में निर्मित ये गुफायें बलुआ पत्थर की खड़ी चट्टानों पर वनी हैं। पुरातत्वविद इन गुफाओं से मलवे को साफ कर केवल नौ गुफाओं को सामने ला पाये हैं और पूरे समूह में अनेकों अन्य गुफायें अभी दृष्टि

से दूर हैं। गुफाओं के खण्डित हो जाने के कारण यह अनुमान लगाना काफी कठिन है कि वे एक समय कितनी भव्य व प्रभावशाली रही होंगी, क्योंकि सामूहिक दृश्य (Ensemble) पूरी तरह नष्ट हो गया है। इन तक पहुँचने का रास्ता विन्ध्य पर्वत श्रृंखला में अनेकों मोड़ों से होकर गुजरता है और थोड़ा कठिन है।

बाघ गुफाओं के साथ प्रकृति बड़ी निष्ठुरता से पेश आयी है। इन्होंने अवश्य ही ऐसी प्राकृतिक आपदाओं को झेला है जिनसे पश्चिम भारत की गुफायें सौभाग्य से बची रही हैं। ये गुफायें बलुआ पत्थर की चट्टान को काट कर बनाई गई थीं, परन्तु इन गुफाओं के ऊपर चिकनी मिट्टी-पत्थर (Clay-stone) की मोटी पर्त थी। इस ऊपरी पर्त के वजन व दबाव और यहाँ से होने वाले पानी के रिसाव के कारण ये हड़हड़ा कर ढह गयीं हैं। इससे अधिकतर गुफाओं व उनकी डयोढ़ियों (द्वार-मण्डप) को और विशेषकर उनके अग्रभाग को बड़े पैमाने पर नुकसान पहुँचा है। इससे हमारी प्राचीन धरोहर की अपूर्णनीय हानि हुई क्योंकि इन गुफाओं की दीवारें और छतें कभी शास्त्रीय चित्रकला के भव्य प्रभावशाली प्रदर्शन का भण्डार थीं। परन्तु बचे हुए चित्रों के अवशेषों को देखने से, हालांकि उनकी मात्रा काफी कम है, यह आभास होता है कि अपने समय में वे अलंकरण की कितनी अद्भुत संपदा संजोये हुए थीं। इन भित्ति-चित्रों के काफी बड़े भागों ने विलोपन (Effacement) द्वारा क्रम और निरन्तरता खो दी है, परन्तु बचे हुए अंश काफी बुरी अवस्था में होते हुए भी इस प्रकार के सम्मोहक गुणों वाले हैं कि इस स्थान के इतने सुदूर होने पर भी यह कलाकारों के लिए एक तीर्थ बन गया है।

इन गुफाओं से ऐसा एक भी शिलालेखीय साक्ष्य नहीं मिलता है जिससे इसके इतिहास के विषय में पता चले। यह ज्ञात नहीं है कि इनकी शुरूआत किसने की या संरक्षक कौन थे, परन्तु ये ऐसे क्षेत्र में हैं जहाँ इनके निर्माण के समय बौद्ध-धर्म का काफी प्रभाव था। मध्य प्रदेश के सुदूर पश्चिम के इस क्षेत्र का प्राचीन नाम मल्वा (मालवा) था और मालवा में अनेकों स्थलों पर गुहा-विहारों के छुट-पुट अवशेष मिलते हैं।

यहाँ पर किसी भी गुफा से पत्थर पर खुदे अभिलेखों की पूर्ण अनुपस्थिति को इस अनुमान से समझा जा सकता है कि यहाँ पर रंगों द्वारा अभिलेखों को लिखने की परंपरा रही होगी न कि पत्थर पर उकेरने की। पानी के रिसाव व मौसम के प्रभाव से अपक्षयन (Weathering) के कारण समय के साथ वे सभीअभिलेख मिट गये। इस अनुमान को थोड़ा और बल देने के लिए वर्णमाला का प्रथम व्यंजन 'क' गुफा सं० 4 और 5 को जोड़ने वाली डयोढी की पिछली दीवार पर चित्रित एक दृश्य के नीचे लिखा प्राप्त हुआ है। इस एकमात्र अक्षर की पुरालिपि जाँच से पता

चलता है कि यह छठी या सातवीं शताव्दी की गुप्तकालीन लिपि का अक्षर है, जव कि गुप्त साम्राज्य के बिखर जाने के बाद भी परवर्ती गुप्त राजा यहाँ राज्य कर रहे थे। इस पुरालिपि तथ्य को विद्यमान मूर्तियों व चित्रों से सहायता मिलती है। इन गुफाओं में गुप्त काल का प्रभाव स्पष्ट है। संरचनात्मक आयामों की विशालता और कलात्मक अलंकरण की अनुरूपता के द्वारा ये गुफायें गुप्तकालीन परंपराओं की विशेषतायें लिये हुए हैं।

प्रारंभिक गुप्त सम्राट नालन्दा के बौद्ध मंदिरो व विहारों के निर्माता और बौद्ध संघ के संरक्षक थे। संभवतः उनके द्वारा स्थापित यह परंपरा उस समय तक समाप्त नहीं हुई होगी, जब प्रतापी गुप्त राजाओं का स्थान स्थानीय और क्षेत्रीय राजाओं द्वारा ले लिया गया तथा गुप्त वंश की एक शाखा का शासन (लगभग 600 ईसवी) मालवा तक फैला था। मालवा को गुप्तों की उपस्थिति का सौभाग्य पाँचवी शताव्दी से ही मिला था। ऐसा प्रतीत होता है कि छठी शताव्दी के अन्त और सातवीं शताव्दी के प्रारंभ के समय में यह गुप्तों की एक शाखा के सीधे शासन में था, जिनका गुप्त सम्राटों से संवंध स्पष्ट नहीं है। हालांकि मालवा क्षेत्र में परवर्ती गुप्त राजाओं के निश्चित स्थान व विस्तार के विषय में ठोस रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। संभवतः बाघ-गुफायें अपने निर्माण के समय में इन परवर्ती गुप्त राजाओं के अधिकार क्षेत्र में आती थीं। गुप्त कला के साक्ष्यों, गुप्त निर्माण की विशिष्टता और बड़े पैमाने पर बने होने के अतिरिक्त उनके वास्तविक निर्माताओं के विषय में कोई अन्य साक्ष्य उपलव्ध नहीं हैं।

इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है कि क्यों और कब इन गुफाओं का प्रयोग छोड़ दिया गया। संभवतः परित्याग का श्रेय इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के पतन के कारणों पर अधिक न होकर जलाँक्रान्त (Water logged) चिकनी मिट्टी-पत्थर की भारी ऊपरी पर्त के नीचे झोलदार (Sagging) गुफाओं की असुरक्षित अवस्था को दिया जा सकता है।

वास्तुकला की दृष्टि से ये गुफायें दक्खन की अन्य समकालीन गुफाओं के समान ही हैं, लेकिन इनकी कुछ अलग विशेपतायें हैं। इनमें चैत्य-गृहों की अनुपस्थिति और आत्मनिर्भर पूजा-गृहों में स्तूपों की उपस्थिति इनको अन्य गुहा-विहार केन्द्रों की श्रेणी से पृथक करती है। विहारों में पूजा-गृह (स्थल) सम्मिलित होने के कारण भिक्षुओं ने संभवतः एक अलग चैत्य-गृह को अनावश्यक समझा होगा। पूजा स्थल में एक वुद्ध प्रतिमा के स्थान पर, जैसा कि इस काल के अन्य गुहा विहारों में होता था, एक स्तूप की पूजा थोड़ी पेचीदा अवश्य है। विशेष तौर से तव जव कि उस स्तूप के अग्रभाग में वुद्ध व वोधिसत्वों की प्रतिमायें वनी हों और गुफा की दीवारें

विभिन्न बौद्ध देवकुल की आकृतियों से भरी पड़ी हों। यहाँ ऐसा प्रतीत नहीं होता, जैसा कि अनेकों अन्य पश्चिम भारतीय गुफाओं के साथ है, कि यह स्थल पहले हीनयानी भिक्षुओं द्वारा प्रारंभ किया गया हो और वाद में यहाँ महायानियों का आगमन हुआ हो। यहाँ परवर्ती महायानी पुनरोद्धार या मूर्ति अलंकरण का कोई संकेत नहीं है। बाघ गुफाओं का समस्त समूह अवश्य ही प्रारंभ से ही महायानी भिक्षुओं के अधिकार में रहा होगा। यहाँ की सभी बुद्ध मूर्तियाँ व चित्र या तो बोधिसत्व आकृतियों सहित हैं या उनके दोनों वगलों में क्रमशः अवलोकितेश्वर और मञ्जुश्री की आकृतियाँ हैं। एकमात्र पूजनीय विषय के रूप् में स्तूप की स्थापना हीनयानी और महायानी भिक्षुओं द्वारा समान रूप से पूजा के उद्देश्य से प्रतिमा निर्माण के प्रारंभ और उसके प्रचलन को स्वीकृत कर लिये जाने के कई शताब्दियों के बाद तक भी विहारों में प्रतीक-पूजा के लंवे अस्तित्व की ओर संकेत करती है। इन स्तूपों में से एक के आले से एक वड़ी बुद्ध प्रतिमा को हटा कर उसके स्थान पर उसी आकार की एक हिन्दू देवता गणेश की प्रतिमा की स्थापना यहाँ पर परवर्ती काल में हिन्दू मतावलंवियों द्वारा आधिपत्य जमा लेने का आभास देती है।

यहाँ से प्राप्त भित्ति-चित्र अपनी सामान्य परंपरा (Idiom) में और विशेप रूप से सभी रंगों (Pigmentation), मुद्राओं और भंगिमाओं में स्पष्टतया अजन्ता शैली से मेल खाते हैं। निस्सन्देह शिल्पकारिता की दृष्टि से वे समान हैं, परन्तु विपयों के चयन में थोड़ा अन्तर है। वाघ भित्ति-चित्रों को अजन्ता के परवर्ती भित्ति-चित्रों के समकालीन माना जाता है। भित्ति-चित्रों की सहज स्वाभाविक तकनीक के कौशल में यहाँ के कलाकार किसी भी दृष्टि से अजन्ता के कलाकारों से कम नहीं हैं। अजन्ता के विषय अपेक्षाकृत अधिक धार्मिक हैं, वे बुद्ध के पूर्व-जन्मों की घटनायें उनके मानवीय संबंधों के साथ दर्शाते हैं। उनकी अपेक्षा वाघ भित्ति-चित्र अधिक मानवीय हैं, वे उस समय के सामान्य जन जीवन को उसके धार्मिक संवंधों के साथ दर्शाते हैं। इन चित्रो में सांसारिक प्रयोजन अधिक हैं और जीवन से जुड़े दृश्य अधिक मात्रा में दिखायी देते हैं जैसे शानदार जुलूस व घोड़ों, हाथियों सहित पूर्ण सजावटी शोभायात्रा से लेकर के आन्तरिक घरेलू घटनाओं तक के दृश्य जैसे एक क्रुद्ध पति झगड़ालू प्रतीत होती पत्नी के वाल पकड़े हुए है और उसको हाथ में ऊपर उठी हुई छड़ी से डरा रहा है, इत्यादि।

यहाँ वनी कुछ गुफायें पहले की हैं और कुछ अपेक्षाकृत वाद की हैं। शिल्पकारिता के संदर्भ में उनके वीच के अन्तर की अजन्ता की गुफाओं के इसी प्रकार के अन्तरों से तुलना की जा सकती है। गुफा सं० 1 संभवतः सवसे प्राचीन है। गुफा सं० 2 और 3 उसके बाद की हैं और अजन्ता की गुफा सं० 12 की कोटि में आती हैं। गुफा सं० 4 अजन्ता की इसी संख्या की गुफा की समकालीन हो सकती है, हालांकि

उसके चित्र अजंता की गुफा सं० 16 और 17 के समवर्ती हैं। गुफा सं० 4, 5 और 6 समकालीन लगती हैं और इस समूह की बची हुई गुफाओं में से कालक्रमानुसार अन्तिम प्रतीत होती हैं ।

गुफा सं० 1 एक चार स्तंभों वाला कक्ष है, जिसके आगे एक डयोढी वनी थी, जो पूर्णतया नष्ट हो गयी है।

गुफा सं० 2 वड़े पैमाने पर वना सामान्य चतुर्भुजीय विहार है। इसका अग्रभाग मूलतः चैत्य-खिड़कियों वाला था और उनमें सिंह-मुख व कमल के पुष्प सन्निविष्ट थे। गुफा में एक प्राँगण जिसके दोनों ओर एक-एक प्रतिमा के लिए आले बने थे, एक स्तंभों वाला बरामदा जिसके दोनों किनारों पर एक-एक कक्ष थे, एक सभागार जिसके तीनों ओर कुल मिलाकर 18 कक्ष थे और एक स्तंभों वाला गर्भ-गृह जो सभागार के पीछे के एक पूजा स्थल को जाता है, समाहित हैं। सभागार में तीन दरवाजे व दो खिड़कियों के अलावा 20 स्तंभ एक चौकोर आकार में वने हैं। इन स्तंभों के अतिरिक्त चार अन्य स्तंभ एकदम मध्य में थे जो इस गुहा-विहार समूह की विशेपता है और ये संभवतः स्थायित्व को सुनिश्चितता प्रदान करने के उद्देश्य से बने थे। इन चार स्तंभों के गढ़न सहित वृत्ताकार आधार, सर्पीली खड़ी धारी वाले दण्ड और कोष्ठक शीर्ष थे। बाहरी वर्ग के स्तंभ भी वैसी ही सामान्य विशेषतायें रखते हैं–दण्ड के निचले चौकोर भाग सहित गढ़न वाले चौकोर आधार और कोष्ठक शीर्प। दण्ड के ऊपरी भाग अवश्य भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं जैसे अप्टकोणीय से लेकर 16 कोण वाले और उनमें अर्ध कमलों सहित विभिन्न प्रकार के फलक हैं।

गर्भ-गृह की प्रत्येक दीवार पर वुद्ध की वरद-मुद्रा में खड़ी प्रतिमायें हैं जिनके दोनों ओर दो सहायक वने हैं। पूजा स्थल के द्वार की रक्षा दो वोधिसत्व करते हैं। पूजा स्थल के स्तूप का अप्टकोणीय आधार, आधार व शीर्ष पर गढ़न वाली मेधि, एक अण्ड, आलों वाली हर्मिका और छत तक पहुँचता हुआ छत्र है।

गुफा सं० 3 कुछ असामान्य है। सवसे आगे वने एक प्राँगण सहित इसमें आठ अप्टकोणीय स्तंभों वाला एक सभागार, सभागार की दाहिनी ओर एक कतार में चार कक्ष, सभागार की पिछली ओर एक अन्य स्तंभों वाला कक्ष, जो संभवतः वाद का परिवर्धन है और वाँयी ओर कक्षों का एक समूह समाहित हैं। इस समूह में एक स्तंभों वाला प्रकोष्ठ जो पिछले कक्ष तक जाता है तथा चार कक्ष हैं। पिछले कक्ष में वुद्ध की तथा घुटने टेके हुए उपासकों की आकृतियाँ दीवारों पर चित्रित हैं। इसी प्रकार का एक अन्य समूह प्राँगण के वाँयी ओर है जिसके मुख्य कक्ष में दीवारों पर वुद्ध की आकृतियाँ चित्रित हैं।

गुफा सं० 4, गुफाओं में सबसे ज्यादा अलंकृत है। निस्सन्देह इसके चित्रों के कारण ही इसका स्थानीय रंगमहल है। यह गुफा, गुफा सं० 2 के समान ही निर्मित है, परन्तु अपेक्षाकृत अधिक बड़ी है। सभागार के चारों ओर के कक्षों की संख्या 1127 है, इसमें वे दो कक्ष भी शामिल हैं, जो अन्य दो कक्षों के पीछे बने हैं। इनमें से एक कक्ष तो अपने आगे बने कक्ष के भूमि-तल से नीचे की ओर उत्खनन द्वारा निर्मित है। इसमें पूजा स्थल में स्तूप बना है परन्तु आगे बनाया जाने वाला प्रकोष्ठ नहीं है।

सभागार उत्कीर्ण स्तंभों, दरवाजों व खिड़कियों सहित निर्मित है। स्तंभावली दो समूहों में विभाजित है। बाहरी समूह के स्तंभों के कोष्ठक अंशतः रंगे हुए हैं और अंशतः पशुओं, काल्पनिक जीवों के चित्रों से गढ़े हुए हैं। इस सभागार की मुख्य विशेषता तीन अलंकृत द्वार मण्डप हैं जिनकी छतें, बाहरी समूह की पिछली व पार्श्व की कतारों के दो केन्द्रीय स्तंभों के शिखर से निकलती हैं। अग्र स्तंभों के ऊपर के प्रस्तर पर बुद्ध की आकृति सहित चैत्यगृह के अग्रभाग और मानव शीश सहित चैत्य खिड़कियों की आकृतियाँ बनी हैं। मुख्य द्वार का चौखटा बड़े पैमाने पर अलंकृत है।

यह गुफा कभी पूरी तरह चित्रित थी, जिसका अब केवल कुछ भाग ही बचा है। सबसे बड़ा अंश बरामदे की पिछली दीवार पर है। यह एक विशाल चित्रवल्लरी-समान रचना है, जो एक असंबद्ध वृत्तान्त की लड़ी सी प्रतीत होती है। बाँयी ओर से प्रारंभ में एक रोती हुई स्त्री और उसके साथ में सहानुभूति दर्शाने वाले साथी का दिल को छूने वाला दृश्य है, जो सुशिष्ट तथा विरल अलंकृत है। अगला दृश्य चार बैठे हुए लोगों के समूह का है जो गंभीर, शायद धार्मिक वार्त्तालाप में गहरी तरह से डूबे प्रतीत होते हैं। इनमें से दो व्यक्तियों के सिरों पर मुकुट हैं। इसके आगे नर्तकों व संगीतकारों की मण्डली चित्रित है। तत्पश्चात दो भव्य जुलूस दर्शाये गये हैं। पहला, उत्साही घोड़ों पर बैठे हुए, सिले हुए कपड़े पहने व कुलीन भाव लिये हुए अश्वारोहियों के समूह की राजसी शोभायात्रा है और दूसरा जुलूस, घुड़सवार व हाथी सवारों का मिला-जुला समूह है। हाथी सवारों में औरतें भी शामिल हैं। ये गूँगे दृश्य क्या कहानी कहना चाहते हैं यह पहेली ही है जो अब तक सुलझी नहीं है। इतने समय के बाद भी ये भित्ति चित्र अपने शास्त्रीय गुणों के कारण तथा रंगों, संयोजनों, रूप, आकृति-शैली व सौन्दर्यपरक, सुरूचिपूर्ण गुणों के माप के आधार पर चित्ताकर्षक हैं। निस्सन्देह आकृतियाँ अपनी कुलीन अभिव्यक्ति के कारण कहीं भी आभूषणों के अनावश्यक बाहुल्य से रंजित नहीं हैं। कोमल व सुखद नमूने (मूर्तियाँ) और लयबद्ध संयोजन मुख्य कलाकार की अत्यन्त उन्नत कलात्मक दृष्टि व तकनीकी ज्ञान को सूचित करता है।

सभागार की दीवारें, छतें व कुछ स्तंभ विभिन्न प्रकार की फूल-पत्तियों व पौधों के संयोजनों तथा पशु आकृतियों से अलंकृत हैं। सभी उत्कृष्ट कौशल के साथ चित्रित किये गये हैं।

गुफा सं० 5 का स्तंभों वाला बरामदा, गुफा सं० 4 का विस्तार है। इसके दाहिने छोर पर एक कक्ष है, जो गुफा सं० 4 के बरामदे के बाँये छोर पर बने कक्ष के सदृश है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुफा सं० 5, गुफा सं० 4 का उपगृह है। बरामदे के पीछे एक लंबा कक्ष है (संभवतः भोजनालय), जिसमें स्तंभों की दो समानान्तर कतारें हैं। ये स्तंभ गोलाकार हैं। स्तंभों की प्रत्येक कतार एक निरन्तर बनी नींव पर निर्मित है। नींव के समानान्तर और दीवारों से बाहर को निकलता हुआ प्रक्षेपण है जो संभवतः बैठने के उद्देश्य से आसन के रूप में प्रयोग होता था। इस कक्ष में प्रवेश करने के लिए एक दरवाजा तथा प्रकाश के लिए चार खिड़कियाँ हैं। यह गुफा भी कभी शानदार रूप से चित्रित थी।

गुफा सं० 5 के कक्ष से एक मार्ग द्वारा जुड़ी हुई गुफा सं० 6 है। यह एक छोटा विहार है जिसमें एक सभागार, उसके पीछे की ओर तीन व बाँयी ओर दो कक्ष हैं। सभागार में एक दरवाजा और आगे की ओर दो खिड़कियाँ हैं तथा चार स्तंभ वर्ग आकार में लगे हैं।

शेप तीन गुफायें बुरी तरह जीर्णावस्था में हैं। इनमें से गुफा सं० 7 एक काफी बड़ा विहार है जिसके पूजा स्थल में एक स्तूप है।

इन खण्डहरों के शेप हिस्से दर्शाते हैं कि गुफाओं की योजना मूलतः कितने बड़े पैमाने पर बनाई गई होगी और देखने में ये कितनी भव्य व प्रभावशाली रही होंगी। यहाँ भिक्षुओं के कक्षों के संदर्भ में कुछ विभिन्नता भी देखने को मिलती है। भिक्षुओं के कक्ष प्रायः वर्गाकार हैं आयताकार नहीं, जैसे कि पश्चिम भारत की लेणों में हैं। इनमें से कुछ में गर्भगृह भी हैं जो थोड़ा नीचे के स्तर पर बने हैं, जहाँ कक्ष से जाने के लिए बगल की दीवार से एक अत्यन्त संकरा मार्ग है। संभवतः ये समाधि-कक्ष थे जिनके नालन्दा के विहारों में अनेकों उदाहरण मिलते हैं। इन भिक्षुओं के कक्षों में से किसी में भी पत्थर की शैय्या नहीं हैं। फिर भी इन गुफाओं की भव्यता व विशालता के संदर्भ में, भिक्षु कक्षों की अल्पसंख्य चौंकाने वाली है। अन्त में यही कहना पर्याप्त होगा कि यह स्थान बौद्ध धर्म के पतन के काल में प्रारंभ हुआ था और इसका संघीय जीवन इसकी वास्तुकला, शिल्पकला और विशेपकर चित्रकला के अनुपात में पर्याप्त नहीं था।

रत्नागिरि

उड़िसा के कटक जिले में बीरपुर नामक नदी के किनारे असिया (Asia or Assia) नामक पर्वत श्रृंखला की तीन पहाड़ियाँ उदयगिरि, रत्नागिरि और ललितगिरि प्राचीन काल से बौद्ध केन्द्रों के रूप में जानी जाती थीं। इन तीनों पहाड़ियों के चारों ओर बौद्ध देवकुल की अनेकों प्रतिमायें मिली हैं, जिनमें से कुछ की तो स्थानीय लोग आज भी पूजा करते हैं। यहाँ अपने आकार व महत्व की दृष्टि से सबसे प्रसिद्ध रत्नागिरि महाविहार था जो पहाड़ी के शिखर पर स्थित था। यह स्थान कटक से दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर लगभग 65 कि० मी० दूर है और यहाँ पतमुण्दई (Patamundai) नहर के किनारे की सड़क द्वारा पहुँचा जा सकता है।

अन्य अनेकों बौद्ध केन्द्रों के समान समय के साथ इसका नाम भी भारत के लोगों के स्मृति-पटल से पूरी तरह मिट गया था। रत्नागिरी के साथ बौद्ध धर्म के संबंध को भुला दिये जाने के बाद स्थानीय लोगों द्वारा यह माना जाने लगा कि इन पहाड़ियों में एक पौराणिक राजा का महल-समूह रहा होगा। एकमात्र विद्यमान मंदिर ब्राह्मणवादी हिन्दुओं द्वारा अपना लिया गया, जिन्होंने यहाँ प्रतिष्ठित बौद्ध देवता महाकाल की प्रतिमा को इसी नाम से ब्राह्मणवादी देवता के रूप में प्रचलित कर दिया।

सौभाग्य से इस स्थल का थोड़ा बहुत वर्णन कुछ तिब्वती ग्रंथों में बचा रहा है जिसके द्वारा इसके महत्व और प्रसिद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। तिब्वती इतिहासकार तारानाथ ने "भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास" (1608 ईसवी) नामक ग्रंथ में वर्णन किया है कि बुद्धपक्ष के शासनकाल में (नलिनाक्ष दत्त ने इस राजा की पहचान गुप्त वंश के नरसिंहगुप्त बालादित्य से की है) रत्नागिरि नामक एक विहार उडिविश (उड़ीसा) राज्य के एक पहाड़ के शिखर पर बनाया गया तथा विहार में महायान, हीनयान व अन्य शास्त्रों के तीन समूह (sets) रखे गये थे। यहाँ आठ बड़े धार्मिक संप्रदाय थे तथा 500 (पाँच सौ) भिक्षु निवास करते थे। एक अन्य

तिव्वती ग्रंथ पाग-ओ-सेम-जोन-जंग [Pag-O-Sam-Jon-Zang (1747 ईसवी)] के अनुसार, आचार्य वितोवा (Bitoba) जादू द्वारा सम्भल गये तथा शिक्षा ग्रहण की और कालचक्र-तन्त्र प्राप्त किया। उसे वे रत्नागिरि लाये और अवोधुतिप (अवधूति), वोधिश्री तथा नारोपा को समझाया। उपरोक्त तथा अन्य तिव्वती स्रोतों से यह निश्चित होता है कि रत्नागिरि अपनी उन्नति के समय में एक महत्वपूर्ण वौद्ध केन्द्र था तथा आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए प्रसिद्ध था। 10वीं शताव्दी ईसवी के अन्तिम भाग में यह महाविहार कालचक्र तन्त्र का एक जीवंत केन्द्र था। कालचक्र यान के प्रचार व प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले इस केन्द्र के महत्व का अनुमान नारोपा जैसे विख्यात आचार्य से इसके संवंधों के कारण सरलता से लगाया जा सकता है।

रत्नागिरि पहाड़ी के शिखर पर सन् 1958 (उन्नीस सौ अट्ठावन) ईसवी के पश्चात हुए उत्खननों से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वौद्ध केन्द्र के अवशेप प्रकाश में आये हैं। यहाँ से प्राप्त अनेकों सीलों पर "श्री-रत्नागिरि-महाविहारीय-आर्यभिक्षु-संघस्य" उत्कीर्ण होने से इसके रत्नागिरि महाविहार होने पर कोई संदेह नहीं रह जाता है। यहाँ से प्राप्त प्राचीनतम अवशेप 5वीं शताव्दी ईसवी की, गुप्त काल के अक्षरों में लिखी 13 इंच ×8.75 इंच की एक प्रस्तर पट्टिका और मानवाकार वोधिसत्व अवलोकितेश्वर की चार भुजाओं वाली प्रतिमा हैं। यह केन्द्र कम से कम 12वीं शताब्दी ईसवी तक अर्थात सात सौ साल तक वौद्ध धर्म, कला व वास्तुकला के क्रमिक विकास का साक्षी रहा है। इसने स्वयं को नालन्दा महाविहार के समान एक महत्वपूर्ण धार्मिक व दार्शनिक संस्थान के रूप में इतना विकसित कर लिया था कि वौद्ध धर्म के वुद्धिजीवी विद्वानों से शिक्षा ग्रहण करने के लिए यहाँ प्रवेशकों (प्रतियोगियों) तथा विद्वानों ने भीड़ लगा दी थी। 13वीं शताव्दी के अन्त में, यहाँ इमारत निर्माण के कार्य में अवरोध सा आ गया था, जिसका कारण संभवतः भारत के एक बड़े भाग पर विदेशी आक्रमणकारियों का हमला रहा होगा। हालांकि इसके नये विजेताओं द्वारा इसे सीधे नप्ट किये जाने के कोई साक्ष्य नहीं हैं। तत्पश्चात इसकी अवस्था सभी प्रकार से पतनोन्मुख ही रही, हालांकि तब उस कमजोर हालत में भी बौद्धों ने स्वयं को कुछ शताव्दियों तक इस स्थान पर बचाये रखा था और अपने अत्यन्त सीमित स्रोतों से 16वीं शताव्दी ईसवी तक धर्म की वुझती रोशनी को बचाने के लिए प्रयास किया था।

प्रायः अन्य वौद्ध केन्द्रों के समान यहाँ भी मूलतः इमारतों के दो पृथक समूह

थे, जिनमें से एक में पूजनीय स्मारक, स्तूप इत्यादि थे तथा दूसरे में भिक्षुओं के निवास स्थान जैसे विहार इत्यादि थे। परन्तु समय के साथ दोनों समूह, उनके बीच बन गये, अनेकों स्तूपों व मंदिरों द्वारा एक दूसरे से जुड़ गये थे। यहाँ के उत्खनित अवशेषों का तिब्बती ग्रंथों में दिये गये इनके वर्णनों से पर्याप्त साम्य है। उत्खनन से एक विशाल स्तूप, दो विशाल चौकोर विहार, एक एकभुजिय विहार, आठ मंदिर, काफी बड़ी संख्या में छोटे स्तूप, मूर्तियाँ व वास्तुकला की वस्तुओं के टुकड़े, रोजमर्रा में प्रयोग की वस्तुयें और सैकड़ों ऐसे अन्य साक्ष्य मिले हैं, जिनसे इस महाविहार के तत्कालीन जीवन का ज्ञान होता है। इन सबसे यह आभास होता है कि यहाँ एक ऐसा केन्द्र था जिसकी तुलना नालन्दा से की जा सकती है। छोटे व्रतानुष्ठित एकाश्म स्तूपों की विशाल संख्या की दृष्टि से रत्नागिरि की तुलना बोध-गया तक से की जा सकती है। इनमें से अनेकों पर वज्रयान देवकुल के देवी-देवताओं की आकृतियाँ प्रदर्शित हैं।

पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिम किनारे, सर्वोच्च स्थल पर, पूजा की मुख्य वस्तु एक प्रभावशाली स्तूप स्थित था। इस स्तूप का कम से कम दो बार पुनरोद्धार हुआ है। स्तूप का निर्माण सर्वप्रथम संभवतः गुप्तकाल में हुआ था और उस काल के दो प्रस्तर फलक समीप ही मिले हैं जिन पर, बौद्ध ग्रंथ 'प्रतीत्य समुत्पाद सूत्र', 5वीं शताब्दी के अक्षरों में उत्कीर्ण है। इस स्तूप की खण्डित नींव पर 8वीं शताब्दी के लगभग स्तूप का पुनरोद्धार हुआ। इस द्वितीय निर्माण का भी, गोल मेधि भाग के कुछ अंश को छोड़ कर, पूरा ढाँचा जो कि ठोस आधार पर स्थित था गायब है। त्रि-रथ आकार के उपान पर बने चबूतरे का नक्शा भी त्रि-रथ आकार का ही था। लगभग 14 (चौदह) फुट ऊँचा चबूतरा अत्यन्त सुन्दर ईंटों का बना था और उस पर चूने का प्लास्टर किया गया था। प्रत्येक रथ के दो भाग थे, जिससे कि इसकी 47 (सैंतालिस) फुट लंबी चारों दिशाओं में से प्रत्येक में छः प्रक्षेपण थे। फलिका जैसे उप-पंगों के पार्श्व में होने के अतिरिक्त प्रत्येक प्रक्षेपण पाँच लताओं द्वारा एक दूसरे से अलग थे। प्रक्षेपण को समतल गढ़न द्वारा अलंकृत किया गया था। यह गढ़न छेनी से कटी व अनगढ़ी ईंटों के पश्चप्रवण (receding) तथा प्रक्षेपित विषयों से बनी थी। चबूतरे के ऊपर मेधि की अन्दरूनी बनावट चक्राकार थी जिसमें एक केन्द्रीय ठोस नाभि, 12 तीलियाँ (आरे) तथा बाहरी घेरा समाहित था। आरों के मध्य की जगह पर मिट्टी भरी थी।

इस मुख्य स्तूप के ऊपरी अंश और मेधि का ऊपरी भाग ढह जाने तथा निचले अंश के मलबे में दब जाने के पश्चात एक बार फिर इसका पुनरोद्धार हुआ था।

13वीं शताब्दी के बाद में तथा इस बौद्ध केन्द्र के पतन के समीप के समय में यह पुनरोद्धार हुआ था, जिससे इसका नक्शा ही बदल गया था। बहुभुजी आधार के स्थान पर इसने तव आधार से ही गोलाकार रूप अख्तियार कर लिया। ऐसा दो विभिन्न तलों पर दो गोल दीवारों के निर्माण द्वारा उपलब्ध खाली स्थल को भर देने से संभव हुआ। निचली दीवार अधिकतर मलवे तथा अंशतः पहले बने चवूतरे के खण्डित प्रक्षेपित किनारों द्वारा निर्मित थी तथा मेधि के रूप में प्रयुक्त हुई। इस दीवार व चवूतरे के मध्य की जगह को मिट्टी व ईंटों के टुकड़ों से भरा गया था। इसके ऊपर एक अन्य दीवार अण्ड के आवरण में बनायी गयी थी तथा दीवार के आधार के चारों ओर की जगह प्रदक्षिणा पथ के रूप में प्रयुक्त हुई। ये दोनों दीवारें स्तूप के गिरे भागों से एकत्रित ईंटों व ईंटों के टुकड़ों से निर्मित थीं। साथ ही साथ, स्तूप के चारों ओर बड़े चौड़े खाली हिस्से को घेरने के लिए, एक चतुर्भुजी हाते की दीवार भी खड़ी कराई गई। स्तूप तथा हाते की दीवार के मध्य का क्षेत्र समतल कर दिया गया क्योंकि तव तक मुख्य स्तूप के चारों ओर बने छोटे स्तूप या तो खण्डित अवस्था में थे या निर्मित स्तूपों के मलवे में दव गये थे।

मुख्य स्तूप की उत्तर दिशा में वने स्तूप सं० 2 का आधार भी त्रि-रथ आकार का था और प्रत्येक दिशा की लंबाई 32 (वत्तीस) फुट 9 (नौ) इंच थी। उपान के ऊपर वने आधार की वर्तमान ऊँचाई 7 (सात) फुट 7 (सात) इंच है। स्तूप का अग्रभाग अलंकृत है। ठोस ईंटों के वने इस स्तूप के मध्य में तीन आयताकार कक्ष वने थे, जिनमें से एक कक्ष में से पाँच मृण्मूर्ति (पक्की मिट्टी) फलक मिले हैं, जिन पर धारणियाँ उत्कीर्ण हैं।

मुख्य स्तूप का हाता विभिन्न आकार व आधार के स्तूपों से भरा है। सामान्यतः गोल, चौकोर व अष्टभुजी स्तूप हैं, जिनमें से कुछ सादे हैं तो कुछ में अलंकरण है। हालाँकि एकाश्म स्तूपों की संख्या संरचनात्मक स्तूपों की अपेक्षा काफी अधिक है परन्तु फिर भी संरचनात्मक स्तूप भी वहुत वड़ी संख्या में हैं। छोटे स्तूप मुख्य स्तूप के निर्माण व पुनरोद्धार के आधार पर तीन विभिन्न कालों से संवद्ध हैं। प्रस्तर स्तूपों में विभिन्न अलंकरण हैं जिनमें से एक प्रमुख विषय वज्रों की कतार है। कुछ में, अण्ड के चार प्रमुख भागों में प्रतिमा सहित आले हैं जिनमें वुद्ध, ध्यानी-वुद्ध, लोकेश्वर तथा वज्रयान देवकुल की देवियां जैसे अपराजिता, वज्र-तारा इत्यादि की प्रतिमायें हैं। संरचनात्मक स्तूपों में रखी गयी वस्तुयें विभिन्न प्रकार की व रोचक हैं। कुछ स्तूप शारीरिक हैं और उनमें से जली हुई हड्डियाँ, राख इत्यादि मिली हैं। कहीं-कहीं अस्थि-अवशेषों के साथ मनके इत्यादि भी मिले हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्तूपों में प्रस्तर व मृण्मूर्ति (पक्की मिट्टी) के फलक व पट्टियाँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर बौद्ध मंत्र, प्रतीत्य समुत्पाद सूत्र व धारणियाँ उत्कीर्ण हैं। स्तूपों में कई तलों पर रखी

वस्तुयें मिली हैं। स्तूप सं० 55 के भीतर तीन विभिन्न तलों पर क्रमशः निम्नलिखित वस्तुयें मिली हैं–जम्भल व मैत्रेय की दो काँस्य प्रतिमायें, एक गोल फलक पर उत्कीर्ण बौद्ध मंत्र और लोकेश्वर की सेलखड़ी पत्थर की प्रतिमा। मुख्य स्तूप की दक्षिण-पश्चिम दिशा में सैकड़ों एकाश्म स्तूप हैं, जिन पर प्रायः महायान-वज्रयान देवकुल की प्रतिमायें बनी हैं। ये निस्सन्देह उन तीर्थयात्रियों की श्रद्धा को दर्शाते हैं जो समय-समय पर यहाँ आये थे। इनके अतिरिक्त यहाँ से काफी बड़ी मात्रा में तथा मुख्य स्तूप के चारों ओर के मलबे से ऐसे अनेकों साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं जो इस केन्द्र के महायान-वज्रयान से घनिष्ठ संबंधों को दर्शाते हैं।

मुख्य स्तूप की उत्तर दिशा में लगभग 300 (तीन सौ) फुट दूर एक टीले से दो पूर्ण-विकसित विहार मिले हैं। इस टीले का स्थानीय नाम राणी-पुखुरि है। दोनों विहारों का मुख, मुख्य स्तूप की ओर है और उनके मध्य एक संकरी गली है। पूर्वी विहार, सं० 1, दोनों में बड़ा है तथा इसका मूल ढाँचा प्राचीन चतुःशाला शैली का है। इस विहार में पत्थरों से ढ़ँका एक विशाल प्राँगण है जिसके चारों ओर स्तंभों वाला बरामदा है जो स्वयं 24 कक्षों से घिरा है। इसके अतिरिक्त एक पूजा स्थल विहार के मध्य में है जिसमें स्तंभों वाला एक अन्तः कक्ष व प्रवेश द्वार समूह समाहित हैं। विहार में ऊपरी मंजिल भी थी जहाँ जाने की विशाल प्रस्तर-सीढ़ियाँ दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर हैं। प्रभावशाली आकार होने के अतिरिक्त पूजा स्थल के उत्कृष्ट अलंकरण के कारण यह अत्यन्त महत्वपूर्ण स्मारक है। अपनी वास्तुकला की उत्कृष्टता, प्रभावशाली संयोजन, प्रतिमाओं की बनावट और सूक्ष्म व बारीक सजावटी अलंकरण के कारण यह बौद्ध कला व वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण है।

इस विहार का निर्माण 7वीं-8वीं शताब्दी के लगभग हुआ था। विहार का आकार 181 (एक सौ इक्यासी) फुट 6 (छः) इंच × 180 (एक सौ अस्सी) फुट है तथा सामने प्रवेश द्वार समूह के रूप में एक पञ्च-रथ आकार का अतिरिक्त प्रक्षेपण है और एक प्रक्षेपण पूजा स्थल के पीछे है। एक प्रस्तर सोपाण द्वारा पत्थरों से ढ़ँके प्राँगण से होते हुए प्रवेश द्वार समूह तक पहुँचा जा सकता है, जिसमें एक अग्र डयोढ़ी और एक पृष्ठ डयोढ़ी समाहित हैं। दोनों डयोढियाँ एक दरवाजे से जुड़ी हैं जो भीतर आने का प्रवेश द्वार है। अग्र डयोढ़ी की बगल की दीवारें आलों में खड़ी वज्रपाणि और पदम्पाणि की प्रतिमाओं से अलंकृत हैं। ऐसी अग्र डयोढियाँ नालन्दा सहित अन्य अनेकों स्थलों पर भी हैं परन्तु उनकी पिछली दीवारों पर इतना अधिक व आकर्षक अलंकरण कहीं भी नहीं है। दरवाजे की चौखट पर गज-लक्ष्मी तथा बगल में फूल-पत्तियों और विसर्पी लता (creepers) की सहायता से अत्यन्त सुन्दर अलंकरण है। पृष्ठ डयोढी की ईंटों की बनी पूर्वी व पश्चिमी दीवारों में मुण्डि के आलों में क्रमशः हरिति और पाञ्चिक की प्रतिमायें बनी हैं।

पूजा स्थल का प्रस्तर निर्मित अग्रभाग विभिन्न प्रकार की विसर्पी लताओं, द्वार पाल की आकृतियों, बोधिसत्वों, चाँमर-धारकों, नागों इत्यादि द्वारा प्रचुरता से उत्कीर्ण है। पूजा स्थल के भीतर एक पीठिका पर बुद्ध की भूमि-स्पर्श मुद्रा की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस प्रतिमा के पार्श्व में चाँमर पकड़े हुए पद्मपाणि व वज्रपाणि की खड़ी प्रतिमायें हैं। पूजा स्थल की ईंटों से वनी पूर्वी व पश्चिमी दीवारों में दो गुप्त कक्ष भी हैं।

वरामदे की छत लगभग 9 (नौ) फुट चौड़ी थी तथा 60 (साठ) स्तंभों पर वनी थी। विशाल प्राँगण 88 (अट्ठासी) फुट 8 (आठ) इंच चौकोर आकार का है तथा प्रस्तर पट्टियों से ढँका है। इसका तीखा ढलान उत्तर-पूर्वी किनारे की ओर है जहाँ एक छोटी दीवार से घिरा एक छोटा नहाने का स्थान है। इस कोने से एक नाली प्रारंभ होती है जो वरामदे व कक्ष सं० 11 के नीचे से गुजरते हुए पानी को विहार के वाहर ले जाती थी। नाली के मुख पर एक प्रस्तर आवरण लगा है।

विहार के कक्ष ईंटों के वने हैं, केवल दरवाजों की चौखटें ही प्रस्तर की हैं। कक्ष सं० 17 को वाद में विहार की तिजोरी (strong–room) के रूप में परिवर्तित कर दिया गया था। इस विशेप कक्ष में से काँस्य प्रतिमायें, स्तूप व छत्र, विभिन्न आकार प्रकार व लेखों वाली असंख्य मिट्टी की सीलों जैसे छोटे पुरावशेपों का विशाल ढेर मिला है। इनके अतिरिक्त यहाँ दो लोहे की कटारें भी मिली हैं। ऐसे संघ के विहार में, जिसका उद्देश्य अहिंसा था, ऐसी वस्तुओं की उपस्थिति अनुचित सी है। निचली मंजिल के कक्षों की छत समतल थी और लकड़ी के शहतीरों पर टिकी थी। सीढ़ियों के वगल में तथा वरामदे के दक्षिण भाग के पश्चिमी किनारे पर एक दरवाजा था जो इस विहार व विहार सं० 2 के मध्य की गली को जाता था।

जव यह विहार खण्डित अवस्था में पहुँच गया तो एक वार पुनः 11वीं शताव्दी के वाद किसी समय वड़े पैमाने पर इसकी पूर्ण मरम्मत करायी गयी थी। ढहती हुई वाहरी दीवारें, जो मूलतः ईंटों की थीं, प्रस्तर आवरण सहित पुनः निर्मित हुई। कक्षों के दरवाजों पर ईंटें जोड़ने के उपरान्त उन्हें मलवे इत्यादि से भर दिया गया तथा उनके ऊपर पुनर्निर्मित विहार के कक्ष वना दिये गये। इस भराव में रत्नागिरि महाविहार की सीलें काफी मात्रा में मिली हैं। पहले का वना पूजा स्थल, प्राँगण, वरामदा, सीढ़ियाँ व प्रवेश द्वार की अग्र व पृष्ठ डयोढियाँ इस काल में भी प्रयोग में आती रहीं। केवल पूजा स्थल के पहले से वने अग्रभाग को ढँकती हुई एक नयी प्रस्तर दीवार वना दी गई। यूँ तो नया अग्रभाग भी प्रचुरता से उत्कीर्ण था, परन्तु

अलंकरण का स्तर पहले के कारीगरों की अपेक्षा निम्न था। वाद में इसके सामने एक नया अन्तः कक्ष वना दिया गया। इसकी ईंटों की दीवारों के आलों में विभिन्न काल की अनेकों प्रतिमायें लगी थीं। अग्र डयोढी में एक आवरण-दीवार जोड़ दी गई थी जो मूलतः दक्षिण में खुलती थी तथा विहार सं० 2 की ओर का सहायक दरवाजा पत्थरों से बन्द कर दिया गया।

विहार के अन्तिम काल में, जो विशेपकर उसकी ढहति अवस्था को दर्शाता है, वरामदे के उत्तरी, पश्चिमी व पूर्वी भाग में कक्ष वनाने के उद्देश्य से टूटी-फूटी ईंटों की दीवारें वना दी गई। केवल बरामदे के दक्षिणी भाग का पश्चिमी हिस्सा और प्राँगण खुले छोड़ दिये गये थे। प्राँगण, वरामदे इत्यादि में पक्की मिट्टी की खपरैल (tiles) के ढेर लगे होने से ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षुओं ने अपने सीमित स्रोतों से इसकी मरम्मत कराने का प्रयास किया था, जो किसी कारण से पूरा न हो सका था।

विहार सं० 2 का नक्शा भी विहार सं० 1 के समान ही था, किन्तु यह उससे अपेक्षाकृत छोटे पैमाने का तथा एक मंजिला ही था। विहार की वाहरी दीवारों के वाहरी हिस्से के केन्द्रीय प्रक्षेपणों को छोड़ कर यह लगभग 95 (पिच्चानवे) फुट चौकोर है। निर्माण मूलतः ईंटों का है, परन्तु दरवाजों, खिड़कियों की चौखटों, स्तंभों, प्राँगण व पूजा स्थल के फर्श में पत्थरों का प्रयोग हुआ है। वाहरी अग्रभाग का आधार समान अन्तराल पर प्रक्षेपित ईंटों से वने आँतरिक चित्रों से अलंकृत था। कक्ष आकार में छोटे हैं तथा उनकी मेहरावदार छतें हैं। कुछ कक्षों में एक दीर्घा भी वनी हुई है जिसकी छतें मेहरावदार तथा फर्श ऊँचा है। प्रत्येक दीर्घा में वलुआ प्रस्तर की खिड़की द्वारा प्रकाश का प्रावधान था। प्रस्तरों से ढँके फर्श वाले पूजा स्थल का मुख प्रवेश द्वार की ओर था तथा उसमें वुद्ध की वरद-मुद्रा में खड़ी प्रस्तर प्रतिमा समाहित थी, जिसके दोनों ओर लोकनाथ व शडक्षरी लोकेश्वर की लघु प्रतिमायें थीं।

विहार सं० 2, विहार सं० 1 के पहले काल के वाद का परन्तु दूसरे काल से पहले का है। यह विहार, एकदम समान नक्शे वाले एक पूर्व निर्मित विहार की खण्डित दीवारों के ठीक ऊपर वना हुआ मिला है और 7वीं शताव्दी के वाद का नहीं है। इस विहार के कक्षों में ईंटों से वनी शैय्यायें पूर्व निर्मित विहार के अस्तित्व का प्रमाण हैं। इन शैय्याओं का एक किनारा कुछ उठा हुआ तथा ढलवाँ था, संभवतः तकिया के रूप में काम चलाने के लिए। एक कक्ष के पत्थरों से ढँके फर्श के नीचे

एक गुप्त तहखाना बना था, जिसमें जाने का मार्ग बगल के कमरे में से सीढ़ियों द्वारा था। इस गुप्त कक्ष में से दो प्रतिमाओं सहित कुछ काँस्य की वस्तुयें प्राप्त हुई हैं।

इस विहार के दक्षिणी भाग व बरामदे के नीचे, एक और पहले का विहार मिला है, जिसका केवल एक ही भाग कुछ कक्षों सहित उपलब्ध हुआ है।

जैसा कि ज्ञात है, उत्खनन द्वारा ईंटों के बने आठ मंदिरों के अवशेष मिले हैं। इनमें से किसी का भी ऊपरी भाग नहीं बचा है। इनमें से तीन मंदिर, विहार सं० 1 के दक्षिण-पूर्वी किनारे के समीप पहाड़ी के छोर पर एक के बगल एक खड़े हैं। इनमें से दो मंदिर के देऊल (deuls) वर्तमान अंशों और विच्छिन्न ईंटों के द्वारा सामान्य उड़ीसा रेखा श्रेणी के प्रतीत होते हैं, केवल कलश संभवतः स्तूप आकार के थे। दोनों ऊँचे उपान पर बने थे तथा देऊल (deuls) की अगली दीवार के साथ चौकोर जगमोहन (Jagamohana) जुड़े थे। तीसरा मंदिर सप्त-रथ आकार का था। पाभाग के उपलब्ध अंश की गढन विशिष्ट उड़ीसा शैली की है। ये मंदिर 10वीं शताब्दी ईसवी से पहले के नहीं हैं और संभवतः कुछ और बाद के ही हों। इनका पतन केन्द्र के जीवन काल में ही हो गया था।

विहार सं० 2 के सामने की जगह से तीन मंदिर निकले हैं। इनमें से एक कक्ष-नुमा है, जिसके चारों ओर आच्छादित मार्ग या संकरा प्राँगण है, जो दीवार से घिरा है। इसमें एक पीठिका पर खड़ी मँजुश्री की दो बाँहों वाली सुन्दर प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस पर उत्कीर्ण बौद्ध मंत्र पुरालिपि शास्त्र के अनुसर नौवीं शताब्दी ईसवी का प्रतीत होता है। दूसरा मंदिर आकार में त्रि-रथ है तथा लगभग 10वीं शताब्दी का है। मंदिर की तीन दीवारों के आलों में तीन प्रस्तर प्रतिमायें—वज्रराग, वज्रधर्म या रक्त-लोकेश्वर तथा वज्रसत्व, प्रतिष्ठित हैं। तीसरा मंदिर, जिसकी डयोढी त्रि-रथ तथा मुख्य मंदिर पंच-रथ था, पूर्णतः नष्ट हो गया है। ये तीन मंदिर एक सौ पच्चीस स्तूपों से घिरे हैं और अनेकों अन्य स्तूप अभी भी जमीन के नीचे दबे पड़े हैं। कुछ ईंटों के बने स्तूपों को छोड़ कर शेष सभी प्रस्तर निर्मित हैं, जिनमें से कुछ एकाश्म भी हैं। सभी प्रस्तर स्तूप छोटे आकार के हैं, जिनमें से कुछ अत्यन्त सुन्दरता से अलंकृत हैं। इन स्तूपों में से तीन की मेधि में चार आले बने हैं, जिनमें ध्यानी-बुद्धों की प्रतिमायें उपलब्ध हैं।

इस क्षेत्र का ईंटों का बना सबसे बड़ा स्तूप निचले ऊपान पर बना था तथा

उसमें आधार त्रि-रथ आकार का था, जिसके गढन में खुरा, नोलि व पटा का प्रयोग हुआ था। मूलतः इसकी मेधि के आलों में चार प्रमुख दिशाओं की ओर मुख किये चार ध्यानी-बुद्धों को दर्शाया गया था।

शेष दो मंदिर मुख्य स्तूप के समीप के क्षेत्र में हैं। परन्तु दोनों अपने पतन के कगार पर हैं तथा पूरा नक्शा नहीं दर्शा पाते हैं। इनमें से एक के पार्श्व में ललितासन में बैठी लोकेश्वर की चार बाँहों वाली सुन्दर प्रस्तर प्रतिमा मिली है। प्रतिमा के पृष्ठ भाग पर बौद्ध मंत्र तथा एक छोटी धारणी है, जो 9वीं-10वीं शताब्दी ईसवी के अक्षरों में उत्कीर्ण है।

एक बाजू वाला विहार, खिचिंग (Khiching, Distt. Mayurbhanj) के इटामुण्डिआ नामक ईंटों की इमारत की याद दिलाता है। इसमें एक कतार में तीन कक्ष तथा उनके आगे बरामदा बना है। बीच का कक्ष संभवतः निजी पूजा स्थल के रूप में प्रयोग में आता था तथा बगल के दोनों कक्ष निवास के रूप में प्रयुक्त होते थे। यह विहार एक पूर्व निर्मित विहार की खण्डित दीवारों के ऊपर बना था। इस टीले से, इसके उत्खनन से काफी पहले, सोमवंशी राजा कर्ण का तीन ताम्र-पत्रों का अधिकार पत्र (charter) मिला है। इस राजा का समय 11वीं शताब्दी के अन्त में तथा 12वीं शताब्दी के प्रारंभ में माना जाता है। इस अधिकार पत्र में सलोणपुर महाविहार (जो संभवतः रत्नागिरि से 21 कि० मी० दूर सोलमपुर से पहचाना जा सकता है) से संबंधित राणी कर्पूरश्री को एक गाँव दान दिये जाने का वर्णन है। इस टीले से इन ताम्र-पत्रों के मिलने से अनुमान लगाया जा सकता है कि कर्पूरश्री ने अपने जीवन का अन्तिम समय रत्नागिरि के इस स्थान पर बिताया होगा।

उत्खनन द्वारा यहाँ से बड़े पैमाने पर पुरावशेष मिले हैं। उनमें से विशेष ध्यान देने योग्य काँस्य वस्तुओं में बुद्ध प्रतिमायें (खड़ी व बैठी दोनों मुद्राओं में), लोकेश्वर, मैत्रेय, मँजुश्री, यमारि, तारा व जम्भल की मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण वस्तुओं में बुद्ध व ध्यानी बुद्धों की प्रस्तर प्रतिमाओं सहित लोकेश्वर, पदम्पाणि, वज्रपाणि, मञ्जुश्री, वज्रराग, जम्भल, हेरूक, सम्वर, हरिति, तारा के विभिन्न रूप, वसुधारा, आर्य-सरस्वती व अपराजिता जैसी बौद्ध देवकुल के देवी-देवताओं की प्रतिमायें हैं। कला के भिन्न प्रकारों सहित वे विभिन्न काल व शैलीयों का प्रतिनिधित्व करती हैं। उड़ीसा में कला, वास्तुकला व बौद्ध धर्म की स्थिति को जानने के लिए रत्नागिरी से बढ़िया कोई दूसरा बौद्ध केन्द्र नहीं है। एक लंबे काल तक बौद्ध धर्म की सेवा करने वाला यह महाविहार उड़ीसा की कला की धरोहर है तथा यहाँ के स्थानीय कलाकारों की प्रतिभा तथा विद्वानों की ज्ञान पिपासुता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

कौशांबी

भगवान बुद्ध के जीवन-काल में कौशांवी भारत के महत्वपूर्ण नगरों में से एक था। उत्तरी भारत के तत्कालीन छः प्रमुख नगरों में इसका भी स्थान था और यह शक्तिशाली वत्स राज्य की राजधानी था। इस नगर के प्रारंभ के विषय में हमें अनेकों पारंपरिक साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात होता है , परन्तु उनसे प्राप्त वर्णन परस्पर विरोधाभास लिए हुए हैं। महाभारत के अनुसार इस नगर की स्थापना चेदि-राज के राजकुमार उपरिचर वसु ने की थी। तत्पश्चात कुरू वंश के एक राजा ने चेदि राज्य को जीत लिया। उनके पाँच शक्तिशाली पुत्र थे, जिनमें से एक का नाम कुसम्ब था। कोशांबी नगर उसके नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ। रामायण में भी कौशांबी नगर की स्थापना का स्पष्ट वर्णन है। उसके अनुसार काफी पहले कुश नामक एक धार्मिक राजा थे, जिनकी पत्नी का नाम वैदर्भी था। उनके चार पुत्र थे–कुशाम्व, कुशनाम, असुत-राज व वसु। एक दिन कुश ने अपने पुत्रों को नये राज्य स्थापित करने को कहा। इस प्रकार कुशाम्ब ने कौशांबी नगर बसाया।

इसी प्रकार पुराणों में भी कौशांबी का वर्णन मिलता है। उनका वर्णन एक दूसरे के समान है। मत्स्य पुराण के अनुसार जव हस्तिनापुर नगर गंगा नदी की बाढ़ से बह गया, तो तत्कालीन कुरू या भारत राजा निचक्षु ने राजधानी हस्तिनापुर छोड़ कौशांवी में बसाई थी। निचक्षु, अर्जुन के पौत्र परीक्षित के पाँववे वंशज थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि निचक्षु के समय भी कौशांबी नगर का अस्तित्व था। इसके अतिरिक्त कौशांबी का वर्णन पालि त्रिपिटक, जातक (अट्ठकथा), ललितविस्तर, मेघदूत, कथासरित्सागर, रत्नावली आदि ग्रंथों और चीनी तीर्थ-यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्तों में भी मिलता है।

यमुना नदी के तट पर स्थित होने के कारण इस नगर में वाणिज्य का अत्यन्त विकास हुआ था। यह नगर अनेक व्यापारिक नगरों को जोड़ने वाले स्थल व जल-मार्गों के मध्य स्थित था। सुप्रसिद्ध मार्गों से जुड़े होने के कारण कौशांबी उत्तर-पूर्वी भारत में आयात-निर्यात का महान केन्द्र वन गया था। इसीलिए इसे वत्सपत्तन के नाम से भी जाना जाता था। यही कारण है कि यहाँ घोपित, कुक्कुट, पावारिय जैसे महत्वपूर्ण श्रेष्ठि (सेठ) निवास करते थे।

कौशांवी का निश्चित इतिहास राजा उदयन के समय से मिलता है। पुराणों के अनुसार राजा उदयन निचक्षु से वंश-परंपरा में सत्ररहवें राजा थे और इस प्रकार भारत या कुरू वंश के थे। पुराण उनके पिता का नाम शतानीक बताते हैं। जैन परंपरानुसार भी उदयन के पिता शतानीक द्वितीय ही थे। तिव्वती दुल्वा ग्रंथ भी इसी नाम से सहमत है। उसके अनुसार भगवान वुद्ध व उदयन का जन्म एक ही समय में हुआ था। परन्तु पालि साहित्य में इस विपय पर मतभेद है। उसके अनुसार उदयन के पिता का नाम परन्तप था। उदयन की माँ के विपय में न तो पालि स्रोत और न तिव्वती दुल्वा ही कुछ प्रकाश डालते हैं। केवल संस्कृत स्रोत में (भास के नाटक) उदयन को वैदेही पुत्र कहा गया है।

बौद्ध काल में कौशांवी की महत्ता धार्मिक क्षेत्र में भी विशेप थी। तिव्वती परंपरानुसार भगवान वुद्ध ने स्वयं उदयन को बौद्ध संघ में दीक्षित किया था। किन्तु पालि साहित्य के अनुसार वौद्ध संघ के विशिष्ट सदस्य पिण्डोल भारद्वाज ने उन्हें बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था, न कि गौतम वुद्ध ने। भले ही भगवान वुद्ध ने स्वयं उदयन को दीक्षा न दी हो, परन्तु कौशांवी में उनका आगमन अनेकों बार हुआ था। उन्होंने यहाँ अनेकों सूत्रों का उपदेश दिया और भिक्षु-संघ की स्थापना की। उदयन का पुत्र राजकुमार वोधि भी भगवान का अनुयायी था। राजा उदयन द्वारा वौद्ध धर्म स्वीकार करने के उपरान्त तो कौशांवी में वौद्ध धर्म का वहुत प्रचार हुआ। भिक्षुओं के लिए अनेकों विहार व आरामों का निर्माण हुआ, जिसमें श्रेष्ठि-वर्ग ने विशेप योगदान दिया। इन विहारों में घोपिताराम विशेप प्रसिद्ध था। भगवान वुद्ध इसी में ठहरते थे और उन्होंने यहाँ पर कई उपदेश दिये थे। वौद्ध ग्रंथो में कुक्कुटाराम, पावारिकाराम, बद्रिकाराम आदि कौशांवी के कई अन्य प्रसिद्ध विहारों का उल्लेख मिलता है।

पुराणों व पालि ग्रन्थों में उदयन की मृत्यु के उपरान्त वोधि (राजकुमार) के चार उत्तराधिकारियों के नाम मिलते हैं। इसके वाद कौशांवी संभवतः नन्दों के अधीन हो गयी थी।

मौर्यों के शासनकाल में यह नगर प्रसिद्ध राजनीतिक, धार्मिक व व्यापारिक केन्द्र था। इसकी महत्ता के कारण ही अशोक ने कौशांवी में स्तंभों के ऊपर अपने लेखों को उत्कीर्ण कराया था। मौर्यकाल में यह संभवतः एक प्रान्त का अधिष्ठान था। कौशांवी-अभिलेख से ज्ञात होता है कि अशोक ने इस स्थान पर महामात्रों की नियुक्ति की थी। लगभग इसी काल में नगर के भिक्षु-संघ में एक महान भेद उत्पन्न हुआ, जिसको रोकने के लिए अशोक ने सक्रिय प्रयास किया था। अभिलेख में उसने आज्ञा निकाली थी कि संघ की एकता भंग करने वाला भिक्षु संघ की सदस्यता से

वंचित व निष्कासित कर दिया जायेगा। अशोक की दूसरी पत्नी (तीवर-माता) कारूवाकी ने पुण्यार्जन के लिये इस नगर में आम्रवाटिका, आराम व दानगृह का निर्माण कराया था। मौर्यो के अधोपतन के उपरान्त यह नगर मित्र नामधारी राजाओं का प्रादेशिक राजनीतिक केन्द्र बन गया था।

कौशांवी कुषाण राज्य में भी सम्मिलित था। यहाँ से प्राप्त एक बोधिसत्व-प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा कनिष्क के शासन काल के दूसरे वर्ष में यहाँ स्थापित की गई और यह लेख उस पर उत्कीर्ण किया गया। कनिष्क द्वारा दक्षिण-पूर्व की विजय यात्राओं के मध्य, अपने शासन-काल के दूसरे वर्ष में कौशांवी नगर को जीता गया था। कौशांवी के भग्नावशेषों पर स्थित गढ़वा नामक ग्राम से प्राप्त पाषाण खंड पर कुषाण-नरेश कनिष्क का एक उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुआ है, जिससे इस नगर के कुषाण-साम्राज्य के अधीन होने की सूचना मिलती है। वोधिसत्व की प्रतिमा के मिलने से यहाँ पर बौद्ध धर्म के प्रचलित होने का ज्ञान होता है।

कुषाणों के उपरान्त इस समृद्ध नगर में नेव नामक शासक का आधिपत्य स्थापित हुआ और तदुपरान्त मघ वंश का। कुषाण-काल की भाँति मघ-काल भी राजनीतिक व सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से कौशांवी के लिए उत्कृष्ट काल रहा था। खुदाई से प्राप्त अवशेषों में इस काल के स्मारकों का वाहुल्य है। तत्पश्चात यहाँ पर पुश्वश्री नामक राजा का शासन रहा, जिसके उपरान्त यह नगर संभवतः वाकाटक राज्य के अधीन रहा था।

चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध में यह नगर समुद्रगुप्त की विजयों के कारण गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। यह उस समय का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यही कारण है कि समुद्रगुप्त ने अपनी ऐतिहासिक दिग्विजय को चिरस्मरणीय वनाने के लिए यहाँ पर स्थित अशोक स्तंभ के ऊपर उसी विषय से संवंधित (तद्विषयक) एक नवीन लेख उत्कीर्ण कराया था। गुप्त काल में ही चीनी तीर्थ-यात्री फा-ह्यान यहाँ आये थे। उनके वर्णनानुसार यह स्थल ऋषिपत्तन (सारनाथ) से उत्तर-पश्चिम में 13 (तेरह) योजन पर स्थित था। उन्होंनें यहाँ पर घोषिताराम विहार भी देखा, जहाँ उस समय भी भिक्षु निवास करते थे। वे अधिकतर हीनयानी (थेरवादी) थे।

गुप्त राजवंश के अधोपतन के उपरान्त कौशांवी की समृद्धि क्रमशः क्षीण होने लगी। सातवीं शताब्दी ईसवी में यहाँ आये चीनी यात्री युवान-च्वांग ने नगर के अधिकांश विहारों को ध्वस्त अवस्था में पाया था। उन्होनें इस प्रकार के दस विहारों को देखा था। यहाँ पर रहने वाले भिक्षुओं की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गई थी। उनके अनुसार यहाँ केवल हीनयानी संप्रदाय के 300 (तीन सौ) भिक्षु

थे। युवान-च्वांग ने इस नगर में लगभग 60 (साठ) फुट ऊँचा एक बौद्ध मंदिर देखा, जो राजधानी के परकोटे के भीतर था। उन्होंने श्रेष्ठी घोषित के घर के खंडहरों को भी शहर के दक्षिण-पूर्वी किनारे पर देखा। तीर्थ-यात्री ने एक अन्य बौद्ध मंदिर, भगवान के बालों व नाखूनों पर निर्मित स्तूप व भगवान बुद्ध के स्नान-गृह के अवशेषों को भी देखा था। घोषिताराम विहार के अवशेष नगर के दक्षिण-पूर्वी किनारे पर थे।

इनके अतिरिक्त, उन्होंने घोषिताराम के दक्षिण-पूर्व में दो मंजिले एक भवन का भी वर्णन किया है, जिसके ऊपरी तल्ले पर ईंटों से निर्मित एक पुराना कक्ष था। यहाँ पर आचार्य वसुबन्धु निवास करते थे। यहीं पर वसुबन्धु ने हीनयानियों के सिद्धान्तों के खंडन के प्रयोजन से विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि शास्त्र (देई-शिर-लुन) की रचना की थी। उन्होंने घोषिताराम के पूर्व में एक आम्रवाटिका में एक प्राचीन घर के होने का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार वसुबन्धु के अग्रज असंग इसी में रहते थे। उन्होंनें यहाँ 'सियेन-यङ्-ग-शेङ्ग चिआओ-लुन' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

राजा हर्ष के ग्रन्थों प्रियदर्शिका व रत्नावली में भी इस नगर का वर्णन आता है। कालान्तर में रचित ग्रन्थ कथासरित्सागर में भी कौशांबी का वर्णन है। वर्द्धन वंश के उपरांत यह नगर लंबे काल तक प्रतिहार राजाओं के कान्यकुब्ज साम्राज्य में सम्मिलित था। ग्यारहवीं शताब्दी के एक लेख में भी कौशांबी-मण्डल का उल्लेख है। तत्पश्चात लंबे समय के उपरान्त बादशाह (राजा) अकबर के शासन काल (1565 A.D.) का एक अभिलेख अशोक स्तंभ पर उत्कीर्ण मिलता है, जो कि यहाँ के स्वर्णकारों द्वारा लिखवाया गया था।

इसके उपरान्त यह नगर काफी समय तक प्रकाश में नहीं रहा। आधुनिक काल में कनिंघम ने सन् 1871 में सबसे पहले कौशांबी नगर की खोज की। कौशांबी के विषय में सन् 1861 में बेयले (Baylay) ने कनिंघम से अपनी संभावना व्यक्त की थी। साथ ही शिक्षा विभाग के बाबू शिवप्रसाद ने भी इस विषय में उनकी सहायता की और इस प्रकार इलाहाबाद शहर से करीब 57 (सत्तावन) कि०मी० दूर वर्तमान कोसम नामक जगह पर प्राचीन कौशांबी नगर प्रकाश में आया। यह स्थल जैन मतावलंबियों के लिए भी महत्वपूर्ण है। आज भी यहाँ प्राचीन जैन मंदिर है, जो तीर्थयात्रियों का आर्कषण है। यहाँ पर प्राचीन जैन प्रतिमाओं का मिलना भी जैन धर्म से इसके संबंध को दर्शाता है।

प्राचीन कौशांबी नगर का घेरा लगभग 6 (छः) कि०मी० का था। यह नगर चारों तरफ से दीवारों से घिरा था, जहाँ आज घोषिताराम विहार के खंडहर, किले

की दीवार, प्रवेश द्वार के अवशेष और अन्य अनेकों कलाकृतियाँ आदि प्राप्त हुई हैं। सन् 1951 में घ पिताराम विहार के अवशेपों को पहचाना गया था। विहार का आकार काफी विशाल था। कनिष्ककालीन बोधिसत्व प्रतिमा और उस पर उत्कीर्ण भिक्षुणी बुद्धमित्रा का अभिलेख भी यहीं से प्राप्त हुआ है। विहार के मध्य एक विशाल स्तूप था, जिसकी नींव चौकोर थी। स्तूप के चारों ओर भिक्षुओं के कक्ष और प्राँगण में अनेकों छोटे स्तूप थे।

विहार के समीप ही नगर का पूर्वी प्रवेश द्वार था। यहाँ पर मित्र काल की स्येनचित्ति (Eagle–alter) मिली है, जो पुरुपमेध यज्ञ में प्रयुक्त होती थी। संभवतः मित्र राजाओं द्वारा अपनी राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ करने के उद्देश्य से पुरुपमेध यज्ञों का आयोजन किया गया होगा।

खुदाई (उत्खनन) से एक प्रस्तर का महल भी प्रकाश में आया है, जो नगर के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर यमुना नदी के तट पर था। इस महल के निर्माण का प्रारंभिक समय छठी शताब्दी ईसापूर्व का था। ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः यह राजा उदयन द्वारा उपयोग में लाया गया था। यह महल कम से कम तीन बार निर्मित हुआ और मित्र-वंश के वाद अपना महत्व खो बैठा था।

इनके अतिरिक्त कौशांवी से संवंधित दो स्तंभ भी अपना विशेप महत्व रखते हैं। एक अपने मूल स्थल पर (in situ) ही उपलव्ध है। इसका ऊपरी भाग टूटा है तथा शीर्प लुप्त है। इसकी शैली अशोक स्तंभों जैसी है, परन्तु अशोक के अभिलेख के अभाव में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इस स्तंभ पर गुप्तकाल से अव तक के कई अभिलेख हैं, जिनमें एक अकवर कालीन अभिलेख भी है। आज प्रयाग में उपलव्ध स्तंभ भी मूलतः कौशांवी का था, जिसे अकवर द्वारा प्रयाग ले जाया गया था। इस पर उत्कीर्ण अशोक का कौशांवी के महामात्रों को संवोधित संघभेद से संवंधित अभिलेख अपना विशेप महत्व रखता है। वर्तमान में यह प्रयाग के किले के भीतर है।

कनिष्क कालीन बोधिसत्व-प्रतिमा का भी अपना विशेप महत्व है। लाल पत्थर से वनी यह 4 (चार) फुट ऊँची प्रतिमा इलाहाबाद म्यूजियम में सुरक्षित है। कनिष्क के शासन के द्वितीय वर्प का भिक्षुणी बुद्धमित्रा का अभिलेख इसी प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त कौशांवी से प्राप्त अन्य अनेकों महत्वपूर्ण मूर्तियाँ, कलाकृतियाँ, वेदिका स्तंभ, सिक्के, सीलें इत्यादि इलाहावाद म्यूजियम में संग्रहित हैं और कौशांवी के वैभवपूर्ण राजनीतिक व धार्मिक अवस्था का ज्ञान कराती हैं।

कपिलवस्तु

तिलौराकोट या पिपरहवा

भगवान बुद्ध का जन्म पाँचवी-छठी शताब्दी ईसा पूर्व कपिलवस्तु नामक राज्य की इसी नाम की राजधानी में हुआ था। वे राजा शुद्धोदन और उनकी रानी महामाया या मायादेवी की इकलौती सन्तान थे। उनकी जन्म तिथि पर विभिन्न बौद्ध परंपराओं और विद्वानों में मतभेद हैं। श्रीलंका की परंपरा के अनुसार उनका जन्म 563 ईसा पूर्व में और परिनिर्वाण 483 ईसा पूर्व में हुआ था। परन्तु अनेकों अलग-अलग स्रोतों से विभिन्न विद्वानों ने उनकी जन्म-तिथि निर्धारण का प्रयास किया है, जिनमें परस्पर भेद है तथा उनके मध्य एक शताब्दी तक का अन्तर मिलता है। अधिकतर विद्वानों ने उनका जन्म 624 ईसा पूर्व और परिनिर्वाण 544 ईसा पूर्व में माना है। सभी विद्वान व स्रोत उनका जीवन काल 80 वर्ष का मानते हैं। इस सर्वमान्य तिथि के आधार पर ही 1956 ईसवी में समस्त बौद्ध मतावलंबी देशों ने और भारत ने भी उनकी 2500 वीं जन्म शताब्दी बड़े धूम-धाम के साथ मनायी थी।

उनके जन्म काल के समान उनके राज्य व विशेषकर राजधानी की पहचान पर भी मतभेद है। उनके जन्म स्थान लुंबिनी के विषय में तो अशोक के स्तंभ के मिलने से सर्वसम्मति है, परन्तु पूर्णतः निश्चित साक्ष्यों की अनुपस्थिति तथा प्रमुख चीनी तीर्थ यात्रीयों फा-ह्यान, युवान-च्वांग और इत्सिंग द्वारा परस्पर विरोधी सूचना दिये जाने के कारण यह विवाद आज तक नहीं सुलझ पाया है। अभी तक प्राप्त अधिकतर बौद्ध स्थलों की पहचान में सहायक होने वाले इन तीर्थ यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त कपिलवस्तु के विषय में सर्वथा भ्रमित प्रतीत होते हैं। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि इन यात्रियों के आगमन के समय यह नगर पूर्णतः नष्ट हो चुका था तथा उचित निर्देश, सहयोग व मार्ग दर्शन के अभाव में या तो उन्होंने दो अलग-अलग स्थलों को कपिलवस्तु मान उसी अनुसार वर्णन किया या दिशा व दूरी के विषय में उनको भ्रम हो गया। जो भी वात रही हो परन्तु आज वर्तमान में नेपाल की तराई में स्थित तिलौराकोट या भारतीय क्षेत्र में स्थित पिपरहवा का समीपस्थ क्षेत्र कपिलवस्तु नगर रहा होगा, ऐसी विद्वानों की सामान्य मान्यता है। निस्सन्देह तत्कालीन कपिलवस्तु

राज्य का कुछ भाग वर्तमान नेपाल में आता है और कुछ भारत में। भारत सरकार ने इस समस्त सीमावर्ती क्षेत्र को जिसके कपिलवस्तु होने का अनुमान है एक जिला बना दिया है और इसे सिद्धार्थनगर के नाम से जाना जाता है।

कपिलवस्तु या पालि 'कपिलवत्थु' के अनेकों नाम जैसे– कपिलवास्तु, कपिलावस्तु, कपिलपुर और कपिलनगर मिलते हैं। बौद्ध परंपरा के अनुसार प्रागैतिहासिक काल में सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजा विरूधक या सुजात्त कोसल में राज करते थे। रानी का देहान्त हो जाने पर उन्होंने एक दूसरी रानी से विवाह कर लिया, जिससे एक पुत्र पैदा हुआ। रानी अपने पुत्र को राजा बनाना चाहती थी अतः उसने पहली रानी से उत्पन्न चार पुत्रों व पाँच पुत्रियों को कोसल राज्य की राजधानी पोतल या साकेत से निकलवा दिया। राजकुमार अपने अनुयायियों सहित घने जंगलों से होते हुए उत्तर दिशा की ओर बढ़े तथा कपिल नामक मुनि के आश्रम में पहुँचे, जो भगीरथी या आधुनिक बाणगंगा के किनारे स्थित था। ऋषि की आज्ञा से उन लोगों ने यहाँ उनके नाम पर एक नगर बसाया जिसे कपिलवस्तु के रूप में जाना गया। अपने वंश की शुद्धता को बचाये रखने के लिए चारों भाइयों (राजकुमारों) ने सबसे बड़ी बहन प्रिया को राज-माता बना शेष चारों बहनों (राजकुमारियों) से विवाह कर लिया। यह सुन उनके पिता 'शाक्य, शाक्य' (बहुत अच्छा, बहुत अच्छा) कह उठे। माना जाता है कि इस प्रकार शाक्य वंश की उत्पत्ति हुई। एक अन्य मान्यतानुसार यह नाम संभवतः शाक (साल) वृक्ष से निकला है। ये शाक्य क्षत्रिय जाति के और गौतम गोत्र वाले माने जाते हैं।

सबसे बड़ी राजकुमारी, प्रिया, कुछ समय उपरान्त कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गयी। इस रोग को छूत की बीमारी माना जाने के कारण उसे नदी के किनारे जंगल में एक गुफा में छोड़ दिया गया। उसी समय बनारस का राम नामक राजा भी उसी रोग से ग्रस्त हो अपने पुत्र को राज-पाट सौंप कर उसी जंगल में निकल पड़ा। परन्तु किसी चमत्कार के कारण वह एक कोलने या कलौ वृक्ष (Nauclea Cordifolia) के नीचे बैठने से रोग मुक्त हो गया। उस राजकुमारी को भी उसी अवस्था में देख, राजा ने उसको भी ठीक कर उससे विवाह कर लिया। राजा का पुत्र उनके ठीक होने का समाचार जान आया परन्तु राजा की बनारस न लौटने की इच्छा जान उसने वहाँ एक नगर का निर्माण कराया। वह नगर कलौ वृक्ष के कारण कोलि या कौल्य कहलाया। इसे देवदह या देवहृद (देवों का तालाब) भी कहा जाता था और राजा के वंशज कोलिय कहलाये। कोलियों और शाक्यों के बीच अन्तर्वैवाहिक संबंधों के कारण घनिष्ठता स्थापित हो गयी थी। इन दोनों नगरों के मध्य एक छोटी नदी रोहिणी बहती थी। कोलिय राजा कपिलवस्तु के राजा के अधीन प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार साहित्यिक स्रोतों के अनुसार कपिलवस्तु के राजा भी कोसल के राजा के अधीन थे।

भगवान बुद्ध के पिता शुद्धोदन का विवाह देवदह के राजा अन्जन की दो पुत्रियों मायादेवी और महाप्रजापति गौतमी से हुआ था। स्वयं सिद्धार्थ का विवाह भी देवदह के राजा सुप्रवुद्ध की पुत्री यशोधरा या गोपा से हुआ था। 29 वर्प की आयु में अपनी पत्नी व पुत्र को छोड़ उन्होंने गृह-त्याग (महाभिनिष्क्रमण) किया और कपिलवस्तु से 12 योजन दूर मल्लों के देश की सीमा में अनोम (गन्दकि) नदी के पार अनुपिय नामक स्थल पर रात भर यात्रा कर पहुँचे। यहाँ उन्होंने राजसी वस्त्रों का त्याग कर भिक्षु के वस्त्र पहने। तत्पश्चात 6 वर्षों के उपरान्त 35 वर्प की अवस्था में उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ तथा उन्होंने अपने जीवन के शेप 45 वर्प 'वहुजन हिताय बहुजन सुखाय' में व्यतीत किये।

वोध-प्राप्ति के लगभग 6 वर्ष उपरान्त अपने पिता के आमन्त्रण पर बुद्ध कपिलवस्तु आये थे। उनका आगमन राजगृह से हुआ था जो लगभग 60 योजन की दूरी पर था। इस समय उन्होंने अनेकों शाक्य युवकों, अपने नाते-रिश्तेदारों जैसे आनन्द, अनुरूद्ध, नन्द इत्यादि को प्रव्रज्या दी और अपने पुत्र राहुल को भी संघ में शामिल कर लिया था। उनके पुनः राजगृह लौटने पर देवदत्त और राजसी नाई उपालि ने भी संघ में प्रवेश लिया।

एक समय असाधारण अकाल के कारण रोहिणि के जल को एक बाँध द्वारा सिंचाई के प्रयोजन से रोक दिया गया था। शाक्यों और कोलियों दोनों ने इस पर अपना विशेषाधिकार जताया। दोनों ओर के किसानों के वीच नोंक-झोंक हुई और अपनी-अपनी ओर के लोगों की सहायता के लिए सिपाही व राजकुमार इकट्ठे हो गये। जब बुद्ध को इसकी सूचना मिली तव युद्ध लगभग निश्चित था। उस समय तथागत वैशाली में थे। वे तुरन्त यहाँ आये और युद्ध की विभीषिका को टाल कर शान्ति स्थापित की। उन्होंने उस समय यहाँ 500 लोगों को प्रव्रजित किया।

भगवान बुद्ध जव वैशाली के समीप महावन विहार में रुके थे तव उन्हें अपने पिता की वीमारी की सूचना प्राप्त हुई। वे तुरन्त कपिलवस्तु गये और अन्तिम क्षणों में शुद्धोदन की सेवा की। उनके पिता की मृत्यु 97 वर्ष की आयु में श्रावण मास की पूर्णिमा को हुई। इस समय महाप्रजापति गौतमी, यशोधरा और अन्य 500 शाक्य स्त्रियों ने प्रव्रजित होने की प्रार्थना की, परन्तु बुद्ध इसे अस्वीकार कर वैशाली की ओर वढ़ गये। किन्तु वे सभी स्त्रियाँ उनके पीछे-पीछे वहाँ भी गयीं और उनकी दयनीय अवस्था से प्रभावित होकर आनन्द द्वारा उनका समर्थन किये जाने पर बुद्ध ने उनको प्रव्रजित होने की आज्ञा दे दी।

राजा शुद्धोदन के वाद भद्रक या भद्दय राजा वना और उसके भगवान बुद्ध का

अनुयायी बन जाने पर महानाम कपिलवस्तु का शासक वना। कोसल के राजा प्रसेनजित का विवाह शाक्य राजवंश की एक दासी से हो गया था, जिससे विरूधक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। एक समय विरूधक के कपिलवस्तु आगमन पर शाक्यों ने उसके निम्नकुल का होने के कारण अनादर किया। उसने बदला लेने का प्रण किया और श्रावस्ती का राजा वनने पर, कपिलवस्तु पर हमला कर, अनेकों शाक्यों को मार डाला और नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस विनाश के उपरान्त भी बुद्ध, आनन्द सहित यहाँ आये थे। आनन्द ने नगर को श्मशान की तरह पाया। दीवारें, घर, दरवाजे, खिड़कियाँ सभी नष्ट कर दिये गये थे और वाग, वगीचे व कमल-तालाव इत्यादि भी उजाड़ दिये गये थे। नगर में उन्होंने अनाथ बच्चों का रूंदन सुना और हाथियों द्वारा कुचली गई लाशों को चारों ओर देखा था।

परन्तु कपिलवस्तु पूर्णतः नष्ट नहीं हुआ था। इसका आभास इस वात से मिलता है कि विरूधक द्वारा विनाश किये जाने के बाद भी कपिलवस्तु के राजकार्यों में जरूरतमंद भिक्षुओं को वस्त्र प्रदान करने, भिक्षुओं को आभूपण न पहनने की आज्ञा, सात वर्षों के लड़कों को प्रव्रजित कर सकने की अनुमति का जिक्र मिलता है। इसके अतिरिक्त भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय शाक्यों की सेना के कुसिनारा पहुँचने और अपना हिस्सा ले कर उस पर एक स्तूप बनवाने का वर्णन 'महापरिनिब्वाण सुत्त' में मिलता है। महासांघिक विनय के अध्याय तीस में भगवान बुद्ध के महापरिर्वाण के काफी सालों बाद शाक्य नगर में भिक्षुओं की एक संगीति होने का वर्णन मिलता है।

सम्राट अशोक अपनी धम्म यात्राओं के दौरान बुद्ध के जन्म स्थल लुंबिनी और कनक मुनि के जन्म स्थल निग्गली सागर आये थे तथा स्तंभ गड़वाये थे। अवश्य ही कपिलवस्तु तव तक पूरी तरह पतन को प्राप्त हो चुका होगा क्योंकि इसका जिक्र अशोक के किसी भी अभिलेख में नहीं मिलता है। भारत आने वाले चीनी तीर्थयात्रियों ने भी कपिलवस्तु की यात्रा कर इसके खण्डहरों का ही वर्णन किया है। परन्तु उनके वर्णनों में परस्पर विरोधाभास होने के कारण कपिलवस्तु की पहचान कठिन हो गई है।

399 ईसवी में भारत आने वाले चीनी यात्री फा-ह्यान ने कपिलवस्तु के संबंध में निम्नलिखित विवरण दिया है– "श्रावस्ती नगर से निकल कर, दक्षिण-पूर्व की ओर 12 योजन जाने पर हम ना-पि-का (Na–pi–ka) नामक एक कस्वे में पहुँचते हैं। यह क्रकुच्छन्द बुद्ध का जन्म स्थल है......इस स्थल से उत्तर की ओर एक योजन जाने पर हम एक कस्वे में पहुँचते हैं, जहाँ कनकमुनि बुद्ध पैदा हुए थे.... इससे पूर्व की ओर एक योजन से कम ही जाने पर हम कपिलवस्तु नगर में पहुँचते हैं। इस

नगर में न कोई राजा है और न ही कोई निवासी। यह एक विशाल निर्जन (ऊसर) जैसा है। यहाँ पुजारियों की एक मंडली और लगभग दस परिवार रहते हैं। नगर से पूर्व की ओर 50 ली (li) की दूरी पर लुंविनी का शाही वाग है, जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ ....कपिलवस्तु देश अब एक विशाल ऊसर है। आप मुश्किल से ही लोगों से, जंगली हाथी व शेर के डर से, सड़क पर मिल पायेंगे। असावधानी से यात्रा करना असंभव है।"

629 ईसवी में भारत आने वाले चीनी यात्री युवान-च्वांग ने श्रावस्ती से कपिलवस्तु की ओर जाते हुए कहा, "इस स्थल से (अर्थात् श्रावस्ती से) दक्षिण-पूर्व की ओर 500 ली(li) या लगभग जाने पर, हम की-पी-लो-फा-से-ती [kie–pi–lo–fa–se–ti (कपिलवस्तु)] देश में पहुँचे।

"यह देश लगभग 400 ली के घेरे में है। इस देश में लगभग दस परित्यक्त (निर्जन) नगर हैं, जो पूर्णतया उजाड़ व खण्डित अवस्था में हैं। इसका घेरा ठीक-ठीक नापा नहीं जा सकता। नगर में शाही सीमा क्षेत्र लगभग 14 से 15 ली के घेरे का है। वे सभी ईंटों के वने हुए थे। नींव की दीवारें अभी भी मजवूत व ऊँची हैं। ये काफी पहले परित्यक्त हो गये हैं। आवादी वाले गाँव बहुत कम तथा खाली से हैं।

"यहाँ कोई सर्वोच्च शासक नहीं है, प्रत्येक कस्वा अपना स्वयं का शासक नियुक्त करता है। भूमि समृद्ध व उपजाऊ है तथा नियमित मौसम के अनुसार खेती की जाती है। मौसम एक समान है, लोगों का व्यवहार कोमल और दयालुता पूर्ण है। यहाँ 1000 या अधिक खण्डित अवस्था में संघाराम हैं। शाही सीमा क्षेत्र के बगल में अव भी एक संघाराम है जिसमें 30 भिक्षु हैं जो सम्मितिय संप्रदाय के हीनयान का अध्ययन करते हैं।

"इसके (अर्थात् नगर के दक्षिणी द्वार के वाहर बने एक स्तूप से) 30 ली दक्षिण-पूर्व में एक छोटा स्तूप है। यहाँ एक स्रोता है, जिसका पानी शीशे के समान स्वच्छ है। यहाँ पराक्रम प्रतियोगिता के दौरान राजकुमार का तीर लक्ष्य भेदने के बाद जमीन पर गिरा और पंख तक जमीन में गड़ गया, जिसके कारण एक स्वच्छ जल का स्रोता फूट पड़ा। सामान्य परंपरा इसे 'सरकूप' के नाम से जानती है। इसके जल को पीने के उपरान्त रोगी पुनः अपना स्वास्थ प्राप्त कर लेते हैं।

"सरकूप से लगभग 80 या 90 ली उत्तर-पूर्व की ओर हम लुंविनी वाग पहुँचते हैं। यहाँ शाक्यों का नहाने का तालाब है, जिसका जल शीशे जैसा साफ व चमकदार है तथा सतह विभिन्न फूलों से बनी है।

"इसके 24 या 25 कदम उत्तर में एक अशोक वृक्ष है जो अव जर्जर हो गया है। यह वह स्थल है जहाँ वोधिसत्व का जन्म वैशाख मास के उत्तर पक्ष के आठवें दिन हुआ था।"

तिव्वती तीर्थयात्रियों के भी समय-समय पर इस क्षेत्र में आने का जिक्र मिलता है। लुंबिनी और निग्गली सागर के स्तंभों पर तिव्वती बौद्ध मंत्र 'ओम मणि पद्मे हूँ' लिखा मिलना इस बात का साक्ष्य है।

पिछली शताव्दी के अन्त के लगभग कपिलवस्तु का निर्धारण विद्वानों के मध्य वाद-विवाद का ज्वलन्त प्रश्न रहा है। ए० फूहरर् ने सवसे पहले तिलौराकोट को कपिलवस्तु माना था और रायस् डेविडस् ने पिपरहवा को। तत्पश्चात् पी०सी० मुखर्जी ने पहले पिपरहवा से और वाद में तिलौराकोट से कपिलवस्तु की पहचान की थी। स्मिथ ने चीनी यात्रियों के वर्णन के अन्तर के कारण दो जगह कपिलवस्तु को माना था। उनके अनुसार फा-ह्यान का कपिलवस्तु पिपरहवा तथा युवान-च्वांग का तिलौराकोट था। रायस् डेविडस् ने कहा कि पुराना कपिलवस्तु शायद तिलौराकोट था जवकि नया कपिलवस्तु पिपरहवा में विदूदभ द्वारा पुराने नगर को नष्ट किये जाने के वाद वसाया गया होगा। डव्लू० होये ने इस तर्क को नहीं माना क्योंकि जव दोनों चीनी यात्रियों ने एक ही कनकमुनि व क्रकुच्छन्द के नगर को देखा था तो दो कपिलवस्तुओं को कैसा देखा होगा। डव्लू० वोस्ट ने भी दो कपिलवस्तु की संभावना को न मान कर तिलौराकोट को ही कपिलवस्तु माना है।

वर्तमान शताव्दी के पूर्वार्ध में कोई गंभीर कार्य नहीं हुआ किन्तु ज्यादातर विद्वान तिलौराकोट को ही कपिलवस्तु मानते थे जवकि उनके पास कोई ठोस सवूत नहीं थे। यह मान्यता सन् 1962 में टूटी जव भारत सरकार ने डी० मित्रा के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि दल नेपाल के तराई क्षेत्र को खोजने व उत्खनन के लिये भेजा। खोज के दौरान उन्होंने तिलौराकोट क्षेत्र में खुदाई के कार्य किये परन्तु परिणाम स्वरूप कुछ भी ऐसे साक्ष्य नहीं मिले जो कपिलवस्तु से संवंधित हों। उनके अनुसार, "यदि न्यग्रोधर्म पिपरहवा है, जो संभव है, तो कपिलवस्तु के अवशेप पिपरहवा के ठीक आस-पास के टीलों में पाये जा सकते हैं न कि तिलौराकोट जैसे दूरस्थ स्थल पर। पिपरहवा के मुख्य स्तूप से प्राप्त अवशेप तथा फा-ह्यान द्वारा दी गई कपिलवस्तु से लुंविनी की दूरी पिपरहवा और उसके चारों ओर के गाँव जैसे गन्वरिया इत्यादि के कपिलवस्तु के प्राचीन स्थल (नगर) होने के प्रति काफी संभावना रखते हैं।"

ए० एस० गेडन ने सन् 1958 में पिपरहवा को शाक्यों की राजधानी माना है। उन्होंने स्पष्ट किया कि पिपरहवा अभिलेख यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। सन् 1972 में पिपरहवा के स्तूप से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर के० एम० श्रीवास्तव ने

सिद्ध कर दिया है कि पिपरहवा ही प्राचीन कपिलवस्तु था तथा समीपस्थ गन्वरिया इत्यादि का क्षेत्र कपिलवस्तु नगर था। पिपरहवा के विषय में जानने से पहले तिलौराकोट के वारे में जानना उचित होगा।

तिलौराकोट

वौद्ध तीर्थ स्थलों को खोजने वाले प्रारंभिक यूरोपिय विद्वानों तथा कुछ नेपाली और जापानी विद्वानों के अनुसार नेपाल की तराई में स्थित तिलौराकोट ही प्राचीन कपिलवस्तु है। भारत नेपाल सीमा पर पिपरहवा से 16 कि० मीटर उत्तर-पश्चिम, लुंविनी से 24 कि० मीटर पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम तथा चान्दापुर-शोहरतगंज से 10 कि० मीटर उत्तर में तौलिवा नामक एक कस्वा स्थित है। इस कस्वे से लगभग 3.5 कि० मीटर उत्तर में तिलौराकोट के खण्डहर पाये गये हैं। तिलौराकोट सर्वप्रथम सन् 1898 में खोजा गया, लुंविनी अभिलेख के मिलने के लगभग दो वर्ष पश्चात। ये अवशेप वाणगंगा नदी के किनारे स्थित हैं। किलेवंदी के अवशेप यहाँ सन् 1899 की वसन्त ऋतु में मिले थे। उत्तर से दक्षिण 500 मीटर तथा पूर्व से पश्चिम 450 मीटर चौकोर किलेनुमा चारदीवारी के भीतर ये अवशेप मिले हैं। चारदीवारी के उत्तर-पश्चिमी व दक्षिण-पूर्वी किनारों को इस प्रकार काटा गया है कि इसका आकार तिरछा वन गया है। किले का उत्तर-पश्चिमी भाग नदी द्वारा प्राचीन काल में निगल लिया गया प्रतीत होता है। मूलतः यह एक मिट्टी का किला था जिस पर वाद में ईंटों की दीवारें उठा दी गई थीं। खण्डित दीवार के टीले चारों दिशाओं में आसानी से देखे जा सकते हैं। ईंटों के किले की सुरक्षा के लिये चारों दिशाओं में गहरी खाई थी। भीतरी भाग में उत्तर-पश्चिमी किनारा तथा दक्षिणी आधा भाग प्रधानतः अपेक्षाकृत ऊँचा था। उत्तर-पूर्वी किनारे पर एक तालाब था और इसके पश्चिम का भाग भी उठा हुआ है जो महल की जगह प्रतीत होता है। इस स्थल के दक्षिण में एक अन्य तालाव था। किले की चारों प्रमुख दिशाओं पर द्वार होने का भी आभास मिलता है। यहाँ पर कई टीले थे जिनकी एक के वाद एक खुदाई करके इन अवशेपों को वाहर निकाला गया है। इनमें प्रमुख हैं 15.6 और 7.8 मीटर व्यास के दो स्तूप अवशेप। इस किले के मध्य अनेकों ऐसी जगहें मिलती हैं जिनसे विभिन्न इमारतों, तालावों व स्तूपों के होने का आभास मिलता है। सन् 1961 में डी० मित्रा द्वारा खोज से पता चला कि यहाँ तीसरी शताव्दी ईसा पूर्व से प्राचीन कुछ भी नहीं है।

पिपरहवा

हिमालय की तराई में मनोरम दृश्यों से घिरा पिपरहवा उत्तरप्रदेश के सिद्धार्थनगर जिले में जिला मुख्यालय से 21 कि० मीटर उत्तर में स्थित है तथा बौद्ध अवशेषों से भरपूर है। यहाँ सबसे पहले उत्खनन कार्य डब्लू० सी० पेप्पे तथा पी० सी० मुखर्जी द्वारा सन् 1898 में हुआ था। यहाँ समय-समय पर उत्खनन कार्य हुए हैं। सन् 1961 में डी० मित्रा के नेतृत्व में इसके समीपस्थ क्षेत्र का उत्खनन हुआ था। विस्तृत पैमाने पर उत्खनन कार्य के० एम० श्रीवास्तव के नेतृत्व में पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग ने सन् 1971 से 1975 के मध्य कराया जिससे प्राप्त साक्ष्यों ने पिपरहवा को ही प्राचीन कपिलवस्तु के रूप में स्थापित कर दिया है।

पिपरहवा की भौगोलिक स्थिति कपिलवस्तु के विषय में बौद्ध ग्रंथों में दिये वर्णन से मेल खाती है। ललितविस्तर अनुसार कपिलवस्तु हिमालय पहाड़ियों की ढलान के इतना निकट था कि सिंह शावक इसके आस-पास आ जाया करते थे तथा द्वारों पर खड़े हो कर दहाड़ते थे। अन्य बौद्ध ग्रंथों में उपलब्ध सूचना अनुसार शाक्यों की जगह हिमालय के निचले इलाके और राप्ती नदी के मार्ग के मध्य क्षेत्र के बीच में थी। वी०ए० स्मिथ ने इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिज़न एण्ड एथिक्स में लिखा है कि 'कपिलवस्तु हिमवत पहाड़ियों के दक्षिणी ढलान के समीप स्थित था'।

पिपरहवा का स्तूप अंशतः पेप्पे द्वारा खोला गया जिन्होंने इसके भीतर से अस्थि-अवशेष प्राप्त करने के लिए केन्द्र में एक दण्ड घुसेड़ा था। उन्हें10 फुट की गहराई में, टीले के ठोस शीर्ष से एक छोटी टूटी हुई सिलखड़ी पत्थर की मिट्टी से भरी कलश मिली, जिसमें कुछ मनके, बिल्लौर के टुकड़े, स्वर्ण आभूषण इत्यादि थे। इसी स्तूप में से एक 4 फुट 5 इंच लंबा, 2 फुट 9.25 इंच चौड़ा और 2 फुट 2 इंच ऊँचा (ढक्कन सहित) एक पत्थर का संदूक प्राप्त हुआ, जिसका ढक्कन चार भागों में चटका हुआ था। ढक्कन में चार लगभग अर्धगोलाकार प्रक्षेपण थे, लंबी दिशाओं की ओर प्रत्येक में दो, आसानी से उठाये जा सकने के उद्देश्य से। संदूक के भीतर मिलीं वस्तुएँ इस प्रकार हैं–(1) 7.5 इंच ऊँची और 4.5 इंच व्यास की सेलखड़ी पत्थर की कलश (2) इसी के समान और इसी पदार्थ का बना 6 इंच ऊँचा और 4 इंच व्यास का अभिलिखित कलश (3) सेलखड़ी पत्थर का लोटे के आकार का पात्र (इसका ठीक तरह बन्द हो जाने वाला ढक्कन अलग पड़ा था) 5.25 इंच ऊँचा (बगैर ढक्कन के) और 5.75 इंच व्यास का (4) सेलखड़ी पत्थर की बनी गोलाकार मँजूषा 3.75 इंच व्यास की और 2.25 इंच ऊँची (5) सूक्ष्मता से पॉलिश की हुई 4.25 इंच व्यास की और 4.5 इंच ऊँची एक स्फटिक मँजूषा (जिसका ढक्कन

अलग पड़ा था)। इस अन्तिम मँजूपा का हत्था एक खाली मछली के आकार का था। इनके अतिरिक्त इस सन्दूक में लकड़ी व रजत पात्रों के टुकड़े भी थे। इन कलशों की सामग्री संख्या में सैकड़ों में और विविधतापूर्ण थी। इनमें हड्डियों के टुकड़ों के अतिरिक्त, स्वास्तिक, त्रि-रत्न इत्यादि जैसे विभिन्न प्रतीकों से उत्कीर्ण अनेकों स्वर्ण-पत्र, एक स्वर्ण-पत्र पर अंकित दो स्त्री आकृतियाँ, सिंह व गज जैसे जानवरों से अंकित स्वर्ण पत्र, स्वर्ण व रजत पुष्प व सितारे, एक छोटे तावीज जैसा स्वर्ण सन्दूक, कई स्वर्ण त्रि-रत्न, प्रचुरता से जुड़ी हुई कुंडलियों से अंकित एक स्वर्ण-चक्र, अनलंकृत स्वर्ण शलाकाएँ, स्वर्ण पत्रों की गड्डी, छिंद और विना छिदे अनेकों मोती, (दो पक्षी जिनमें से प्रत्येक के अंशतः छिदे आधारों से एक ताँवे की तार जुड़ी थी, वड़ी सफाई से वनायी गई पत्रें जिनमें से कुछ के छिदे हुए आधार एक ताँवे के तार से जुड़े थे, वीज-पात्र, त्रि-रत्न और अल्पमूल्य खनिजों से निर्मित फूल), मूँगे के टुकड़े, स्वर्ण, रजत, अल्पमूल्य खनिज और मूँगे के विभिन्न आकार के मनके, तराशे हुए अल्पमूल्य पत्थर, अभ्रक के टुकड़े और ताँवे के तार का लपेटा हुआ गुच्छा मिला है।

हाँलाकि, सवसे महत्वपूर्ण, छोटे सेलखड़ी कलश के ढक्कन पर उत्कीर्ण अभिलेख है, जो इस प्रकार है–

"सुकिति-भतिनं स भगिणिकनं स-पुत-दलनं
इयं सलिल निधने वुधस भगवते सकियनं।"

इस अभिलेख के विभिन्न अनुवाद किये गये हैं, यथा–"यह भगवान बुद्ध का अस्थि-अवशेप शाक्य सुकिति भाइयों (सुकीति के भाइयों या सुकीति और उसके भाइयों), उनकी वहनों, पुत्रों व पत्नियों सहित दान है।" "यह भगवान बुद्ध के अस्थियों का स्मारक, उनके भातृगण शाक्यों का उनकी बहनों, पुत्रों व पत्नियों सहित है।" "यह भगवान बुद्ध के भातृगण का उनकी छोटी बहनों, पुत्रों व पत्नियों सहित अस्थि-अवशेप स्मारक है।" प्रथम दोनों व्याख्याओं के अनुसार, अस्थि-अवशेष स्वयं वुद्ध के हैं जवकि तीसरी व्याख्या के अनुसार ये वुद्ध के भातृगण, उनकी वहिनों, पुत्रों व पत्नियों के हैं (जो विडूढभ द्वारा कत्ल कर दिये गये थे)। हालाँकि इस अभिलेख के अक्षर अशोक के अभिलेखों जैसे ही हैं, परन्तु दीर्घ स्वरों के चिन्हों की अनुपस्थिति के कारण कई विद्वानों ने इसे पूर्व-अशोक काल का माना है।

सन् 1972 में इस स्तूप का उत्खनन कार्य के० एम० श्रीवास्तव द्वारा हुआ जिससे अनेकों साक्ष्य सामने आये। स्तूप के पश्चिमी छोर पर एक दण्ड डालने से पता चला कि यह तीन स्तरों मे वना था। पश्चिमी छोर को खोलने पर ज्ञात हुआ कि इसकी अन्तिम या तीसरी अवस्था में आधार को चौकोर रूप में वदल दिया गया था।

चौकोर आधार में 80 सेंटीमीटर के अन्तराल पर चौकोर आले वने थे जो निस्सन्देह मूर्तियों के लिए थे। आले 62 सें०मी० ऊँचे, 52 सें०मी० चौड़े तथा 12 सें०मी० गहरे थे।

उत्तरी दिशा में स्तूप को खोलने से चौकोर आधार के नीचे पक्की ईटों का घेरा दिखा जो एक पहले के स्तूप का ईटों का किनारा था। यहाँ प्राचीन व मूल अस्थि-अवशेप के होने का अच्छा निर्देश होने के कारण ईटों के घेरे के व्यास के आधार पर इसका मध्य निश्चित कर स्तूप के उत्तर-पूर्वी चतुर्थांश पर एक छोटी दण्ड घुसाई गई। पक्की ईटों के स्तूप के विद्यमान शीर्ष से 6 मीटर गहराई में पक्की ईटों के दो कक्ष मिले जो 65 सें०मी० की कंकरी से वटे हुए थे। ये दोनों कक्ष उस स्थल से काफी नीचे थे जहाँ पेप्पे को अभिलिखित पात्र मिला था। इस प्रकार पेप्पे द्वारा पात्र स्तूप की द्वितीय अवस्था से प्राप्त हुआ था जवकि उपरोक्त कक्ष पहली या सवसे प्राचीन अवस्था से संबंधित थे। स्तूप के अंतिम छोर व पक्की ईटों के कक्षों के मध्य 6 सें०मी० की मोटी मिट्टी की परत थी। दोनों कक्षों का आकार एक जैसा और 82× 80×37 सें०मी० था। उनके निर्माण की प्रकृति के आधार पर स्पष्ट था कि उनको पवित्र वस्तुओं को रखने के लिए वनाया गया था। इन कक्षों पर 42× 13× 7 सें०मी० आकार की ईटें तीन तल में रखीं थीं। 20 मार्च 1972 को उत्तरी कक्ष से 7 सें०मी० व्यास की और 12 सें०मी० ऊँचाई की वलुआ पत्थर की स्मृति-शेप मँजूपा और 26 सें०मी० व्यास की लाल थाली(Dish) मिली। मँजूपा में जली हुई हड्डियाँ थीं। दक्षिणी कक्ष से दो थाली उसी आकार व प्रकार की मिलीं। इसमें से भी अपेक्षाकृत वड़े आकार 9 सें०मी० व्यास की और 16 सें० मी० ऊँची वलुआ पत्थर की मँजूपा मिली है जिसमें जली हुई हड्डियाँ थीं। उत्खनन से निश्चित हुआ कि ये स्मृति-शेप मँजूपायें पाँचवी-चौथी शताव्दी ईसा पूर्व की थीं और पहले मिली मँजूषा से प्राचीन थीं, हालाँकि इन दोनों मँजूपाओं का आकार भी पहले मिली मँजूपा के समान ही था। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यह स्तूप शाक्यों द्वारा प्राप्त किये गये अपने अंश पर निर्मित किया गया था।

स्तूप के पूर्व में वने विहार के उत्तरी अक्ष के केन्द्रीय प्राँगण व कक्षों की सफाई से कपिलवस्तु लेख वाली मृण्मूर्ति सीलें मिलीं हैं। 1.05 से लेकर 1.75 मीटर तक की गहराई से 30 सीलें मिलीं, जो किसी खजाने से नहीं वल्कि विभिन्न स्तरों व स्थलों से मिलीं हैं। सीलों को तीन भागों में वाँटा जा सकता है– (1) इसमें चार पंक्तियों का अभिलेख है "ओम, देवपुत्र विहारे, कपिलवस्तु, भिक्षु संघस्" (2) दूसरा अभिलेख तीन पंक्तियों का है "मह, कपिलवस्तु, भिक्षु संघस्य" (3) तीसरे समूह की सीलों में एक भिक्षु का नाम है। सीलें ज्यादातर गोल हैं, हालाँकि उनमें से कुछ

अण्डाकार भी हैं। सीलों पर अक्षर पहली-दूसरी शताब्दी ईसवी की ब्राह्मी लिपि में हैं। सन् 1974 में विहार से कुछ अन्य सीलें जो पहले समूह के अभिलेखों वाली हैं तथा एक पात्र का ढक्कन भी मिला है जिस पर यही अभिलेख है।

मृण्मूर्ति सीलों और पात्र के ढक्कन से कपिलवस्तु की पहचान निश्चित हो गयी। सीलों से यह भी स्पष्ट हुआ कि यह विहार कपिलवस्तु के भिक्षुओं के लिये था। देवपुत्र शब्द के प्रयोग से पता चलता है कि विहार तीसरी अवस्था में कुषाण राजा कनिष्क द्वारा वड़ा किया गया था। इसके साथ सीलों से जो सबसे वड़ी बात स्पष्ट होती है वह यह है कि पिपरहवा का स्तूप अपनी प्रारंभिक अवस्था में कपिलवस्तु के शाक्यों द्वारा बुद्ध के अस्थि-अवशेषों पर बनाया गया था।

जैसा कि सामान्य चलन था स्तूप व संबंधित विहार मुख्य नगर से सदैव थोड़ा दूर ही बनाये जाते थे। कपिलवस्तु भी इसका अपवाद नहीं था। पिपरहवा के स्तूप में बुद्ध के अस्थि-अवशेषों का होना निश्चित होने पर समीपस्थ क्षेत्र में उत्खनन कार्य किये जाने से पिपरहवा के दक्षिण-पश्चिम में एक कि० मीटर दूर गन्वरिया नामक गाँव के साथ जुड़े टीलों से प्राचीन कपिलवस्तु नगर के खण्डहर मिले हैं। यह क्षेत्र उत्तर से दक्षिण 300 मीटर तथा पूर्व से पश्चिम 270 मीटर में फैला है। हालाँकि प्राचीन नगर ज्यादा वड़े पैमाने पर फैला था किन्तु इसके काफी बड़े भाग को खेती की जमीन के रूप में प्रयोग कर लिया गया था। इस स्थल पर मुख्यतया दो टीले थे, वड़ा पश्चिमी दिशा में तथा छोटा पूर्वी दिशा में। पिपरहवा का प्रयोग तो यहाँ बुद्ध के अस्थि-अवशेषों पर बनाये गये स्तूप के बाद ही शुरू हुआ था तथा तभी यहाँ विहार भी बनने प्रारंभ हुए थे, किन्तु कपिलवस्तु नगर का प्रारंभ तो काफी पहले का है। कपिलवस्तु नगर की पूरी तस्वीर देखने के लिए सन् 1974–75 में बड़े पैमाने पर उत्खनन कार्य किया गया।

गन्वरिया में उत्खनन के दौरान दो विशाल पक्की ईंटों के निर्मित समूह सामने आये जिनके प्रवेशद्वार पूर्व की ओर थे। इनमें से बड़ा समूह 30 मीटर चौकोर था तथा उसमें 25 कमरे तथा चारों कोनों पर बरामदे थे। समूह की कुल मिला कर पाँच निर्माण अवस्थायें थी। कमरे तथा बरामदे लगभग 25 मीटर चौकोर प्राँगण के चारों ओर बने थे तथा बरामदे के उत्तर-पश्चिमी किनारे पर 85 सें०मी० व्यास का कुँआ था। यहाँ निवास करने वाले प्रारंभिक अवस्था में मिट्टी की दीवारों के घरों में रहते थे जिनकी छतें लकड़ी के खंभों पर टिकी थीं।

छोटा निर्मित समूह वड़े समूह से उत्तर-पूर्व की ओर 30 मीटर की दूरी पर था तथा 26 मीटर चौकोर था। हालाँकि इस समूह में कमरों की संख्या कम थी परन्तु

प्रवेशद्वार अपेक्षाकृत ज्यादा बड़ा, लगभग 3.15 मीटर चौड़ा था। इस समूह में भी निर्माण की पाँच अवस्थायें रही हैं किन्तु प्रत्येक अवस्था में मूल नक्शे में काफी परिवर्तन किया गया है।

इन दोनों समूह के अतिरिक्त अन्य अनेकों निर्मित इमारतों के खण्डहर भी मिले हैं। बड़े समूह की बाहरी दीवार के साथ कई कमरों वाला एक घर निकला है। दक्षिण-पूर्वी दिशा में अनेकों कमरों, बरामदों तथा केन्द्र में दो प्राँगण वाली विशाल इमारत थी। बड़े समूह के उत्तर में अनेकों घरों के खण्डहर थे। इसी प्रकार छोटे समूह की उत्तरी दिशा में भी मकानों के समूह मिले हैं। यहाँ की धार्मिक इमारतों में चार पूजा-स्थल प्रमुख हैं। इनमें से तीन काफी बड़े हैं, जबकि चौथा अपेक्षाकृत छोटा है। तीनों पूजा-स्थल छोटे समूह के पूर्वी और दक्षिणी किनारे पर बने थे।

गन्वरिया से मिले कपिलवस्तु नगर के खण्डहर चार कालों में बाँटे जा सकते हैं। प्रथम काल 800 से 600 ईसा पूर्व के मध्य का है। दूसरा काल 600 से 200 ईसा पूर्व का माना जाता है। तृतीय काल शुंगों के समय से संबंधित है तथा द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारंभ हो कर ईसवी संवत् के आरंभ पर समाप्त होता है। चतुर्थ काल विशेषकर कुषाण काल है जो ईसवी संवत् के प्रारंभ से शुरू हो कर तीसरी शताब्दी ईसवी पर समाप्त होता है।

गन्वरिया के उत्खननों से अन्य प्राचीन वस्तुओं के अतिरिक्त बहुत अच्छे प्रकार की मृण्मूर्तियाँ भी मिली हैं। छोटे व बड़े निर्मित समूहों के बीच के क्षेत्र से एक-एक छोटे पात्रों से दो सिक्कों के खजाने मिले हैं जो एक अन्य महत्वपूर्ण प्राप्ति हैं। इनमें से एक में 64 रजत आहत सिक्के तथा दूसरे में 37 कुषाण सिक्के थे।

बौद्धधर्म का कपिलवस्तु पर नियन्त्रण होने पर भी, बौद्ध धर्मान्ध नहीं थे तथा यहाँ धार्मिक संहिष्णुता का माहौल था। यह तथ्य एक मृण्मूर्ति सिर के मिलने से स्पष्ट होता है, जिसमें तीन आँखें थी जो शैव संप्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी तिथि द्वितीय-तृतीय शताब्दी ईसवी की है। कपिलवस्तु के निवासी ईसवी संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों में केवल धार्मिक कार्यो में ही नहीं लिप्त रहते थे। वे मनोरंजन और मनबहलाव की गतिविधियों में भी रूचि लेते थे। कपिलवस्तु पर कुषाणों के नियन्त्रण का प्रभाव यहाँ उपलब्ध मृण्मूर्तियों पर विदेशी प्रभाव के रूप में दिखता है। कपिलवस्तु के कलाकार न केवल मिट्टी के कार्य में निपुण थे बल्कि वे पत्थर जैसे कठोर पदार्थो पर भी कार्य करते थे।

पिपरहवा से पूर्व की ओर लगभग 200 मीटर की दूरी पर स्थित सलारगंज नामक एक टीले पर भी उत्खनन कार्य हुआ है। उत्खनन से कुषाण कालीन एक विहार

मिला है। विहार चौकोर था तथा अनेकों कमरों की कतारें समाहित थीं। इस विहार का नक्शा पिपरहवा के विहार के नक्शे से काफी भिन्न है। आगे के कमरों के पीछे भी एक कमरा होता था तथा काफी कमरे परस्पर जुड़े हुए थे। इसमें कोई केन्द्रीय प्राँगण नहीं था। विहार के उत्तर में एक छोटा स्तूप मिला है। मूलतः यह गोल था परन्तु पुनर्निर्माण के समय आधार को चौकोर बना दिया गया था। ईटों के आकार के आधार पर मूल स्तूप पिपरहवा के स्तूप की प्रथम अवस्था का समकालीन प्रतीत होता है।

इस प्रकार कपिलवस्तु नगर तथा पिपरहवा से प्राप्त बुद्ध के अवशेषों पर बने स्तूप के मिलने से बुद्ध के जन्म स्थल तथा उनके द्वारा प्रारंभिक जीवन विताये जाने वाले स्थलों को समस्त बौद्ध संसार के सामने लाया जा सका है। आज बुद्ध के जीवन से संबंधित अधिकतर स्थलों को खोजा जा सका है और भारत के धार्मिक, सामाजिक व साँस्कृतिक पक्ष को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले बुद्ध और उनके धर्म को सही मायने में समझा जा सका है।

धर्मशाला

भारत में बौद्ध धर्म के आधुनिक तीर्थस्थल के रूप में धर्मशाला पूरे विश्व में प्रसिद्ध है। नोवल शान्ति पुरस्कार से सम्मानित परम पावन दलाई लामा, इस दलाई लामा परंपरा में चौदहवें हैं। तिब्बती बौद्ध धर्म की मान्यताओं के अनुसार ये अवलोकितेश्वर के अवतार [रिमपोछे (Rimpoche)] हैं। परन्तु एक बौद्ध धार्मिक गुरु के रूप में उनकी मान्यता निर्विवाद है। पूरे विश्व में वौद्ध धर्मावलंबी उनका आदर करते हैं और श्रद्धा के साथ उनकी शिक्षाओं को मानते हैं। सन् 1959 (उन्नीस सौ उनसठ) में चीन से अपने अनेकों सहयोगियों व अनुयायियों सहित उनका भारत में आगमन हुआ। कुछ महीने मसूरी में व्यतीत करने के वाद, भारत सरकार द्वारा यहाँ स्थान उपलब्ध कराये जाने के वाद, उन्होंने धर्मशाला को ही अपना निवास स्थान बनाया।

धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश की काँगड़ा घाटी में, काँगड़ा जिले के मुख्यालय से लगभग 18 (अट्ठारह) किलोमीटर दूर धौलाधार पहाड़ी श्रृंखला में स्थित है। धौलाधार पहाड़ी श्रृंखला हिमालय के वाहरी अंचल का भाग है और इसकी औसत ऊँचाई 15,000 (पन्द्रह हजार) फुट है। धर्मशाला के समीप ऊपर इसका लाका जोत नामक एक दर्रा है। दिसंवर-जनवरी से लेकर जुलाई-अगस्त तक इन पहाड़ियों के ऊपरी भागों पर बर्फ रहती है। वाद में कहीं-कहीं वर्फ की पट्टी ही शेष रह जाती है। धर्मशाला की ऐसी पट्टी को 'सुराली दा फेर' कहते हैं। स्थायी बर्फ की रेखा यहाँ अन्य पहाड़ी स्थानों की तुलना में सवसे निकट है। धौलाधार की ऊँची पहाड़ियाँ धर्मशाला के पीछे सीधी खड़ी प्रस्तर दीवार के समान फैली हैं। ये इतनी नजदीक मालूम पड़ती हैं जैसे वाजू फैला कर इन्हें हाथों से छुआ जा सकता है।

धर्मशाला वास्तव में दो अलग भागों में विभक्त है। सवसे नीचे सिविल और डिपो वाजार है, जहाँ से कोतवाली वाजार व फर्सेट (Forsyth) गंज से होते हुए मकलोड (Mcleod) गंज तक ऊँचाई क्रमशः वढ़ती जाती है। सवसे ऊपरी भाग मकलोड गंज की ऊँचाई 1800 (एक हज़ार आठ सौ) मीटर है तो सवसे निचले भाग की 1250 (एक हज़ार दो सौ पचास) मीटर है। ऊपरी व निचले भाग के मध्य

तापमान में भी पर्याप्त अन्तर है। मुख्य धर्मशाला से मकलोड गंज की दूरी लगभग 10 (दस) किलोमीटर है। एक अन्य अपेक्षाकृत छोटा मार्ग भी है, जिसका नाम खड़ा डण्डा मार्ग है। इस मार्ग से दोनों स्थानों की दूरी मात्र 5–6 (पाँच-छह) किलोमीटर ही है, परन्तु अपने नाम के अनुरूप यह मार्ग काफी सीधी चढ़ाई वाला है।

परम पावन दलाई लामा के यहाँ आने से पहले धर्मशाला एक ब्रिटिश पहाड़ी सैरगाह (hill resort) था। इस स्थान पर सन् 1846 में पहले-पहल अलेग्जेण्डर कनिंघम पहुँचे। वे उस अंग्रेजी फौज के साथ थे जिसने काँगड़ा के किले पर घेरा डाला था। सिख शासकों द्वारा किले का समर्पण कर दिये जाने के वाद अपनी फौज को रखने के लिए एक छावनी बनाने के लिए उपयुक्त स्थान की खोज करते हुए वे यहाँ तक आये थे। उस समय यहाँ पर एक धर्मशाला वनी हुई थी। ऐसी मान्यता है कि काँगड़ा के राजा धर्मचन्द्र ने इसे उन लोगों के लिए वनवाया था जो उनसे मिलने आया करते थे और मुलाकात की रात इस धर्मशाला में व्यतीत करते थे। राजा का किला यहाँ से कुछ ऊपर धर्मकोट में था। राजा धर्मचन्द्र (1528–1563 **A.D.**, पन्द्रह सौ अट्ठाईस-पन्द्रह सौ तिरसठ ईसवी), हुमायूँ, शेर साह सूरी, सिकन्दर शाह सूरी और अकवर के समकालीन थे। उनके विषय में, उनके नाम पर लिखे गए 'धर्म चन्द्र नाटक' से ज्ञात होता है। हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी राजाओं में से अकबर को अपनी राजभक्ति प्रस्तुत करने वालों में वह सर्वप्रथम राजा थे। पहले यहाँ की छावनी को काँगड़ा जिले के मुख्यालय में रखी गई फौज के मातहत ही रखा गया था, परन्तु सन् 1849 में इसे स्वतन्त्र छावनी का दर्जा मिला। सन् 1848 के अप्रैल मास में यहाँ आये डी०एफ०जे० नेवल की पुस्तक 'हाईलैण्डस ऑफ इण्डिया' से इस स्थान के विषय में पता चलता है कि उस समय यहाँ कमिश्नर सर जॉन लॉरैन्स के वनवाये हुए एक मकान के अतिरिक्त कुछ नहीं था। सन् 1908–09 में फर्सेट गंज में वना सेन्ट जॉन (St. John) का गिरजाघर उन दिनों की याद दिलाता है। इसमें अत्यन्त सुन्दर कारीगीरी वाली रंगीन काँच की खिड़कियाँ हैं। इसके समीप ही भारत के वाइसरॉय लार्ड एल्गिन की कब्र पर लगाया गया स्मृति पत्थर है। उनकी मृत्यु सन् 1863 में यहाँ हुई थी।

धर्मशाला के आधुनिक महत्व के अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भी यह स्थल अवश्य ही वौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा होगा। इसके समीप लगभग सात कि०मी० की दूरी पर चैतड़ू (चैतुल /चैतवाल) नामक स्थान से भीम-टीले पर वौद्ध स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार यहाँ से लगभग एक-डेढ़ किलोमीटर दूर धर्मशाला-घनियारा सड़क के निकट माँझी नामक खड्ड में दो बड़े शिलाखण्डों पर कुषाण शासक कनिष्क व वासुदेव कालीन (लगभग द्वितिय

शताब्दी ईसवी के) खरोष्ठी व ब्राह्मी लिपियों में लिखे अभिलेख और वज्रवराह की मूर्ति का एक आधार (Pedestal) भी मिला है। पत्थर पर उत्कीर्ण ये शिलालेख अब भी यहाँ विद्यमान हैं। एक अभिलेख में प्रयुक्त वाक्य 'कृष्णायास्स आराम' से ज्ञात होता है कि कृष्णा नामक व्यक्ति ने यहाँ एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया था। सन् 1937 में भगवान बुद्ध की एक प्राचीन मूर्ति भी यहाँ समीप से ही प्राप्त हुई है।

धर्मशाला में आज अनेकों ऐसे सुन्दर स्थल हैं जो पर्यटकों को आकर्षित करते हैं। धर्मशाला की पहाड़ियों में कई छोटी-छोटी झीलें हैं। झीलों को यहाँ डल कहा जाता है। फर्सेट गंज के समीप, वृक्षों से भरी ढलान की गोद में, प्रसिद्ध 'डल लेक' है। स्थानीय मान्यता है कि जब शिव मणीमहेश नामक स्थान पर तपस्या कर रहे थे तो उनकी जटाओं से पानी की एक धार फूट निकली और वह यहाँ आकर गिरी जिससे यह झील बनी। इसके अतिरिक्त अन्य दूसरी झीलें भी हैं जैसे–करेरी डल, नाग डल, परी डल, डैण डल, काली डल, तोरले दी डल और लम डल। भागसू नाथ नामक स्थान पर भागसू नाग चश्मे से आने वाले ठण्डे पानी का एक तालाब है। इससे थोड़ी दूर पर आगे एक छोटा जल-प्रपात भी है। भागसू नाथ में एक शिव मंदिर है जो राजा धर्मचन्द्र द्वारा बनवाया माना जाता है। धर्मशाला का प्राचीन नाम भागसू ही था। इनके अतिरिक्त अन्य कई रमणीक स्थल हैं जो यहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता को देखने का अवसर सुलभ कराते हैं।

यहाँ के जन-जीवन पर तिब्बती बौद्ध धर्म का प्रभाव धर्मशाला का सबसे मुख्य आकर्षण है। परमपावन दलाई लामा के यहाँ रहने के कारण मकलोड गंज बौद्ध धर्म की तिब्बती शाखा की संस्कृति का केन्द्र बिन्दु बन गया है। लोग तो इसे छोटा ल्हासा (तिब्बत की राजधानी) भी कहते हैं। मकलोड गंज बाजार के ठीक मध्य में एक छोतेन (स्तूप) और एक मंदिर में घूमने वाला विशाल प्रार्थना चक्र (सिलिण्डर) बना है। इसके अतिरिक्त दोनों बाहरी दीवारों के साथ-साथ अनेकों छोटे प्रार्थना चक्र बने हैं, जिनको प्रत्येक आता जाता बौद्ध धर्मानुयायी घुमा कर पुण्य अर्जित करता है। इन प्रार्थना चक्रों पर पवित्र मंत्र 'ओम मणि पदमे हूँ' खुदा रहता है। तिब्बती बौद्ध परंपरा इनको घुमाने से, घुमाने वाले व्यक्ति के द्वारा इस मन्त्र का जाप कर लिया गया, ऐसा मानती है। मकलोड गंज बाजार में दुकानें व होटल प्रायः तिब्बती समुदाय के लोगों के ही हैं। दलाई लामा के यहाँ आने के बाद से पश्चिमी पर्यटकों के आवागमन को ध्यान में रखते हुए होटलों आदि की संख्या काफी बढ़ गयी है, क्योंकि वे पश्चिमी पर्यटक नीचे मुख्य धर्मशाला में रुकने के स्थान पर यहाँ मकलोड गंज में रुकना अधिक पसन्द करते हैं।

मकलोड गंज बाजार से थोड़ी दूर पश्चिम की ओर वह छोटी पहाड़ी है, जिस को थैगछन छौलिंग (Thegchen Chosling) के नाम से जाना जाता है। इस पहाड़ी पर दलाई लामा का निवास स्थान, चुगल्हाखंड (Tsuglagkhang) मंदिर व उसका सभा कक्ष, वौद्ध दर्शन अध्ययन संस्थान, नांग्याल तान्त्रिक महाविद्यालय, भिक्षुओं आदि के रहने के निवास स्थान इत्यादि वने हैं। एक रास्ता पूरी पहाड़ी के चारों ओर वना है, जो पहाड़ी की प्रदक्षिणा करने के लिए है। बौद्ध धर्मावलंवी (तीर्थयात्री) कम से कम एक वार अवश्य इस मार्ग का प्रयोग करना अपना कर्तव्य मानते हैं। यह पथरीला ऊवड़-खावड़ मार्ग लगभग एक-डेढ़ कि०मी० लंवा है। कहीं पर यह मार्ग 10–15 (दस-पन्द्रह) फुट चौड़ा है तो अन्य कई जगहों पर 3–4 (तीन-चार) फुट की पगडंडी मात्र है। मार्ग में अनेकों छोटे-छोटे छोतेन वने हैं और सफेद व अन्य रंगों के खाता पेड़ों आदि पर टँगे हैं। स्थान-स्थान पर, पत्थरों पर, वौद्ध मन्त्र उत्कीर्ण हैं। वौद्ध धर्मावलंवी अपनी सामर्थ्य अनुसार कलाकारों को पारिश्रमिक दे कर वौद्ध मंत्रों को पत्थरों पर खुदवाते हैं और पुण्य अर्जित करते हैं।

इस पहाड़ी के प्रारंभ में ही वौद्ध दर्शन अध्ययन संस्थान है। इसके वाद यहाँ अध्ययन करने वाले भिक्षुओं व पढ़ाने वाले आचार्यों के आवास और रसोई घर आदि हैं, जो ऊपर मंदिर की मुख्य ईमारत के समीप तक चले गये हैं। एक अन्य मार्ग वाँयी ओर से घूम कर ऊपर मंदिर तक पहुँचता है। मुख्य मंदिर के वाँयी ओर तीन मंजिला नांग्याल तान्त्रिक महाविद्यालय है। इसमें भी भिक्षुओं के आवासीय कक्ष और बड़े-वड़े अध्ययन कक्ष हैं। इन अध्ययन कक्षों में, पारंपरिक पद्धति से जमीन पर वैठ कर ही, अध्ययन-अध्यापन का कार्य होता है। नांग्याल तान्त्रिक महाविद्यालय में लगभग 80 (अस्सी) भिक्षु छात्र हैं और वौद्ध दर्शन अध्ययन संस्थान में भिक्षु छात्रों की संख्या 50 (पचास) के लगभग है। इसके अलावा अनेकों भिक्षुणियाँ भी यहाँ अध्ययन करती हैं, परन्तु उनका निवास यहाँ से थोड़ी दूर सामने की पहाड़ी पर वने भिक्षुणी विहार में होता है। नांग्याल महाविद्यालय में विभिन्न तांत्रिक ग्रंथों का अध्ययन कराया जाता है। वौद्ध दर्शन अध्ययन संस्थान में विशेप वल तर्क विद्या पर दिया जाता है। मंदिर के सामने नीचे की ओर वने वरामदे में प्रत्येक संध्या को यहाँ के छात्रों द्वारा तिव्वती तर्क पद्धति में होने वाला तर्क अभ्यास (वाद-विवाद, Debate) देखते ही वनता है। इस तर्क पद्धति में वह भिक्षु जिसे प्रश्नों के उत्तर देने होते हैं एक ओर वैठ जाता है और अन्य कई प्रश्नकर्ता भिक्षु वार-वार विभिन्न तरीकों से ताली वजा कर व विभिन्न भाव-भंगिमा वनाते हुए उससे प्रश्न पर प्रश्न करते जाते हैं। यदि प्रश्नों के उत्तर देने वाला भिक्षु प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता तो अगल-वगल में वैठे सभी भिक्षु तीन वार ताली वजा कर उसे वोलने

को कहते हैं। इस प्रकार बारी-बारी से तर्क अभ्यास द्वारा इन संस्थानों का प्रत्येक भिक्षु ज्ञान में पारंगत हो जाता है।

मुख्य मंदिर एक चार मंजिली इमारत में है। इसके सामने काफी बड़ा प्राँगण है। प्राँगण के सामने दूसरी ओर दलाई लामा जी का निवास स्थान है। मंदिर का निर्माण स्तंभों व शहतीरों के सहारे हुआ है। मंदिर की सबसे निचली मंजिल के सामने एक बरामदा है। इस बरामदे की छत का ऊपरी भाग, मुख्य मंदिर के ठीक सामने, बरामदे का कार्य करता है। मंदिर में आने जाने के लिए दोनों ओर चौड़ी सीढ़ियाँ हैं। दाँयी ओर नीचे एक कक्ष में विशाल प्रार्थना चक्र है। कक्ष की दीवारों पर बुद्ध व अन्य महत्वपूर्ण आचार्यों के चित्र बने हैं। मंदिर से निकल कर बाहर की ओर जाने वाला प्रत्येक तीर्थयात्री इस प्रार्थना चक्र को अवश्य घुमाता है। मंदिर के ठीक दाँहिनी ओर, मंदिर के समान ही, एक अन्य इमारत का कार्य प्रगति पर है।

सन् 1961 में बन कर तैयार हुए मुख्य मंदिर का नाम चुगल्हाखंड है। इसके सभा कक्ष व पूजा स्थल में प्रवेश करने के लिए तीनों दिशाओं में एक-एक प्रवेशद्वार हैं, जो लगभग 15 (पंदरह) फुट चौड़े व 10 (दस) फुट ऊँचे हैं। तीनों दरवाजों के दोनों ओर लगभग इतनी ही चौड़ी परन्तु जमीन से दो फुट ऊपर से प्रारंभ हो कर दरवाजों जितनी ऊँची खिड़कियाँ हैं। इस प्रकार खिड़कियों की कुल संख्या 6 (छः) है। छत पाँच शहतीरों के सहारे स्तंभों पर टिकी है। दो शहतीर बाहरी दीवार से पूजा स्थल तक सीधे गये हैं। इन शहतीरों को समकोणों पर तीन शहतीर काटते हैं। छत की ऊँचाई 21–22 (इक्कीस-बाईस) फुट के लगभग है। सभा कक्ष में कुल 6 (छः) स्तंभ हैं। चार स्तंभ अष्टकोणीय हैं और सभा कक्ष की छत को सहारा दिये हुए हैं। शेष दो स्तंभ चौकोर हैं और पूजा स्थल की छत को सहारा दे रहे हैं, जो सभा कक्ष की छत से थोड़ी ऊँची है। खिड़कियों व दरवाजों के ठीक ऊपर लगभग पाँच फुट की जगह छोड़ कर पुनः पाँच फुट ऊँची और दरवाजों व खिड़कियों जितनी चौड़ी खिड़कियाँ (रोशनदान) हैं। पूजा स्थल को छोड़ कर शेष सभा कक्ष लगभग 65–70 (पैंसठ-सत्तर) फुट लंबा और 50 (पचास) फुट चौड़ा है। सभा कक्ष का फर्श लकड़ी का बना है। तीनों दीवारों पर, दरवाजों के ऊपर के स्थान पर, बड़े तंखाओं की एक कतार टँगी है। इन तंखाओं की कुल संख्या 49 (उन्नचास) है। बगल की दोनों दीवारों पर भगवान बुद्ध के चित्र वाले तंखा है, जबकि पीछे की ओर लगे तंखाओं में विभिन्न प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों को चित्रित किया गया है। प्रत्येक स्तंभ और पूजा स्थल के अग्रभाग में छत के समीप भी तंखाओं की कतार टंगी है जिन पर पद्मसंभव का चित्र अंकित है। सभा कक्ष के बाहर दोनों बगल में बरामदे बने

हैं। बरामदों की ऊँचाई सभा कक्ष के समान न होकर मात्र ग्यारह फुट के लगभग है और उनकी छत चार शहतीरों के सहारे चार चौकोर स्तंभों पर टिकी है। बरामदों की लंबाई सभा कक्ष के समान और चौड़ाई 20 (बीस) फुट के लगभग है।

पूजा स्थल के ठीक मध्य में भगवान बुद्ध की विशाल काँस्य मूर्ति है, जो छत जितनी ऊँची है। मूर्ति के चारों ओर बने प्रभा मण्डल में रंग-बिरंगे पत्थरों के साथ सुन्दर नक्काशी की गयी है। मूर्ति के दाँये व बाँये ओर कंजुर व तंजुर ग्रंथों के विभिन्न खण्डों को हिफाजत से रखा गया है। पूजा स्थल में प्रवेश करने के लिए एक अन्य छोटा सा द्वार दाँयी ओर कोने में है, जो बाहर दाँये बरामदे से जुड़ता है। यहीं ऊपर की मंजिलों पर जाने के लिए सीढ़ियाँ भी हैं। बाँयी ओर पद्मसंभव (गुरू रिम्पोछे) की बैठी हुई मुद्रा में काँस्य मूर्ति है, जिसमें उनके हाथ में वज्र दर्शाया गया है। साथ ही अवलोकितेश्वर की एक विशाल खड़ी प्रतिमा है। इस प्रतिमा में एक के ऊपर एक कुल पाँच सिर बने हैं और प्रत्येक सिर में तीन मुँह हैं। प्रमुख हाथों की संख्या आठ है, परन्तु छोटे-छोटे हजारों अन्य हाथ हैं, जो चक्राकार रूप में बने हैं और एक मण्डल से प्रतीत होते हैं। इन दोनों मूर्तियों के सामने एक छोटा सा अति सुन्दर स्वर्ण निर्मित मंदिर है, जो तिब्बत से यहाँ लाया गया है। यह शीशे के बक्से में बन्द है। इनके अतिरिक्त अनेकों कलात्मक वस्तुओं को यहाँ संग्रहित किया गया है।

थैगछन छौलिंग से नीचे, धर्मशाला की ओर जाने वाले 'खड़ा डण्डा' नामक मार्ग के लगभग आधे रास्ते पर, एक बड़ा प्रवेशद्वार है। इस प्रवेशद्वार के रास्ते से केन्द्रीय तिब्बती सचिवालय, तिब्बती पुस्तकालय व अभिलेखागार इत्यादि अन्य स्थलों पर पहुँचा जा सकता है। यही स्थल प्रवासी तिब्बत सरकार (Tibetan government in exile) का केन्द्र है। यहाँ अनेकों इमारत हैं जिनमें विभिन्न सरकारी विभागों जैसे सूचना व अन्तरराष्ट्रीय संबंध विभाग, शिक्षा विभाग, धर्म व संस्कृति विभाग, इत्यादि का कार्य चलता है। इस स्थल का नाम गेंगछेन किशौंग (Gangchen Kyishong) है, जिसका अर्थ है सुखद बर्फीली घाटी (Happy snowy valley)। यहाँ का प्रमुख आकर्षण तिब्बती पुस्तकालय व अभिलेखागार है जो दो मंजिली इमारत में बना है। इसकी स्थापना सन् 1970 में दलाई लामा के कर-कमलों से हुई थी। इसकी स्थापना का उद्देश्य तिब्बती संस्कृति व साहित्य को सुरक्षा प्रदान करना था। यह इमारत कजुर जिग्मे तरिंग (Kazur Jigme Taring) और रोमेश खोसला द्वारा परंपरागत तिब्बती शैली के अनुसार बनाये गये नक्शे के आधार पर बनी है। इसमें प्रवेशद्वार के बाँयी ओर विदेशी भाषा संदर्भ विभाग है। यहाँ तिब्बती बौद्ध धर्म और तिब्बती संस्कृति के सभी पहलुओं से संबंधित पुस्तकों, पत्रिकाओं व

समाचार पत्रों की कतरनों का संग्रह है। दाँयी ओर तिब्बती पुस्तकों व पाण्डुलिपियों का विभाग है। यह विभाग प्रायः पाण्डुलिपि कक्ष कहलाता है क्योंकि यहाँ के संग्रह में तिब्बती पाण्डुलिपियों (Pechas) की संख्या ही अधिक है। इसके अतिरिक्त तिब्बती सभ्यता से संबंधित तिब्बती भाषा की अन्य अनेकों पुस्तकें संग्रहित हैं। यहाँ लगभग 60 हजार ग्रंथ संग्रहित है जिसके कारण तिब्बती भाषा, कला व संस्कृति संबंधी अध्ययन सामग्री का यह विश्व में संभवतः सबसे बड़ा केन्द्र है।

ऊपरी मंजिल में संग्रहालय व अभिलेखागार विभाग में लगभग एक हजार दुर्लभ व बहुमूल्य मूर्तियाँ, तंखा, तिब्बती सिक्के, मुद्रा नोट (Currency note) और अन्य सामग्रियाँ हैं। इनमें से कुछ तो 13वीं शताब्दी जितनी प्राचीन हैं। ये सभी वस्तुयें अनेकों तिब्बती भक्तों द्वारा तिब्बत से लायी गयी हैं और दलाई लामा को भेंट स्वरूप समय-समय पर दी गई हैं। इस संग्रहालय की सर्वाधिक आकर्षक वस्तु कक्ष के ठीक मध्य में सात फुट ऊँचा नक्काशीदार लकड़ी से बना अवलोकितेश्वर मण्डल है।

पुस्तकालय में शोध व अनुवाद का कार्य प्रगति पर है। विभिन्न विषयों की, तिब्बती से अंग्रेजी में अनुदित पुस्तकें धीरे-धीरे छप कर लोगों के सामने आ रही हैं, जो कि तिब्बत व तिब्बती बौद्ध धर्म के इच्छुकों की ज्ञान पिपासा की पूर्ति करती हैं। यहाँ की एक अन्य विशेषता तिब्बती विद्या का केन्द्र है। इसमें बौद्ध दर्शन का पाठयक्रम, तिब्बती भाषा का पाठयक्रम, तंखा चित्रकला विद्यालय, काष्ठ-नक्काशी विद्यालय आदि चलते हैं, जिनमें विभिन्न स्थानों से लोग आकर अध्ययन कर के लाभ उठाते हैं। बौद्ध दर्शन व तिब्बती भाषा के तीन माह व छः माह के छोटे-छोटे पाठयक्रम भी यहाँ चलाये जाते हैं, जिनसे विशेषकर विदेशी पश्चिमी विद्वान लाभ उठाते हैं। यहाँ का एक अन्य विशेष कार्यक्रम 'मौखिक इतिहास परियोजना' है। पीढ़ी दर पीढ़ी तिब्बती लोगों के मध्य मौखिक रूप से ज्ञान का आदान-प्रदान होता रहा है। इस सांस्कृतिक व साहित्यिक धरोहर को संजोने का यह अच्छा प्रयास है, जिसमें ऐसे लोगों का साक्षात्कार ले कर उनके ज्ञान को टेप (रिकार्ड) कर लिया जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर तिब्बती पुस्तकालय व संग्रहालय पूरी तरह तिब्बत और तिब्बती बौद्ध धर्म विषयक साहित्यिक, सांस्कृतिक धरोहर को बचाने के प्रयास में पूरी तरह तत्पर है।

पुस्तकालय के समीप ही नेलछुंग (Nelchung) नामक एक मंदिर है। इसमें अन्य तिब्बती मंदिरों के समान भगवान बुद्ध की प्रतिमा और कंजुर व तंजुर के ग्रंथ संग्रहित हैं। परन्तु यहाँ की विशेषता धर्मपाल की प्रतिमा है। धर्मपाल तिब्बती बौद्ध धर्म के चार प्रमुख संप्रदायों में से एक गेलुपा संप्रदाय के धर्मरक्षक माने जाते हैं।

गेंगछन किशौंग से थोड़ा सा और नीचे की ओर 'तिव्वती मेडिकल एण्ड आस्ट्रोलोजिकल इंस्टीट्यूट' निर्मित है। तिव्वती चिकित्सा विभाग में लगभग 50 छात्र पढ़ते हैं, जो पूर्ण पाठयक्रम पाँच साल में पूरा करते हैं। इसके वाद दो साल व्यवहारिक प्रशिक्षण लेना पड़ता है। ज्योतिप विभाग में लगभग 10 छात्र हैं, जो नक्षत्रों, ग्रहों आदि का अध्ययन और मानव जीवन पर उनके प्रभाव को समझते हैं। छात्रावास की सुविधा भी यहाँ उपलव्ध है। इस संस्थान के संग्रहालय में विभिन्न प्रकार की जड़ी-वूटियाँ पत्थर, लकड़ी, मसाले आदि के साथ-साथ शल्य चिकित्सा में प्राचीन काल में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों को भी प्रदर्शित किया गया है। चिकित्सा विभाग में प्राचीन तिव्वती आमची पद्धति से रोगियों का इलाज करने की विधि सिखाई जाती है। इस पद्धति की दवाइयों का भी यहाँ निर्माण होता है, जो भारत में और अन्य देशों में भी भेजी जाती हैं।

इस संस्थान के अतिरिक्त यहाँ एक अन्य महत्वपूर्ण संस्थान तिव्वती सभ्यता व संस्कृति को वचाने में निरन्तर लगा है। वह है 'तिव्वती इंस्टीट्यूट ऑफ परफारमिंग आर्ट'। मकलोड गंज बाजार के चौराहे से वाँयी ओर थोड़ा ऊपर लगभग एक-डेढ़ किलोमीटर दूर यह संस्थान स्थित है। यहाँ तिव्वती नृत्य, कला, गीत, संगीत आदि जैसे सांस्कृतिक पक्ष को वचाने का प्रयास होता है। तिव्वती इस वात को भली-भाँति समझते हैं कि मानव जीवन में इन नृत्य-गायन आदि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है और इनके संरक्षण से ही अपनी संस्कृति से जुड़ा रहा जा सकता है। यहाँ अध्ययन करने वाले छात्र दसवीं कक्षा तक तो दिन में सामान्य स्कूलों में पढ़ते हैं और शेप समय इन ललित कलाओं को देते हैं। हाई स्कूल के उपरान्त वे पूर्णतया इनके अभ्यास में जुट जाते हैं। यहाँ के छात्रों ने देश व विदेश के विभिन्न स्थानों पर विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये हैं और सम्मान व पुरस्कार अर्जित किये हैं।

अन्त में 'तिव्वती चिल्ड्रन विलेज' का वर्णन भी आवश्यक है, जो मकलोड गंज से कुछ किलोमीटर नीचे धर्मशाला व मकलोड गंज के मध्य वसा है। यहाँ वच्चों को छात्रावासों में रखा कर उन्हें आधुनिक विपयों के साथ-साथ तिव्वती सभ्यता व संस्कृति से भी परिचित कराया जाता है। तिव्वती प्रवासी समाज के भविष्य को वनाने में यह संस्थान अपना भरपूर योगदान दे रहा है।

दीक्षा–भूमि

आधुनिक भारत में बौद्ध धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने वाले डॉ० भीमराव अंबेडकर ने अपना समस्त जीवन पिछड़ी जातियों और दलितों के उत्थान में समर्पित किया था। हिन्दू समाज में प्रचलित जाति प्रथा और कुछ लोगों को अछूत मान उनके साथ गुलामों से भी बदतर सलूक किया जाना ही अंबेडकर द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने का कारण था। यह धर्म-परिवर्तन जिस स्थान पर हुआ उसे दीक्षा-भूमि के नाम से जाना जाता है। यह महाराष्ट्र के नागपुर शहर में स्थित है और आज केवल भारत के बौद्ध मतावलंबियों के लिये ही नहीं बल्कि विश्व के सभी देशों के बौद्धों के लिये एक तीर्थ-स्थल है। भारत के दलित वर्ग को समाज में बराबरी का स्थान दिलाने, सर ऊँचा करके जीने और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समान अवसर उपलब्ध कराने का श्रेय इसी दीक्षा-भूमि पर एक जगह एक साथ इतने बड़े जन समुदाय द्वारा किये गये धर्मान्तरण को जाता है, जिसका संभवतः विश्व में कोई दूसरा सानी न होगा।

डॉ० अंबेडकर द्वारा अपने अनुयायियों सहित किये जाने वाले इस धर्मान्तरण के पीछे एक अछूत होने के कारण जन्म से ही कदम-कदम पर उत्पीड़न, अपमान और कठिनाईयों का सामना करना निहित था। पूरे दलित समाज को ही इन कष्टों से पीड़ित देख उन्होंने अपना सारा जीवन उन्हें इस त्रासदी से मुक्ति दिलाने में लगा दिया।

गौतम बुद्ध और उनके धर्म से डॉ० अंबेडकर का पहला परिचय सन् 1907 में कृष्णजी अर्जुन केलुसकर द्वारा बुद्ध के जीवन पर मराठी में प्रकाशित पुस्तक भेंट स्वरूप प्राप्त करने से हुआ था। इस छोटी सी भेंट ने उनके मन को जगा दिया और वे गौतम बुद्ध के जीवन से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने बौद्ध धर्म के विषय में और अधिक जानने का निर्णय लिया।

इस बीच अध्ययन के दौरान और बाद में भी समाज में अछूतों की हालत देख उन्हें सामाजिक गुलामी के जुए से छुटकारा दिलाने का प्रथम प्रयास उन्होंने 19 मार्च 1927 को महाराष्ट्र के कोलावा जिले के महाड़ नामक कस्बे से प्रारंभ किया। यह

स्थान वॉम्बे-गोआ राष्ट्रीय मार्ग पर वॉम्बे से 175 कि० मी० दक्षिण में है। यहाँ चौदर (Chowdar) तालाव में सामूहिक रूप से पानी पीने का प्रयास हुआ किन्तु यह आन्दोलन स्वर्ण हिन्दुओं का मन वदलने में सफल न हो सका। महाड़ विद्रोह का प्रतीक होने के कारण 'क्रांति भूमि' कहा जा सकता है।

नासिक के कलाराम मंदिर को प्रवेश का हक प्राप्त करने के लिए डॉ० अंवेडकर द्वारा चुनना दलितों को सामाजिक दर्जा दिलाने का एक अन्य प्रयास था। वॉम्बे शहर से 184 कि० मी० उत्तर-पश्चिम में गोदावरी नदी के किनारे स्थित नासिक एक प्राचीन नगर है और यहाँ प्राचीन वौद्ध गुफाओं का समूह भी है। सत्याग्रह रविवार के दिन 2 मार्च 1930 को रखा गया, जिसमें लगभग 15,000 (पंद्रह हजार) लोग एकत्रित हुये। लगभग एक मील लंवा जुलूस मंदिर की ओर वढ़ा किन्तु मंदिर के द्वार वन्द होने के कारण पुनः 3 मार्च को प्रयास हुआ। इन प्रयासों के कारण यहाँ के न्यासियों (Trustes) ने मंदिर को पूरे एक साल तक वंद रखा। नासिक सत्याग्रह पाँच साल तक चला और इसे वापस तव लिया गया जव इस नतीजे पर पहुँचा जाया गया कि अव "और हिन्दू मंदिर नहीं।"

नासिक के मंदिर प्रवेश सत्याग्रह द्वारा स्वर्ण हिन्दुओं को झुकाने में असफल होने के कारण डॉ० अंवेडकर ने समीपस्थ कस्वे येओल (Yeola) में 13 अक्टूवर 1935 को भविष्य के कार्य को निर्धारित करने के लिए एक सभा वुलाई। विशाल जनसभा को संवोधित करते हुए उन्होंने कहा कि यह निश्चित करने का समय आ गया है कि अव हिन्दू धर्म से जुड़ा न रहा जाये और किसी ऐसे धर्म को चुना जाये जो उन्हें समान अधिकार, सुरक्षित स्थिति और न्यायोचित व्यवहार दे सके। स्वयं के विषय में उन्होंने कहा कि "दुर्भाग्य से मैं एक हिन्दू पैदा हुआ हूँ। उसको रोकना मेरी सामर्थ्य के वाहर था, परंतु मैं निश्चित रूप से आपको आश्वस्त करता हूँ कि मैं एक हिन्दू रहते हुए नहीं मरूँगा।" इस प्रकार येओल सभा हिन्दू धर्म को अलविदा कहने के संदेश के साथ समाप्त हुई और नये धर्म की तलाश प्रारंभ हुई।

येओल घोषणा सुनने के उपरान्त एक इटालियन भिक्षु भदन्त लोकनाथ सन् 1935 के अन्त के आस-पास भारत आये और डॉ० अंवेडकर को समझाया कि उनके अनुयायियों के लिये सवसे ठीक वौद्ध धर्म ही है। डॉ० अंवेडकर ने इस पर विचार करने का उन्हें आश्वासन दिया। इस वीच अन्य धर्मों के प्रमुख लोगों ने भी उनसे उनके धर्म को अपनाने के सलाह-मशवरे दिये।

दिसम्वर 1935 में लाहौर के जाँत-पाँत तोड़क मण्डल ने मार्च 1936 में होने वाले सालाना सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए उन्हें आमंत्रित किया। अपने अध्यक्षीय

भाषण में अन्य बातों के अतिरिक्त उन्होंने लिखा कि "एक हिन्दू के रूप में दिया जाने वाला यह उनका अन्तिम भाषण है।" मण्डल ने इन शब्दों को हटाने को कहा लेकिन इन्कार किये जाने पर सम्मेलन ही रद्द कर दिया।

अपने धर्म परिवर्तन के निश्चय के कारणों को स्पष्ट करने के लिये डॉ० अंबेडकर ने 30–31 मई 1936 को बॉम्बे में महार सभा बुलाई। इसमें उन्होंने कहा कि "हिन्दू धर्म मेरे अन्तःकरण को प्रभावित नहीं करता है। यह मेरे आत्म-सम्मान को प्रभावित नहीं करता है। फिर भी, तुम्हारा धर्मपरिवर्तन भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ आध्यात्मिक लाभ के लिये भी होगा। मैं तुम्हें विशेष तौर पर कहता हूँ, 'धर्म मनुष्य के लिए है और मनुष्य धर्म के लिये नहीं है।' मानवोचित व्यवहार पाने के लिए अपना धर्मपरिवर्तन करो।" अन्त में स्रोताओं को उन्होंने गौतम बुद्ध के अन्तिम शब्द याद रखने को कहा जो उन्होंने आनन्द को कहे थे, "स्वयं अपने दीपक बनो। स्वयं को किसी बाहरी शरण में मत डालो। सत्य को एक दीपक की भाँति कस कर पकड़े रहो। सत्य को एक आश्रय की भाँति कस कर पकड़े रहो। स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य को आश्रय के लिये मत देखो।"

इससे आभास मिलता है कि उनका मस्तिष्क किस ओर कार्य कर रहा था। इसके बाद वे बौद्ध धर्म, दर्शन, बुद्ध के जीवन और बौद्ध जीवन मूल्यों पर निरन्तर बोलते रहे। इसके बाद के उनके साहित्यिक व्याख्यानों आदि से इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि उनका वैचारिक सुझाव बौद्ध धर्म की ओर था। नवम्बर 1945 में उन्होंने अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे प्रदेशीय सभा बुलाई, जिसके विशाल पंडाल का नाम बुद्धनगर था। जून 1946 में उन्होंने बॉम्बे में एक कालेज खोला जिसका नाम 'सिद्धार्थ कालेज' रखा।

डॉ० अंबेडकर के अनुयायियों ने उनसे यह राय माँगी कि कैसे वे इस श्रेष्ठ धर्म को समझें। उनके निरन्तर अनुरोध को देखते हुए सन् 1948 में डॉ० अंबेडकर ने सन् 1907 में छपी प्रो० पी० एल० नरसु की पुस्तक 'दी एसैन्स ऑफ बुद्धिज्म' को पुनः प्रकाशित कराया और भावी बौद्धों को इसे पढ़ने की सलाह दी। इस पुस्तक के प्राक्कथन में उन्होंने लिखा कि वे स्वयं बौद्ध धर्म पर एक पुस्तक लिख रहे हैं। उन्होंने अछूतों के इतिहास पर भी निगाह डाली और अपनी खोज की उपलब्धि सन् 1948 में छपी अपनी पुस्तक "अछूत वे कौन थे और वे अछूत क्यों बने" में दी। उनके अनुसार आज के अछूत प्राचीन काल में बौद्ध थे और उन्हें अछूत 400 ईसवी में गुप्त राजाओं के शासन काल में बनाया गया था।

सन् 1950 में यह स्पष्ट हो गया कि डॉ० अंबेडकर द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करना

अव केवल कुछ समय की ही वात है। इस वर्ष उन्होंने अपने अनुयायियों को बुद्ध जयन्ती समारोह मनाने का निर्देश दिया। इस प्रकार भारत से बौद्ध धर्म के लुप्त हो जाने के बाद पहली वार एक विशाल जुलूस दिल्ली में 3 मई 1950 को निकला। इसी वर्ष उन्होंने पहली वार कलकत्ता के महावोधि जर्नल के वैशाख अंक में 'बुद्ध और उनके धर्म का भविष्य' शीर्षक से लेख दिया। बौद्ध धर्म के प्रति अपने विचारों को व्यक्त करते हुए इस लेख में उन्होंने लिखा कि उन्होंने बौद्ध धर्म को इसलिये चुना क्योंकि यह पाया कि बुद्ध का धर्म विवेकपूर्ण, वैज्ञानिक और स्वतंत्रता, समानता व वन्धुत्व का सार है। भारत के संविधान निर्माण के समय भी उन्होंने संविधान को बौद्ध परंपरा के साथ कुछ न कुछ मात्रा में जोड़ने का प्रयास किया, जैसे राष्ट्रीय झण्डे के मध्य अशोक चक्र का प्रयोग, राष्ट्रीय चिन्ह के रूप में अशोक के सारनाथ स्तंभ के शीर्ष का प्रयोग, वहुजन हिताय वहुजन सुखाय जैसे शव्दों का प्रयोग, इत्यादि।

25 मई 1950 को वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ वद्धिस्ट के प्रथम सम्मेलन में भाग लेने के लिए वे श्रीलंका गये, जिसका उद्घाटन सत्र कैन्डी के दंत धातु मंदिर में हुआ। श्रीलंका में उन्होंने यंग मैनस् वुद्धिस्ट एसोशिएसन के समक्ष 'राईज़ एण्ड फॉल ऑफ वुद्धिज्म इन इण्डिया' पर भाषण दिया जिसमें अन्त में उन्होंने कहा कि "बौद्ध धर्म भारत से भले ही भौतिक रूप से लुप्त हो गया है लेकिन एक आध्यात्मिक शक्ति के रूप में आज भी इसका अस्तित्व है।" श्रीलंका से लौटने के वाद वे जहाँ कहीं भी गये बौद्ध धर्म, उसके प्राचीन गौरव और उसके भविष्य की संभावनाओं पर वोले। वॉम्वे के वोरली में जापानी बौद्ध मंदिर में 29 सितम्वर 1950 को हुई एक सभा में उन्होंने घोषणा की कि वे अपना शेष जीवन भारत में बौद्ध धर्म के पुनर्जागरण और प्रसार में लगायेंगे।

सन् 1951 में डॉ० अंवेडकर ने महावोधि सोसायटी ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली द्वारा आयोजित बुद्ध जयन्ती समारोह में भाग लिया और इस अवसर पर वोलते हुए यह घोषणा कि, "यदि शेष हिन्दू समाज सहयोग नहीं करेगा तो हम अनुसूचित जाति के सदस्य खुद अपना निर्णय करेंगे और इस देश में बौद्ध धर्म के प्राचीन गौरव व सम्मान को एक वार पुनः वापस लाने का प्रयास करेंगे।" इसी वर्ष अपने अनुयायियों के लाभ और निर्देश के लिये उन्होंने 'बौद्ध उपासना पथ' (बौद्ध सुत्तों का एक संग्रह जो प्रज्ञा के रत्न हैं) प्रकाशित किया। अप्रैल-मई 1951 के महावोधि के अंक में उन्होंने 'दी राईज़ एण्ड फॉल ऑफ दी हिन्दू वूमैन। हू वाज़ रिसपॉन्सिवल फॉर इट' नामक एक विद्वत्तापूर्ण लेख दिया। इस लेख में उन्होंने स्पष्ट किया कि

बुद्ध ने औरतों के उत्थान के लिये प्रयास किया और उन्हें आदमियों के समान स्तर तक लाना चाहा। इसी वर्ष जुलाई में उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये इण्डियन बुद्धिस्ट सोसायटी बनाई थी।

जब डॉ० अंबेडकर ने वॉम्बे में पहला कालेज खोला था तो उसे वे केवल एक बौद्ध नाम 'सिद्धार्थ कालेज' ही दे सके क्योंकि इसके लिये पूर्वनिर्मित इमारत को क्रय किया गया था। हालाँकि वे एक ऐसी संस्था स्थापित करना चाहते थे जिसके जरिये बौद्ध कला व संस्कृति की शिक्षा दी जा सके। इस प्रयोग के लिये उन्होंने मराठवाड़ा के पिछड़े हुए क्षेत्र के मध्य में औरंगाबाद को चुना, जो बौद्ध धर्म का एक प्राचीन केन्द्र रहा है। औरंगाबाद के कालेज का नाम 'मिलिन्द महाविद्यालय' तथा पूरे अहाते का नाम 'नागसेन-वन' रखा गया।

इस बीच डॉ० अंबेडकर को प्रायः बौद्ध भिक्षुओं व विद्वानों के साथ ही देखा जाता था। मई 1954 में उन्होंने दो हफ्ते बर्मा में बुद्ध जयन्ती समारोहों में भाग लेते हुए व्यतीत किये। जून में उन्होंने बंगलौर में एक बौद्ध शिक्षणालय प्रारंभ करने का अपना इरादा जाहिर किया जहाँ भारत में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए उपदेशकों को प्रशिक्षित किया जायेगा। BBC प्रसारण पर 3 अक्टूबर 1954 को 'माई परसॉनल फिलॉस्फी' श्रृंखला में बोलते हुए उन्होंने कहा कि "मेरे समाज दर्शन को कहा जा सकता है कि तीन शब्दों आजादी, समानता और बन्धुत्व पर आधारित है। मेरे दर्शन की जड़ें धर्म में हैं न कि राजनीति में। मैने उनको अपने गुरु, बुद्ध की शिक्षाओं से निकाला है।"

दिसम्बर 1954 के प्रथम सप्ताह में डॉ० अंबेडकर रंगून में होने वाले वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ बुद्धिस्ट के तृतीय सम्मेलन में भाग लेने पुनः म्यानमार (बर्मा) गये। इस सम्मेलन को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, "मुझे अत्यधिक वेदना के साथ यह कहना पड़ रहा है कि उस भूमि पर, जहाँ महान बुद्ध पैदा हुए, उनके धर्म का पतन हो गया। यह कैसे हुआ यह किसी के भी अनुमान से परे है।" यह कहते हुए उनकी आँखों में आँसू आ गये और कुछ क्षणों तक वे अपना भाषण आगे नहीं बढ़ा पाये। बाद में उन्होंने भारत में बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित करने के अपने कार्यक्रम का संक्षिप्त सारांश प्रस्तुत किया और जोर दे कर यह बात कही कि तीर्थ-स्थलों की रोशनी व देखभाल पर खर्च होने वाली विशाल रकम को लाभदायक तरीके से धर्म के प्रसार और भारत में उसके पुनर्जागरण पर व्यय किया जा सकता है। म्यानमार में रहते हुए डॉ० अंबेडकर मॉडले भी गये, जहाँ वे एक सप्ताह डॉ० आर०सी० सोनी

के अतिथि रहे। सन् 1956 में बौद्ध धर्म में औपचारिक रूप से आने का ऐतिहासिक निर्णय उन्होंने मॉडले में ही लिया था। यहाँ डॉ० सोनी से बौद्ध धर्म में औपचारिक रूप से आने के लाभों पर उनकी विस्तृत चर्चा हुई थी। अन्तोगत्वा यहाँ के अपने प्रवास के पाँचवे दिन उन्होंने घोषणा की, "यह जान कर आप को खुशी होगी कि मैंने बुद्ध के जन्म के 2500 वें वर्ष में अर्थात् सन् 1956 में अपने अनुयायियों सहित बौद्ध धर्म में औपचारिक रूप से आने का अन्तिम निर्णय ले लिया है।"

म्यानमार (बर्मा) से लौट कर सबसे पहला काम उन्होंने यह किया कि बुद्धिस्ट सोसायटी ऑफ इण्डिया का सुधार किया और उसे जून 1955 में पंजीकृत कराया। रंगून में उनको भेंट की गई बुद्ध की प्रतिमा को उन्होंने 25 दिसम्बर 1955 को पूना के निकट देहु रोड पर अपने अनुयायियों द्वारा नवनिर्मित विहार में प्रतिष्ठापित किया। इस अवसर पर एकत्रित लोगों को संबोधित करते हुए उन्होंने एक साल के भीतर बौद्ध धर्म अपनाने के अपने कार्यक्रम का इशारा किया। मई 1956 को डॉ० अंबेडकर ने BBC, लन्दन को एक वार्ता दी जिसका शीर्षक था, "वॉय आई लाईक बुद्धिज्म एण्ड हाऊ यूज़फुल इट इज़ टू दी वर्ल्ड इन इट्स प्रैजेण्ट सरकमस्टेंण्सिज़।" इसी महीने में उन्होंने अपने अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ 'बुद्ध और उनका धर्म' को प्रेस में भेजा था।

अभी तक डॉ० अंबेडकर ने यह निश्चित नहीं किया था कि बौद्ध धर्म को कब, कहाँ और किसके द्वारा स्वीकार किया जाए तथा उसका स्वरूप कैसा हो। सन् 1956 में उन्होंने महाबोधि सोसायटी के प्रधान सचिव भिक्षु धर्मरत्न को एक पत्र लिख कर यह सूचित किया था कि वैशाख पूर्णिमा के अवसर पर सारनाथ में बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ, लेकिन बाद में उन्होंने उस तिथि को और उस स्थल को भी रद्द कर दिया। फिर उन्होंने क्रमशः बम्बई और औरंगाबाद में दीक्षा समारोह कराने का इरादा जाहिर किया और रद्द कर दिया। इससे इस बात का पता चलता है कि डॉ० अंबेडकर दीक्षा समारोह का कार्यक्रम एक विशाल पैमाने पर करना चाहते थे जिसका विस्तृत जन प्रभाव हो और इसलिये सारनाथ, बम्बई या औरंगाबाद तीनों उचित स्थल नहीं थे।

इस बीच नागपुर के कुछ लोगों को इस बात का पता चला कि डॉ० अंबेडकर बौद्ध धर्म को अपनाने जा रहे हैं। नागपुर में पहले से ही 'बौद्ध जन सभा' का संगठन करके कुछ लोगों ने काम करना शुरू कर दिया था और जब उनको इस बात का पता चला तो वे लोग उनसे मिलने दिल्ली आये और आग्रह किया कि

बौद्ध दीक्षा समारोह अन्य स्थलों की जगह नागपुर में किया जाये और वे जिस तरह से इस समारोह को करना चाहेंगे वह उसी ढंग से होगा इस तरह का अभिवचन उन्हें दिया। डॉ० अंबेडकर स्वयं इस बात को जानते थे कि अन्य स्थलों की जगह नागपुर और विदर्भ दलितों की एक बहुत बड़ी शक्ति का स्थल है। यहाँ दलित समाज सामाजिक, आर्थिक, और शैक्षणिक दृष्टि से बहुत ही जागृत और कुछ हद तक स्वावलंबी भी है। यहाँ उनकी हर सभा विशाल पैमाने पर होती थी। सामाजिक दृष्टि से और संख्या बल की दृष्टि से भी वे सवर्णों से कम नहीं थे। उनके बहुत सारे आन्दोलन नागपुर से ही शुरु हुए थे, जैसे सिड्यूलड कास्ट फैडरेशन की स्थापना यहीं हुई थी।

24 मई 1956 को 2500 वें बुद्ध जयन्ती दिवस को बॉम्बे के नारे पार्क में एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने घोषणा की कि वे अक्टूबर में बौद्ध धर्म ग्रहण करेंगे। इसके उपरान्त उन्होंने विचारपूर्वक इस ऐतिहासिक घटना की तिथि चुनी और कुशीनगर के परम आदरणीय भदन्त महाथेर उ० चन्द्रमणि से निवेदन किया कि वे उन्हें नागपुर में 14 अक्टूबर 1956, विजयदशमी दिवस को बुद्ध के सौभाग्यशाली धर्म में ले जायें। यह दिन इसलिए चुना गया क्योंकि यह धम्म विजय का पवित्र दिन था। इसी दिन 262 ईसा पूर्व सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था और घोषणा की कि आगे वह लोगों को शक्ति से नहीं बल्कि प्रेम व अनुनय से जीतेंगे। इस बात का कारण देते हुए कि क्यों उन्होंने नागपुर शहर को महान धर्मपरिवर्तन समारोह के लिये चुना, डॉ० अंबेडकर ने कहा, "जिन्होंने भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास पढ़ा है, भली-भाँति जानते हैं कि जिन लोगों ने बुद्ध के धर्म के प्रसार के लिये प्रारंभ में कार्य किया वे 'नाग' थे। नागों ने ही पूरे विश्व में बुद्ध के धर्म को फैलाया। ये लोग मुख्यतया नागपुर के मूल निवासी थे। इस नगर की मिट्टी से एक 'नाग' नामक नदी बहती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि नाग इस नदी के तट पर रहते थे। इस महान अवसर के लिये नागपुर को चुनने का यह मुख्य कारण है।"

इस ऐतिहासिक धर्मानुष्ठान के लिये श्रृद्धानन्द पेठ में वसाईन इंस्टीट्यूट के समीप सरकारी जमीन का 14 एकड़ का टुकड़ा घटना-स्थल के रूप में चुना गया। यह जगह एक तरह से वीरान जगह थी। इसके इर्द-गिर्द जंगल-झाड़ी थीं और पक्की सड़क नहीं थी। दीक्षा समारोह के लिये पहले दो स्थल देखे गये थे, लेकिन दूसरा स्थल, दक्षिण की ओर मेडिकल कालेज के पीछे, रद्द किया गया और दीक्षा-भूमि को स्वीकार किया गया। यह स्थल नगर के पश्चिमी किनारे पर था। यह जगह काफी बड़ी थी और दीक्षा के लिए इसको तैयार किया गया था। विशाल पण्डाल के उत्तरी

किनारे पर एक बड़ा मंच खड़ा था जो ध्वजपटों से और पाँच रंग वाले बौद्ध झण्डों से अलंकृत था। विशाल मंच सफेद वस्त्रों से सज्जित था और ऊपर शीर्ष पर साँची स्तूप की प्रतिकृति बनी थी।

रविवार 14 अक्टूबर 1956 की सुबह नागपुर में महाराष्ट्र के सभी भागों से रेल या बस द्वारा आये या पैदल सैकड़ों मील की यात्रा करके आये लाखों पुरुष व स्त्रियों ने स्वयं को सफेद वस्त्रों में धर्मानुष्ठान के लिए तैयार कर लिया था। सफेद वस्त्र पहने पुरुष व नारियों के जुलूस के बाद जुलूस हाथों में बौद्ध झण्डे लिये हुए दीक्षा-भूमि की ओर बढ़ते गये और 9 बजे दीक्षा स्थल पर पहुँच गये जहाँ मनुष्यों का एक विशाल समुन्दर बन गया। सफेद वस्त्रों में डॉ० अंबेडकर भदन्त ऊ० चन्द्रमणि के समीप मंच पर बैठे। मंच पर अन्य प्रमुख व्यक्ति, महाबोधि सोसायटी ऑफ इण्डिया के जनरल सेक्रेटरी देवप्रिय वलिसिंह, भिक्षु गण तथा बाबा साहब द्वारा स्थापित बुद्धिस्ट सोसायटी ऑफ इण्डिया के कुछ प्रमुख सदस्य थे। प्रातः 9.40 बजे प्रारंभ हुये पवित्र समारोह के लगभग 4 लाख लोग साक्षी थे। कुशीनगर के 80 वर्षीय भदन्त ऊ० चन्द्रमणि ने पालि में डॉ० अंबेडकर व उनकी पत्नी को त्रिशरण दी। त्रिशरण के बाद पञ्च-शील का उपदेश हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने जुड़े हुए हाथों सहित बुद्ध प्रतिमा को तीन बार प्रणाम किया और सफेद कमल के फूल अर्पित किये। इसके साथ उनका धर्मपरिवर्तन हो गया। जब डॉ० अंबेडकर के बौद्ध धर्म में प्रवेश की घोषणा हुई, यहाँ उपस्थित विशाल जन समुदाय ने दिल से अपने हर्ष का इज़हार किया और मुक्त कंठ से 'भगवान बुद्ध और बाबा साहब अंबेडकर' की जय-जयकार की। तत्पश्चात् यहाँ उपस्थित प्रमुख व्यक्तियों ने बाबा साहब का मालाअर्पण किया।

इस प्रकार ऐतिहासिक नागपुर दीक्षा समारोह में उनकी तीर्थयात्रा समाप्त हुई। विशाल जनसमुदाय को संबोधित करते हुए डॉ० अंबेडकर ने, जो अब एक बौद्ध थे, भावपूर्ण आवाज में कहा, "मैंने हिन्दू धर्म का परित्याग करने का आन्दोलन सन् 1935 में प्रारंभ किया था और तबसे मैं निरन्तर संघर्षरत रहा। इस धर्म परिवर्तन ने मुझे बेहद संतोष और अकल्पनीय आनन्द दिया है। मैं ऐसा महसूस कर रहा हूँ जैसे मुझे नरक से मुक्ति मिल गयी है।" उन्होंने तब उन लोगों का आवाहन किया जो बौद्ध धर्म अपनाने को तैयार हैं। तत्पश्चात् सारा जनसमुदाय एक साथ खड़ा हो गया और उन्होंने बाबा साहब के पीछे-पीछे ऊँचे और हर्षपूर्ण स्वरों में त्रिशरण और पञ्चशील का उच्चारण किया। इसके साथ, बाबा साहब ने उन लोगों को 22 शपथ भी ग्रहण कराई जो उन्होंने यह निश्चित करने के लिए विशेष तौर पर बनाई

थीं कि उनके अनुयायी पूर्णतया अपने पुराने धर्म का परित्याग कर सकें और अच्छे वौद्ध वनें। ये 22 भीम-प्रतिज्ञायें इस प्रकार हैं–

(1) मैं ब्रह्मा, विष्णु और महेश को कभी ईश्वर नहीं मानूँगा और न उनकी पूजा करूँगा।

(2) मैं राम व कृष्ण को ईश्वर नहीं मानूँगा और न कभी उनकी पूजा करूँगा।

(3) मैं गौरी, गणपति आदि हिन्दू धर्म के किसी भी देवी-देवता को नहीं मानूँगा और न उनकी पूजा करूँगा।

(4) मैं इस वात पर कभी भी विश्वास नहीं करूँगा कि ईश्वर ने कभी अवतार लिया है।

(5) मैं इस वात को कभी नहीं मानूँगा कि भगवान वुद्ध विष्णु के अवतार हैं। मैं ऐसे विचार को पागलपन का प्रचार समझूँगा।

(6) मैं कभी श्राद्ध नहीं करूँगा और न कभी पिण्डदान करूँगा।

(7) मैं वौद्ध धर्म के विरूद्ध किसी की वात नहीं मानूँगा।

(8) मैं ब्राह्मणों के हाथों से कोई भी धार्मिक अनुष्ठान (क्रिया-कर्म) नहीं कराँऊगा।

(9) मैं इस सिद्धांत को मानूँगा कि सभी मनुष्य एक हैं।

(10) मैं समानता की स्थापना के लिये प्रयत्न करूँगा।

(11) मैं भगवान वुद्ध के अष्टांगिक मार्ग का पूर्ण पालन करूँगा।

(12) मैं भगवान वुद्ध द्वारा वनाई दस पारमिताओं का पूर्ण पालन करूँगा।

(13) मैं प्राणिमात्र पर दया-भाव रखूँगा और उनकी रक्षा करूँगा।

(14) मैं चोरी नहीं करूँगा।

(15) मैं झूठ नहीं वोलूँगा।

(16) मैं व्यभिचार-अनाचार नहीं करूँगा।

(17) मैं शराव आदि कोई नशा नहीं करूँगा।

(18) मैं अपने जीवन को वौद्ध धर्म के तीन तत्वों–ज्ञान, शील और समता–पर ढालने का प्रयास करूँगा।

(19) मैं मनुष्यमात्र के उत्कर्ष में वाधक और मनुष्यमात्र को असमान व निम्न मानने वाले हिन्दू धर्म का पूरी तरह त्याग करता हूँ और वौद्ध धर्म स्वीकार करता हूँ।

(20) मेरा विश्वास है कि वौद्ध धर्म सद्धर्म है।

(21) मैं यह मानता हूँ कि मेरा पुनर्भव (पुनर्जन्म) हो रहा है।

(22) मैं यह पावन प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से मैं बौद्ध धर्म की शिक्षाओं के अनुसार आचरण करूँगा।

अगले दिन, एक विशाल समुदाय पुनः इसी स्थल पर अपने मुक्तिदाता की गर्जन भरी आवाज को सुनने के लिये इकट्ठा हुआ। उनके भाषण से पहले एक और धर्म परिवर्तन समारोह हुआ, उन एक लाख पुरुष व स्त्रियों को बौद्ध धर्म में शामिल करने के लिये, जो पहले दिन देरी से आये थे और दीक्षा समारोह में भाग नहीं ले पाये थे। तत्पश्चात् अपने तीन घण्टे लंबे भाषण में डॉ० अंबेडकर ने दलित लोगों के सदियों से चले आ रहे कष्टों के इतिहास, उनके कष्टों के निवारण के लिये अपने जीवन-पर्यन्त के संघर्ष और उन्होंने सभी धर्मों में बौद्ध धर्म को ही क्यों चुना, इन विषयों पर विस्तृत चर्चा की। इस धर्मान्तरण के कारणों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "मनुष्य केवल रोटी के सहारे जिंदा नहीं रह सकता। उसके पास एक मस्तिष्क है जिसे विचारों का भोजन चाहिये। धर्म मनुष्य में आशा जगाता है और उसे कुछ करने को प्रोत्साहित करता है। हिन्दू धर्म ने दलितों के उत्साह पर पानी फेर दिया है। इसलिये मैंने अपने धर्म को बदलना आवश्यक समझा और बौद्ध धर्म ग्रहण किया। हिन्दू समाज चातुर्वर्ण पर आधारित है जो असमानता का ही दूसरा नाम है। इस धर्म में दबे कुचले और पददलित लोगों के लिये गुलामी और दासता के सिवा कुछ नहीं है। इसमें पड़ा रहने से हमारा कुछ भी भला नहीं होगा। हमारी मुक्ति केवल बुद्ध के धर्म में ही है जो समानता और विश्व बंधुत्व पर आधारित है।"

इस महान घटना के समाप्त होने पर डॉ० अंबेडकर ने बहुत सुकून महसूस किया। उन्होंने अपने भावों को महाबोधि सोसायटी ऑफ इण्डिया, कलकत्ता के जनरल सैक्रेटरी देवप्रिय वलिसिंह के पत्र के उत्तर में 30 अक्टूबर 1956 को लिखे अपने पत्र में व्यक्त किया है। अपने पत्र में, जो उनकी अन्तिम वसीयत के समान था, उन्होंने लिखा, "यह निस्सन्देह एक महान घटना थी और धर्म परिवर्तन के लिये जितना जनसमुदाय आया वह मेरी अपेक्षा से अधिक था। बुद्ध का धन्यवाद जो सब कुछ ठीक था।

"मुझे यह जान कर खुशी है कि आपने यह समझा है कि कार्य को भली-भाँति प्रारंभ करने के साथ हमें भविष्य में इसकी निरन्तर प्रगति पर भी ध्यान देना पड़ेगा। हमें ऐसे तरीके व रास्ते निकालने होंगे जिससे उन सामान्य लोगों तक, जिन्होंने बौद्ध धर्म को अपनाया और वे जो मेरे कहने पर इसे स्वीकार करेंगे, बौद्ध धर्म का ज्ञान पहुँच सके। हमें निस्सन्देह बड़े पैमाने पर ऐसे कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना होगा जो लोगों को धर्म की शिक्षा दें। किन्तु इस कार्य को करने के लिये सबसे उपयुक्त

भिक्षु होंगे। वे अपने साथ ऐसी प्रतिष्ठा लिये रहेंगे जो एक सामान्य आदमी नहीं रख सकता है।

"मेरी समझ से भिक्षुओं को यह जान कर बड़ी प्रसन्नता होगी कि एक बड़ा कार्य, जो उनकी प्रतीक्षा कर रहा था, हो चुका है। भिक्षुओं के साथ एक ही समस्या है कि वे लोगों की भाषा सीखने की परवाह नहीं करते हैं। मुझे भय है कि संघ को अपने नजरिये को संशोधित करना होगा और एकान्तवासी बनने की जगह उन्हें ईसाई मिशनरियों की तरह समाज सेवक व समाज उपदेशक बनना होगा। जैसा मैंने आपको कहा था, आज न तो वे अर्हन्त हैं और न ही समाज के उपयोगी सदस्य। यह तथ्य उनमें भरना होगा और उन्हें यह समझने पर मजबूर करना होगा कि वे बुद्ध की अच्छी सेवा उनके धर्म के उपदेशक बन कर ही कर सकते हैं।

"मैं आपके इस सुझाव से सहमत हूँ कि एक ऐसा तर्कसंगत सम्मेलन किया जाये जहाँ भिक्षुओं और अ-भिक्षुओं को बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों की शिक्षा दी जा सके और उन्हें भारत की विभिन्न भाषाओं को सिखाया जा सके जिससे उन्हें विभिन्न भागों में भेजा जा सके।

"धर्म परिवर्तन समारोह संभवतः बॉम्बे में दिसम्बर में हो पायेगा।"

दीक्षा-भूमि में हुए ऐतिहासिक सामूहिक धर्मपरिवर्तन समारोह के चार हफ्ते बाद डॉ० अंबेडकर 15 से 21 नवम्बर 1956 को होने वाले वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ बुद्धिस्ट के चौथे सम्मेलन में भाग लेने काठमाण्डू गये। एक अन्तराष्ट्रीय सभा में एक बौद्ध के रूप में यह उनका प्रथम आविर्भाव था। सम्मेलन में उनका उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ बुद्धिस्ट के अध्यक्ष डॉ० जी० पी० मल्सेकर ने 16 नवम्बर के अपने अध्यक्षीय भाषण में नागपुर की घटना को एक चमत्कार बताते हुए कहा, "हम विभिन्न प्रकार के चमत्कारों के युग में जी रहे हैं। अपने आस-पास हम उन्हें अक्सर होता हुआ देखते हैं। उदाहरण के रूप में मैं उनमें से एक का हवाला दूँगा। कुछ वर्ष पहले तक, बौद्ध धर्म अपने प्रवर्तक की भूमि से लगभग लुप्त हो चुका था। परन्तु निकट भूतकाल में, यह अपने अस्तित्व का आभास करा रहा है जैसे आने वाली घटना का पूर्वाभास होता है। केवल एक महीना पहले, 14 अक्टूबर को, हमने एक आश्चर्य होते देखा जब नागपुर में पाँच लाख लोगों ने डॉ० अंबेडकर के नेतृत्व में बौद्ध धर्म ग्रहण किया। संसार में किसी भी धर्म के इतिहास में कभी भी 5 लाख लोगों ने स्वयं को एक विशेष समय (अवसर) पर एक नये धर्म को मानने वाला नहीं घोषित किया है। यह एक आश्चर्यजनक घटना थी और इसके दूरगामी परिणाम दिखने लगे हैं। इसने प्रतिक्रिया की कड़ी की एक श्रृंखला को प्रारंभ कर दिया है। इस प्रायद्वीप के दूर-दराज के विभिन्न भागों से प्रतिदिन इस प्रोत्साहित

करने वाले उदाहरण का अनुगमन वड़े पैमाने पर पुरुषों व स्त्रियों द्वारा होने के समाचार मिल रहे हैं। इस प्रकार की घटनायें हमें खुशी व आशा से भरती हैं।"

नेपाल से लौटते वक्त वीमार होते हुए भी डॉ० अंवेडकर बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा करते हुए दिल्ली आये। 5 दिसम्वर 1956 की रात या 6 दिसम्वर वीरवार की सुबह के प्रारंभिक घण्टों में उनका परिनिर्वाण हुआ। पूरे विश्व में उनकी अकाल मृत्यु से दुख छा गया। उनके अनुयायियों द्वारा उनका पार्थिव शरीर वॉम्वे ले जाया गया और 7 दिसम्वर 1956 को वौद्ध धर्मविधि के अनुसार उनका अंतिम संस्कार हुआ। पाँच लाख से अधिक लोगों ने शव यात्रा में भाग लिया। वॉम्वे शहर का अव तक का यह सबसे वड़ा जुलूस था और उनके घर राजगृह (दादर) से चैत्य-भूमि (शिवाजी पार्क) तक का 3.5 कि० मी० का सफर चार घण्टे में तय कर पाया था। वावा साहव ने वॉम्वे में 16 दिसम्वर को सामूहिक धर्मान्तरण समारोह का कार्यक्रम बनाया था। उनकी इच्छापूर्ति के लिये, लगभग एक लाख लोगों ने आग्रह किया कि उन्हें बौद्ध धर्म में शामिल कर लिया जाये। अतः तत्काल एक धर्मान्तरण समारोह चैत्य-भूमि पर आयोजित किया गया और उन लोगों को उसी जगह भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने त्रिशरण व पञ्चशील धारण कराया।

डॉ० अंवेडकर का करिश्मा ऐसा था कि उनकी मृत्यु उनके जीवन से भी वड़ी सावित हुई। वुद्ध का अनुसरण करने का उनका संदेश उनके लोगों ने भली-भाँति ग्रहण किया। डॉ० अंवेडकर के परिनिर्वाण के उपरान्त वनी 'दीक्षा-भूमि स्मारक समिति' ने दीक्षा स्थल को सरकार से माँगा था, लेकिन सरकार ने इसे देने से इन्कार किया था। कुछ सालों तक रिपब्लिकन पार्टी द्वारा जमीन के लिए संघर्ष किये जाने पर कहीं जाकर यह जमीन स्मारक समिति को मिली। आज करीव यह जमीन 14 से 20 एकड़ के वीच है। सन् 1957 में वनी इस स्मारक समिति के प्रत्येक साल चुनाव होते थे और पदाधीश लोगों द्वारा चुने जाते थे। वाद में यह समिति चैरिटेवल ट्रस्ट एक्ट में रजिस्टर्ड हुई और दीक्षा भूमि के सारे संचालन का कार्य करती है। यहाँ स्मारक समिति द्वारा संचालित 'डॉ० वावा साहव अंवेडकर कला, वाणिज्य और विज्ञान महाविद्यालय' है। यहाँ 'पालि भाषा प्रचार समिति' की स्थापना भी की गई थी, जिसका कार्य कुछ वर्षों तक चला लेकिन अव लगभग वन्द है।

दीक्षा भूमि पर सन् 1970 में भिक्षु निवास की स्थापना की गई और यहाँ एक सुयोग्य भिक्षु की आवश्यकता महसूस करके स्मारक समिति ने डॉ० भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी को श्रीलंका से आमंत्रित किया था। सन् 1970 से 1983–84 तक वे यहाँ रहे किन्तु स्मारक समिति और भदन्त कौसल्यायन जी में कुछ मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण उन्होंने नागपुर में ही कामठी रोड़ पर 'वुद्ध-भूमि' का निर्माण

किया। यह बुद्ध-भूमि करीव 8 एकड़ में है जिसमें भिक्षु निवास और बुद्ध विहार हैं।

भदन्त कौसल्यायन ने दीक्षा-भूमि से साहित्यिक, वैचारिक, पत्रकारिता आदि वौद्ध धर्म से संवंधित गतिविधियाँ भी शुरू की थीं। उन्होंने 'दीक्षा-भूमि संदेश' नामक पत्रिका प्रारंभ की थी। 'भिक्षु निवास प्रकाशन संस्था' की शुरूआत का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। कई पुस्तकें 'यदि वावा न होते', 'वौद्ध धर्म का एक वुद्धिवादी अध्ययन', 'राम कहानी राम जवानी' आदि भी उन्होंने छपवायीं। एक अखिल भारतीय भिक्षु सम्मेलन का आयोजन भी दीक्षा-भूमि पर किया गया। 14 अप्रैल 1972 को भदन्त कौसल्यायन ने 100 युवकों को श्रामणेर दीक्षा दी थी। इस प्रकार दीक्षा-भूमि वौद्ध धर्म के कार्यों के प्रति आज भी प्रतिवद्ध है।

दीक्षा-भूमि पर डॉ० अंवेडकर की स्मृति में एक विशाल स्तूप का निर्माण कराया जा रहा है। यह कार्य कई वर्षों से चल रहा है। अपेक्षा यह थी कि डॉ० अंवेडकर की जन्म शताव्दी 14 अप्रैल 1991 तक यह वन कर तैयार हो जायेगा पर ऐसा हो नहीं पाया है। स्तूप का मूल ढाँचा लगभग वन चुका है और अलंकरण आदि का कार्य अभी शेष है। स्तूप का आधार लगभग 200×200 फुट का है तथा इसकी ऊँचाई 100 फुट के करीव है। सन् 1971 में भदन्त कौसल्यायन जी ने दीक्षा-भूमि पर एक वोधि वृक्ष का भी रोपण किया था जो श्रीलंका से लाया गया था। आज यह वृक्ष काफी बड़ा हो चुका है।

दीक्षा-भूमि पर हर साल विजयदशमी के अवसर पर धर्मचक्र प्रवर्तन दिन के नाम से एक वड़ा समारोह/मेला लगता है, जो तीन दिन चलता है। इस अवसर पर 10 लाख से 15-20 लाख तक लोग यहाँ इकट्ठे होते हैं। देश के ही नहीं वल्कि विदेश के भी वौद्ध लोग यहाँ इकट्ठे होते हैं। इस समारोह में जापान के फुजी गुरु जी, तिव्वत के दलाई लामा तथा श्रीलंका, वर्मा, थाईलैण्ड जैसे वौद्ध देशों के भिक्षु समय-समय पर भाग लेते रहे हैं। दीक्षा-भूमि पर होने वाले इस समारोह की मुख्य विशेषता यहाँ वौद्ध धर्म-दर्शन और दलितों से संवंधित साहित्य की विक्री व प्रदर्शन है। दुनिया में जितने भी धार्मिक स्थल हैं उनमें शायद दीक्षा-भूमि ही ऐसा स्थल है जहाँ कितावों की इतनी वड़ी संख्या में विक्री होती है।

दीक्षा-भूमि के अतिरिक्त सन् 1956 के वाद नागपुर में कई अन्य वौद्ध विहारों का भी निर्माण हुआ है जो वौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के कार्य में लगे हैं।

भारत में बौद्ध धर्म के पतन के कारण

बौद्ध धर्म भारत में जन्मा, विकसित हुआ, फला-फूला तथा दूसरे देशों तक भी गया परन्तु यह अपने ही देश में आज अजनबी सा होकर रह गया है, जबकि एक समय में यह लगभग संपूर्ण भारत का प्रमुख धर्म रहा है। एक से बढ़कर एक विद्वानों ने इसके साहित्यिक व दार्शनिक महत्व को बढ़ाने में बढ़-चढ़ कर योगदान दिया तथा अपने मूल रूप में इसने सामाजिक सद्भावना, मानवता, करूणा जैसे मूलभूत सामाजिक गुणों का प्रचार व प्रसार किया। इसके भारत से लुप्त हो जाने के कारणों को भली-भाँति जानकर ही अपना मत इस विषय में प्रकट करना उचित होगा।

प्राचीन व मध्यकालीन इतिहास के ज्ञाताओं ने जिन कारणों को उजागर किया उनका बाकायदा परीक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। उनके अनुसार बौद्ध धर्म के समाप्त होने के कारणों को आन्तरिक व बाहरी दो भागों में बाँट सकते हैं। आन्तरिक कारणों में नैतिक पतन, विभिन्न संप्रदायों में विभाजन तथा उनमें परस्पर मतभेद, तन्त्र आदि क्रियाओं का समावेश तथा भिक्षु संघ व उपासकों के मध्य परस्पर संबंधों का अभाव हैं। इसी प्रकार बाहरी कारणों में शाही संरक्षण में कमी तथा शाही बाधायें, विदेशी आक्रमणों का प्रभाव, ब्राह्मणों द्वारा विरोध तथा ब्राह्मणवाद का पुनर्जागरण या एकीकरण की प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं।

सर्वप्रथम हम बौद्ध धर्म के लुप्त होने के आन्तरिक कारणों पर नजर डालेंगें। इनमें एक कारण नैतिक पतन को माना जाता है। भिक्षुओं द्वारा विवाह आदि करना, विहारों में धन-संपत्ति का संग्रह करना, राजनीति, युद्ध इत्यादि जैसे कार्यकलापों में सक्रिय भाग लेना, बौद्ध भिक्षु व भिक्षुणियों द्वारा प्रेमी-प्रेमिकाओं की मध्यस्तता का कार्य करना इत्यादि बातें उनके नैतिक पतन के विषय में कही जाती हैं। युवान-च्वांग के यात्रा वृत्तान्त, कल्हन की राजतरंगिणी, भवभूति के मालतीमाधव, दण्डी के दशकुमारचरित, कालिदास के मालविकाग्निमित्र, शूद्रक के नाटक मृच्छकटिक इत्यादि साहित्यिक कृतियों में इस प्रकार के उद्धरण उपलब्ध हैं, जो इन नैतिक पतनों को दर्शाते हैं।

दूसरा आन्तरिक कारण बौद्ध-धर्म का अनेकों संप्रदायों व मतों में बँट जाना था। परंपरानुसार अपने प्रारंभिक 200–300 वर्षों में ही अर्थात राजा अशोक के समय तक यह कम से कम 18 संप्रदायों में विभक्त हो चुका था। उनमें परस्पर खींचा-तानी चलती रहती थी। दार्शनिक मुद्दों से लेकर सामान्य रोजमर्रा की चीजों तक में भेद थे।

तीसरा महत्वपूर्ण कारण इसमें तान्त्रिक क्रिया-कलापों का समावेश था। हिन्दू धर्म की तरह अनेकों देवी-देवताओं की पूजा, रीति-रिवाज व पंचमकारों का प्रयोग जिनमें सुरा, स्त्री, इत्यादि शामिल होती थीं, के कारण हिन्दू व बौद्ध धर्म में अन्तर ही नहीं रह गया था। वज्रयान तथा शैव व शाक्त तन्त्र में अन्तर करना असंभव हो गया था।

भिक्षुओं व उपासकों के मध्य परस्पर संबंधों का अभाव भी एक कारण माना जाता है। संघ का भिक्षु-भिक्षुणियों पर तो नियन्त्रण था परन्तु उपासक वर्ग मुक्त था। बुद्ध तथा अन्य परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने भी उनके रोजमर्रा के व्यवहार के लिए किसी विधि-विधान का जिक्र नहीं किया है। फलतः उन्हें अपने प्रयोजनों जैसे जन्म, मृत्यु, विवाह इत्यादि के लिए ब्राह्मण की शरण लेनी पड़ती थी, जिससे धीरे-धीरे संघ व उपासकों के मध्य की दरार बढ़ती चली गयी।

उपरोक्त सभी आन्तरिक कारणों का बौद्ध धर्म के पतन में योगदान नहीं था ऐसा कहना अनुचित होगा, परन्तु इनके कारण ही वह भारत से लुप्त हो गया यह भी सच नहीं है। अगर नैतिक पतन की बात करें तो विश्व के किस धर्म में नैतिक पतन नहीं हुआ है। क्या वर्तमान हिन्दू धर्म वही है जो वैदिक धर्म था। क्या ईसाई, इस्लाम, यहूदी या अन्य धर्मों को भी ऐसे नैतिक पतन का सामना नहीं करना पड़ा है। अगर संप्रदाय या मतों में विभक्त होना ही मुख्य कारण होता तो लगभग अन्य सभी धर्म भी स्वयं को मतों में विभक्त होने से नहीं बचा पाये हैं। वे मत न केवल दार्शनिक धरातल पर एक दूसरे की टाँग-खिचाई करते रहे हैं, बल्कि उनमें परस्पर झगड़े तथा राजनीतिक व सामाजिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए खूनी लड़ाइयाँ तक हुई हैं और विश्व इतिहास इस बात का गवाह है। तीसरा कारण तान्त्रिक प्रवृत्तियों के समावेश का है। इसके लिए कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म भी तो इन प्रवृत्तियों के रहते हुए भी स्वयं को जीवित बनाये रख पाया है। अगला कारण संघ व उपासक वर्ग के बीच परस्पर संबंध न होने का है। यह भी पूर्णतया सत्य नहीं है, क्योंकि प्रारंभिक कुछ सौ वर्षों में इस कमी के होते हुए भी यह जन-प्रिय धर्म रहा है। उपरोक्त सभी कारण बौद्ध-धर्म के अन्य देशों में प्रचलित होने तथा आज इसको विश्व के प्रमुख धर्मों में गिने जाने से न रोक सके। जब बौद्ध-धर्म दूसरे देशों में

गया तो ये सभी कमियाँ भी उसके साथ गई थीं। तिब्वती बौद्ध-धर्म आज भी तान्त्रिक प्रवृत्तियों को अपनाते हुए भी जन-संप्रदाय में प्रचलित है। जापान में भिक्षु विवाह कर परिवार के साथ रहता है, फिर भी जापान एक वौद्ध देश है। इसी प्रकार चीन, जापान, कोरिया, श्रीलंका इत्यादि देशों में भी वौद्ध-धर्म के विभिन्न मत हैं, जो भिन्न दार्शनिक परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार उपासक वर्ग की जरूरतों को पूरा करने के लिए वहाँ के संघ ने कोई न कोई उपाय खोज ही लिये हैं।

अब वाहरी कारणों पर नजर डालने की आवश्यकता है। बौद्ध-धर्म को शाही संरक्षण का अभाव तथा शाही बाधाओं को कुछ विद्वान प्रमुख कारण मानते हैं। यह ठीक है कि बौद्ध-धर्म के विकसित होने तथा प्रचलित होने में शाही संरक्षण का काफी योगदान रहा है, परन्तु इसको पूरी तरह उस पर निर्भर मानना गलत है। अनेकों भिक्षुओं व विद्वानों ने इसको सुदूर देशों तक ले जाने का कार्य किया है। कितने ही व्यापारी समुदाय के लोगों ने तन-मन-धन से इसकी सेवा की है। इसी प्रकार विभिन्न शासनाध्यक्षों द्वारा वौद्ध धर्म के मार्ग में वाधायें भी उत्पन्न की गई थीं। पुष्यमित्र शुंग, शंशाक, हूण राजा मिहिरकुल जैसे अनेकों राजाओं ने भिक्षुओं को मरवाने, विहार, स्तूप व मंदिरों को नष्ट करने तथा अन्य तरीकों से बौद्ध धर्म को उखाड़ने की कोशिश की थी। परन्तु शाही संरक्षण या शाही बाधा किसी धर्म को कुछ समय तक प्रोत्साहित या हतोत्साहित तो कर सकते हैं परन्तु उसे समाप्त नहीं कर सकते हैं। अगर यही कारण प्रमुख होता तब तो वौद्ध धर्म अन्य देशों में भी उखाड़ गया होता क्योंकि यह कारण तो वहाँ भी था। इसके अलावा जैन, हिन्दू आदि धर्म भी कव के भारत से लुप्त हो गये होते, क्योंकि समय-समय पर उनको भी इस कठिनाई से गुजरना पड़ा है।

भारतीय विद्वानों में विशेपकर वे विद्वान जिनका झुकाव हिन्दू धर्म की ओर है, एक अन्य प्रमुख कारण विदेशी आक्रमणकारियों को मानते हैं। उनके अनुसार महमूद गज़नवी, बख्तियार खिलजी जैसों द्वारा किये गये आक्रमणों से वौद्ध-धर्म नष्ट हुआ है। इन्होंने विहारों को नष्ट किया तथा भिक्षुओं को मौत के घाट उतार दिया जिससे बौद्ध धर्म समाप्त हो गया। इस कारण को उपरोक्त विद्वानों ने मुख्य कारण माना है तथा सारा दोप इन आक्रमणकारियों के सिर मढ़ दिया। परन्तु क्या यह वास्तविकता थी। युवान-च्वांग आदि चीनी वौद्ध तीर्थ-यात्रियों के वर्णन से तथा अन्य स्रोतों से ऐसा पता चलता है कि वौद्ध-धर्म इन आक्रमणों से पहले ही मौत के कगार तक पहुँच चुका था। पूरे उत्तरी भारत में बौद्ध-धर्म लगभग उजड़ चुका था। नालन्दा, ओदन्तपुर जैसे महाविहार मात्र प्राचीन पूजनीय स्मारक वन कर रह गये थे, जिनमें भिक्षुओं की संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती थी। इस आक्रमण के उपरान्त

भी बौद्ध-धर्म बंगाल, विहार, उड़ीसा आदि में कहीं-कहीं वचा रह गया था। अगर विदेशी आक्रमण ही बौद्ध-धर्म के पतन का कारण होता तो अन्य धर्म जैसे जैन, हिन्दू, इत्यादि भी भारत में न वचे होते। ये मुश्किल तो उन्होंने भी झेली है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि इस प्रकार की वाधायें किसी भी धर्म को कुछ समय के लिए हतोत्साहित तो कर सकती हैं, समाप्त नहीं।

अव हम सवसे महत्वपूर्ण तथा अधिकतर विद्वानों द्वारा मान्य मुख्य कारण पर निगाह डालते हैं। वह कारण है ब्राह्मणों द्वारा इसका विरोध तथा उनकी एकीकरण की प्रवृत्ति। भगवान बुद्ध के समय से ही वेदों को मानने वालों ने बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति घोर नफरत का रुख अपनाया तथा यह रवैया भारत से उसके लुप्त होने तक वरावर वरकरार रहा। बुद्ध द्वारा जाति-वर्ण व्यवस्था का विरोध, सदा से जन-सामान्य पर प्रभुत्व वनाये रखने वाले ब्राह्मणों को कैसे वरदास्त होता। अपने ग्रंथों में उन्होंने तरह-तरह से इसके प्रति विरोध प्रकट किया। याज्ञवल्कय-स्मृति में कहा गया है कि एक बौद्ध भिक्षु को देखना, भले ही सपनों में, अशुद्ध है तथा उससे बचना चाहिए! वृहन्नारदीयपुराण ने ब्राह्मण के लिए, कितने ही कठिन समय में भी, एक बौद्ध के घर में प्रवेश करने को प्रमुख पाप कहा है। नाटक मृच्छकटिक में कहा गया है कि उज्जैनी में बौद्ध भिक्षु को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा उनके दर्शन को अशुभ मानते थे व यथासंभव उनसे अवौद्ध वचा करते थे। अग्निपुराण में लिखा है कि शुद्धोदन के पुत्र (बुद्ध) ने दैत्यों को बौद्ध वनने के लिए फुसलाया था। वायुपुराण का लेखक लिखता है कि "सफेद दाँत वाले, चक्षुओं पर नियन्त्रण कर, घुटे सिर तथा लाल कपड़ो में शूद्र धार्मिक कार्य करेंगे।" विष्णुपुराण बुद्ध को मोहक (सतीत्व नष्ट करने वाला) मानता है। बुद्ध मायामोह कहे गये हैं, जो संसार में राक्षसों, दानवों को ठगने (मोहित करने), अहिंसा व निर्वाण की शिक्षा देने, लोगों को रीति-रिवाज व धर्म से हटाने के लिये आये थे। मायामोह के अनुयायी अन्त में देवों द्वारा नष्ट कर दिये गये।

उपरोक्त ग्रंथों की तरह कुमारिल भट्ट व शंकराचार्य के ग्रंथ भी बौद्ध-धर्म के प्रति विद्वेष से भरे हैं। शंकराचार्य के हाथों यह बौद्ध विरोधी प्रचार तो अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। यह विद्वेष व लड़ाई केवल कलम की लड़ाई नहीं थी। कुमारिल के समय में बौद्धों के प्रति यह खूनी लड़ाई की शक्ल अख्तियार कर चुकी थी। तिव्वती तथा प्राचीन व मध्यकालीन भारतीय ग्रंथों में दी गई परंपरायें इसकी गवाह हैं। शंकराचार्य द्वारा श्रृंगेरी मठ एक बौद्ध विहार की जगह पर ही स्थापित किया गया था। तिव्वती परंपरा के अनुसार शंकराचार्य के आने पर बौद्ध विहार थर्राने लगते थे तथा भिक्षु इधर-उधर भागने लगते थे। इस प्रकार ये दोनों ब्राह्मण विरोध के सवसे प्रमुख प्रतिनिधि थे।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म या आज के हिन्दू धर्म ने, समाज में बौद्ध धर्म की नींव खोदने के साथ-साथ, ब्राह्मणवाद को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। वर्णाश्रम की पुनः स्थापना तथा गृहस्थ जीवन पर जोर देने के लिए वेदों के साथ पुराणों आदि की शिक्षा पर जोर दिया गया। क्योंकि, उदाहरण के तौर पर, देवी भागवत पुराण कहता है "औरत, शूद्र तथा द्विजवन्धु (सामान्य जन) वेद सुनने के हकदार नहीं हैं, उनके लाभ के लिए ही पुराणों की रचना हुई है।" इस प्रकार इन नव-ब्राह्मणवाद के ग्रंथों (पुराणों) ने ब्राह्मणों की स्थिति को सुदृढ़ करने, वेदों की प्रभुता सिद्ध करने तथा वर्णाश्रम के महत्व को वढ़ाने का अनेकों तरीकों से प्रयास किया। इस तरह वौद्ध-धर्म के सामान्य सिद्धान्तों की जड़ों पर प्रहार कर उसे उखाड़ा गया।

इस तरह अन्त में उन्होंने वौद्ध-धर्म को अपने अन्दर अर्थात ब्राह्मणवाद के भीतर ही समाहित कर लेनें का कार्य किया। ब्राह्मणों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वुद्ध-धर्म तो हिन्दू धर्म की एक शाखा मात्र है। इस संदर्भ में सबसे वड़ी बात तो वुद्ध को विष्णु के दस अवतारों में से एक, नौंवा अवतार, मान लेना था। मत्स्यपुराण, वराहपुराण, भागवतपुराण आदि अनेकों ब्राह्मण ग्रंथों मे वुद्ध को अवतार मान लिया गया था। इस प्रकार वुद्ध हिन्दू देवताओं में से एक वन गये तथा गया (वोध-गया) नामक स्थल जहाँ भगवान वुद्ध को वोधि प्राप्त हुई थी आज प्रमुख हिन्दू तीर्थ है। इसी तरह वौद्ध संघ की पद्धति पर शंकराचार्य ने अपने मठों को चलाया था।

इस प्रकार वौद्ध धर्म के पतन के कारणों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं अपने देश में यह इसलिए नहीं टिक पाया क्योंकि उसके चिरन्तन शत्रु ब्राह्मणों ने उसकी जड़ें ही खोखली कर दी थीं। समस्त कारणों पर नजर डालने से ब्राह्मणवाद द्वारा इसका विरोध तथा वौद्ध-धर्म को स्वयं में समाहित कर लेना ही इसके पतन के प्रमुख कारण थे। शेष कारणों का पतन में योगदान तो अवश्य रहा परन्तु उतना नहीं जितना उन्हें समझा जाता है। ऐसा इसीलिए कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों द्वारा विरोध को छोड़ कर शेष सभी कारण तो अन्य देशों में भी वौद्ध-धर्म के सम्मुख रहे ही हैं।

सहायक ग्रन्थ-सूची

अग्रवाल, वी० एस०,	*सारनाथ,* आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1980
अहिर, डी० सी०,	*बुद्धिस्ट शराईन्स इन इण्डिया,* बी० आर० पब्लिशिंग कार्पोरेशन दिल्ली, 1986
	बुद्धिज्म एण्ड अंबेडकर, अजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968
उपासक, सी० एस० (सं०)	*नालन्दा : पास्ट एण्ड प्रैजेंट,* नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार, 1977
कनिंघम, अलेग्जेण्डर,	*दी एन्शियन्ट जियोग्राफी ऑफ इण्डिया,* भारतीय पब्लिशिंग हाऊस, वाराणसी, 1976
	भिल्सा टोप्स, इण्डोलोजिकल बुक हाऊस, वाराणसी, 1966
कीर, धनन्जय,	*डॉ० अंबेडकर लाईफ एण्ड मिशन,* पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1971
कुरेशी, मोहम्मद हमीद, (घोष ए० द्वारा संशोधित) ,	*राजगीर,* आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1976
कृष्णमूर्ति, के०,	*नागार्जुनकोण्डा ए कलचरल स्टडी,* कॉसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, 1977
	अर्ली इण्डियन सैकुलर आर्किटैक्चर, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, 1977
	ग्लिंपसिस ऑफ आर्ट, आर्किटेक्चर एण्ड बुद्धिस्ट लिट्रेचर इन एन्शियन्ट इण्डिया, अभिनव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1987
	मैटीरियल कल्चर ऑफ सांची, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, 1983
खरे, महेश्वरी दयाल,	*विदिशा,* मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1985
घोष, ए०,	*नालन्दा,* डिपार्टमेंट ऑफ आर्किलोजिकल, भारत सरकार, 1959
घोष, नगेन्द्रनाथ,	*अर्ली हिस्ट्री ऑफ कौसाम्बी,* दुर्गा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985
चटर्जी, आचार्य सीताराम,	*दी कैपिटल ऑफ बुद्धिज्म सारनाथ,* ओरियण्ट पबिलशर्स, वाराणसी, 1968
दत्त, सुकुमार,	*बुद्धिस्ट मौंक्स एण्ड मौनेस्टरीज़ ऑफ इण्डिया,* जियोर्ज एलेन अनविन लि०, लन्दन, 1962

दत्त, नलिनाक्ष, *बुद्धिस्ट सैक्टस इन इण्डिया,* फर्मा के० एल० एम० प्राईवेट लि०, कलकत्ता, 1977

दत्त, नलिनाक्ष एण्ड बाजपेयी, कृष्ण दत्त, *डेवलपमेंट ऑफ बुद्धिज्म इन उत्तर प्रदेश,* पब्लिकेशन ब्यूरो, गावर्नमेंट ऑफ उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1956

दहेजा, विद्या, *अर्ली बुद्धिस्ट रॉक टैम्पल्स,* थेम्स एण्ड हडसन लि०, लन्दन, 1972

नागराजु, एस०, *बुद्धिस्ट आर्किटेक्चर ऑफ वैस्टर्न इण्डिया,* आगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1981

निगम, एम० एल०, *स्कलप्चरल आर्ट ऑफ आन्ध्र* संदीप प्रकाशन, दिल्ली, 1980

पाटिल, डी० आर०, *कुशीनगर,* आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1981

फबरी, चार्ल्स लोविस, *हिस्ट्री ऑफ दी आर्ट ऑफ उड़ीसा,* ओरियन्ट लौंगमैन लिमिटेड, लन्दन, 1974

फाऊचर, ए०, *बिगनिंग ऑफ़ बुद्धिस्ट आर्ट,* लन्दन, 1917

बर्गस, जे०, *बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया,* भारतीय पब्लिशिंग हाऊस, वाराणसी, 1974

रिपोर्ट ऑफ एलोरा केव टैम्पल्स एण्ड दी ब्राहमेनिकल एण्ड जैन केव्स इन वैस्टर्न इण्डिया, इण्डोलोजिकल बुक हाऊस, वाराणसी, 1970

दी बुद्धिस्ट स्तूपाज़ ऑफ अमरावती एण्ड जग्गय्यपेट, इण्डोलोजिकल बुक हाऊस, वाराणसी, 1970

बरूआ, दीपक कुमार, *विहाराज़ इन एन्शियन्ट इण्डिया*(ए सर्वे ऑफ बुद्धिस्ट मौनेस्टरीज़), इण्डियन पब्लिकेशन्स, कलकत्ता, 1969

बरूआ, बेणिमाधव, *गया एण्ड बोध-गया,* भारतीय पब्लिशिंग हाऊस, वाराणसी, 1975

भरहुत, इण्डोलोजिकल बुक कार्पोरेशन, पटना, 1979

बापट, पी० वी०, (सं०) , *2500 इयर्स ऑफ बुद्धिज्म,* पब्लिकेशन डिविजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फामेंशन एण्ड ब्रोडकास्टिंग, गावर्मेंट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1987

बैरेट, डगलस, *स्कल्पचर्स फरॉम अमरावती इन दी ब्रिट्रिश म्यूजियम,* दी ट्रस्टीज ऑफ दी ब्रिट्रिश म्यूजियम, लन्दन, 1954

ब्रोडले, ए० एम०, *दी बुद्धिस्टिक रिमेंस ऑफ बिहार,* भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1979

भट्टाचार्य, तरपद , *दी बोध गया टेम्पल,* फर्मा के० एल० एम० लि०, कलकत्ता, 1966

भट्टाचार्य, डी० सी०, *बुद्धिस्ट शराईन्स,* पब्लिकेशन डिविजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फारमेशन एण्ड ब्रोडकास्टिंग, गावर्मेंट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1987

भट्टाचार्य, बेनोय्तोष, *दी इण्डियन बुद्धिस्ट आईकोनोग्राफी,* फर्मा के० एल० एम०, कलकत्ता, 1958

महापात्र, चक्रधर, *दी रियल बर्थ प्लेस ऑफ बुद्ध* ग्रन्थ मंदिर, कटक, उड़िसा, 1977

मार्शल, जॉन, *दी बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ गंधार,* कैम्ब्रिज, डिपार्टमेंट ऑफ आर्किलोजी इन पाकिस्तान, यूनिवर्सिटी प्रैस, 1960

ए गाइड ऑफ तक्षशिला, इण्डोलोजिकल बुक हाऊस, वाराणसी, 1972

मार्शल, जॉन एण्ड फौचर, अल्फ्रेड, *दी मौनुमैंटस ऑफ सांची,* स्वाति पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1982

मार्शल, जॉन एण्ड अदर्स, *दी बाघ केव्स,* स्वाति पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1982

मित्तल, अमर चन्द, *एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ उड़िसा,* जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस, 1962

मित्र, योगेन्दर, *एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैशाली,* मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1962

मित्रा, देबला, *बुद्धिस्ट मौनुमेंटस,* साहित्य संसद, कलकत्ता, 1980

सांची, आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1978

मित्रा, राजेन्द्रलाल, *बुद्ध गया,* इण्डोलोजिकल बुक हाऊस, दिल्ली, 1972

मुखर्जी, पूर्ण चन्द, *एण्टीक्यूटीज ऑफ कपिलवस्तु, तराई ऑफ नेपाल,* इण्डोलोजिकल बुक हाऊस, दिल्ली, 1969

लॉ, बिमल चरण, *दी मगधास इन एन्शियन्ट इण्डिया,* भारतीय पब्लिशिंग हाऊस, वाराणसी, 1976

लौंगहर्स्ट, ए० एच०, *दी स्टोरी ऑफ दी स्तूप,* एशियन एजुकेशनल सर्विसिज़, नई दिल्ली, 1979

वाऊचोप, एस० आर०, *दी बुद्धिस्ट केव टैम्पल्स ऑफ इण्डिया,* कोस्मो पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1981

विजयटुंगा, जे०, *बोध-गया, पब्लिकेशन डिविजन,* मिनिस्ट्री ऑफ इंफारमेशन एण्ड ब्रोडकास्टिंग, दिल्ली, 1956

लुंबिनि, पब्लिकेशन डिविजन, ओल्ड सैक्ट्रीऐट, दिल्ली, 1956

वेंकटरमय्या, एम०, *श्रावस्ती,* आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1981

शर्मा, जी० आर०, *दी एक्सक्वेशन्स एट कौसांबी,* डिपार्टमेंट ऑफ एन्शियट हिस्ट्री, कल्चर एण्ड आर्किलोजी, यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद, 1960

शेअर्र, एलिस्टेर *दी ट्रैवलर्स की टू नार्दन इण्डिया,* अल्फ्रेड ए० कनोफ इन्क०, न्यूयार्क, 1983

सरकार, एच०, *स्टडीज इन अर्ली बुद्धिरट आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया,* मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1966

सरकार, एच० एण्ड नैनार, एस० पी०, *अमरावती,* आर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1980

सरकार, एच० एण्ड मिश्रा, बी० एन०, *नागार्जुनकोण्डा,* अर्किलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1980

सहाय, भगवन्त, *दी इसक्रिप्शन्स ऑफ बिहार,* रामानन्द विद्या भवन, नई दिल्ली, 1983

सांकृत्यायन, राहुल, *जेतवन-श्रावस्ती,* भारतीय महाबोधि सोसायटी, श्रावस्ती बहराईच, उत्तर प्रदेश, 1985

सिंह, विन्ध्येश्वरी प्रसाद, *भारतीय कला को बिहार की देन,* बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1958

सिंह, संघसेन एण्ड सिंह, प्रियसेन, *अंबेडकर ऑन बुद्धिस्ट कनवर्जन एण्ड इट्स इमपैक्ट,* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1990

सुब्रामनियन, के० एस०, *बुद्धिस्ट रिमेन्स इन साऊथ इण्डिया एण्ड अर्ली आंध हिस्ट्री,* कोस्मो पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1981

श्रीवास्तव, ए० एल०, *लाईफ इन सांची स्कलपचर्स,* अभिनव पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1983

श्रीवास्तव, के० एम०, *बुद्धाज़ रैलिक्स फरॉम कपिलवस्तु,* आगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1986

हार्ले, जे० सी०, *दी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ दी इण्डियन सबकानटिनैंट,* पेन्गुन बुक्स लि०, इंगलैंड, 1986

2. भरहत से प्राप्त माया के स्वप्न का दृश्य जिसमें एक सफेद हाथी उनके गर्भ में प्रवेश करते दिखाया गया है।

1. लुंबिनी, अशोक स्तंभ।

3. नागार्जुनकोण्डा से प्राप्त लुंबिनी में बुद्ध के जन्म और सात कदम चलने का दृश्य ।

4. गंधार से प्राप्त बोध-गया में बोधिसत्त्व के तप को दशार्ती प्रतिमा ।

5. बोध-गया, महाबोधि मंदिर ।

6. अजन्ता में प्रदर्शित बोध-गया में मार के आक्रमण और प्रलोभन का दृश्य ।

1. सारनाथ, एक दृश्यावलोकन।

8. अमरावती में प्रदर्शित राजगीर में बुद्ध द्वारा नलगिरि हाथी को वशीभूत करने का दृश्य ।

9. सारनाथ, बुद्ध की प्रथम धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा की प्रतिमा ।

10. साँची में प्रदर्शित, कुसीनगर में कुसिनारा के मल्लों द्वारा स्तूप भेंट देने का दृश्य ।

11. कसिया (कुसिनारा), निर्वाण स्तूप।

12. साँची, मुख्य स्तूप।

13 भरहुत से प्राप्त सांकाश्य में त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से बुद्ध के अवतरण का दृश्य ।

14. साँची में प्रदर्शित वैशाली में बन्दरों द्वारा बुद्ध को शहद भेंट करने का दृश्य ।

15. गंधार से प्राप्त श्रावस्ती के महान चमत्कार का दृश्य।

16. गंधार से प्राप्त वैशाली में आम्रपाली द्वारा बुद्ध को आम्रवन भेंट किये जाने का दृश्य ।

17. भरहुत, वेदिका का एक भाग ।

18. भरहुत में प्रदर्शित श्रावस्ती में जेतवन दान दिये जाने का दृश्य।

19. नागार्जुनकोण्डा, चैत्य का एक प्रस्तर फलक जिसमें स्तूप दिखाया गया है।

20. अमरावती, चैत्य का एक प्रस्तर फलक जिसमें स्तूप दिखाया गया है ।

21. नालन्दा, विहारों का एक दृश्य ।

22. नालन्दा, मुख्य मंदिर ।

23. रत्नागिरि, विहार का सामान्य दृश्य।

24. तक्षशिला, धर्मराजिक स्तूप।

25. रत्नागिरि, विहार का प्रवेश द्वार ।

26. पहाड़पुर, सोमपुर मंदिर।

27. कुर्किहारा से प्राप्त तारा की मूर्ति जिसके एक रूप दुर्गोतारा की मैनामति में पूजा हुआ करती थी ।

28. अजन्ता, चैत्य-गृह (गुफा सं० 19) का अग्र भाग ।

29. अजन्ता, चैत्य-गृह (गुफा सं० 26) ।

30. एलोरा, विश्वकर्मा गुफा ।

31. कार्ले, चैत्य-गृह ।

32. कार्ले, प्रवेश द्वारों के मध्य का अग्र भाग ।

33. कन्हेरी, दायक युगल (गुफा सं० 33)।

34. पिपरहवां से प्राप्त तबर्रुक-पात्र ।

35. गंधार से प्राप्त कपिलवस्तु से बुद्ध के अभिनिष्क्रमण का दृश्य ।